प्राचीन भारत की प्रशासनिक व्यवस्था में परिवर्तन की प्रक्रिया एक आलोचनात्मक अध्ययन

(मौर्यकाल से गुप्त काल के अंत तक)

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी
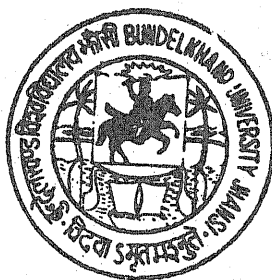
शोध (पी-एच०डी०) उपाधि हेतु इतिहास विषय
में प्रस्तुत

शोध निर्देशक
डा० के०के० शुक्ला
प्राचार्य
रा०म०स्ना० महाविद्यालय, बाँदा
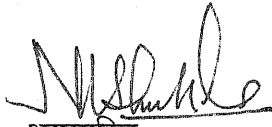
शोध छात्रा
कु० ऋतु चतुर्वेदी

शोध केन्द्र

"जवाहर लाल नेहरू स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बाँदा"

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी

प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि कु० ऋतु चतुर्वेदी ने प्राचीन भारत में प्रशासनिक व्यवस्था में परिवर्तन-एक आलोचनात्मक अध्ययन विषय पर प्रस्तुत शोध प्रबंध बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय की डॉक्टर ऑफ फिलॉसफी उपाधि हेतु मेरे निर्देशन में पं० जे०एन०पोस्ट ग्रेजुएट कालेज, बाँदा केन्द्र से निर्धारित अवधि में विश्वविद्यालय के नियमानुसार पूर्ण किया है। यह शोध प्रबंध उनके द्वारा एकत्रित किये गये तथ्यों पर आधारित है। अतः यह शोध प्रबन्ध पी-एच०डी० (Ph.D.) उपाधि हेतु मूल्यांकन अग्रसारित किया जाता है।

अग्रसारित
डा० नंदलाल शुक्ल
प्राचार्य
पं०जे०एन०पो०ग्रे०कालेज-बाँदा

निर्देशक
डा० कमला कांत शुक्ल
प्राचार्य
रा०म०स्ना०म०-बाँदा

घोषणा-पत्र

मैं / ऋतु चतुर्वेदी सुपुत्री स्व० श्री अशोक चतुर्वेदी निवासी, कटरा, बाँदा की हूँ। मैंने बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय से पी-एच०डी० उपाधि हेतु इतिहास विषय 'प्राचीन भारत में प्रशासनिक परिवर्तन एक आलोचनात्मक अध्ययन' शोध प्रबन्ध डॉ० कमलाकांत शुक्ला, प्राचार्य, राजकीय महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बाँदा के कुशल निर्देशन में पूर्ण किया है। यह मेरी मौलिक रचना है।

मैं शपथ पूर्वक यह घोषणा करती हूँ कि यह शोध प्रबन्ध किसी अन्य शोध प्रबन्ध की अनुकृति नहीं है। केवल साक्ष्य की प्रस्तुतीकरण के लिए अन्य ग्रन्थों से उदाहरण प्रस्तुत किए गए है। जिसका उल्लेख मैंने शोध प्रबन्ध में किया है।

शपथकर्त्री
ऋतु चतुर्वेदी
ऋतु चतुर्वेदी
कटरा,
बाँदा (उ०प्र०)

प्राक्कथन

मनुष्य कभी भी एक राजनीतिक प्राणी नहीं था परन्तु अपने सामाजिक एवं आर्थिक दायित्वों की पूर्ति हेतु राजतांत्रिक अथवा गणतांत्रिक सिद्धान्त पर आधारित एक संगठित शासन के प्रति समर्पित रहा। चूंकि इन सभी तंत्रों का उद्देश्य जन कल्याण था, अतः वे सभी समाज के हित में स्वीकार किये गये। राज्य अपने समस्त कार्यकलापों के लिए कुशलता से संगठित एक सुसंगठित प्रशासनिक व्यवस्था पर निर्भर होता था। यद्यपि राजनीतिक संस्था के पहलू की ओर पूरवर्ती और परवर्ती विद्वानों द्वारा पर्याप्त ध्यान दिया गया किन्तु शासन का व्यवहारिक पहलू या उसके वास्तविक प्रशासनिक व्यवस्था का क्षेत्र अत्यधिक उपेक्षित रहा, अतः इस ओर ध्यान दिया जाना आवश्यक है।

प्राचीन काल में भारत राजनीतिक दृष्टि से एक देश न होकर धर्म संस्कृति आदि का एकता यहाँ विद्यमान थी, परन्तु राजनीतिक दृष्टि से यह देश बहुत से छोटे बड़े राज्यों में विभक्त था, जिसमें अनेक विधि शासन संस्थाओं की सत्ता थी। यह भी ध्यान देने योग्य है, कि इन राज्यों में सदा एक सी ही शासन सत्ता कायम नहीं रही। अनेक ऐसे राज्यों में जिनमें गणतन्त्रात्मक राज्यों की स्थापना हुई। प्राचीन भारत में पौर जनपद नामक संस्थाओं की सत्ता अवश्य थी, परन्तु वे राज्य की केन्द्रीय संसद न होकर पूर्व संघ और जनपद संघ की स्थिति रखती थीं। परन्तु भारत के ये नगर राज्य अधिक दिनों तक कायम नहीं रहे। जनपदों के पारस्परिक संघर्ष द्वारा पहले महाजनपदों का विकास हुआ और बाद में मगध के ब्राह्द्रथ और मौर्यवंश के प्रातपी सम्राटों ने एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की। इस साम्राज्य युग में भी प्राचीन ग्राम संघों, पूर्व संघों और जनपदों संघों की सत्ता कायम रही, परन्तु केन्द्रीय शासन में किसी प्रकार की लोकतांत्रिक सभाओं की सत्ता नहीं थी।

प्रस्तुत शोध के प्रथम अध्याय (भूमिका) में मैंने प्रशासनिक व्यवस्था के परिवर्तन में सहायक ग्रन्थों, अभिलेखों आदि का विस्तृत वर्णन तथा राज्य उत्पत्ति का विविध सिद्धान्तों का वर्णन किया है।

शोध के द्वितीय अध्याय (मौर्यकाल के पूर्व प्रशासनिक व्यवस्था) में मैंने पू० वैदिक, उ० वैदिक, महाकाव्य युगीन, तथा बौद्ध एवं जैन काल की प्रशासनिक स्थिति को दर्शाया गया है। इस अध्याय में दर्शाया गया है, कि प्रथम अवस्था जनजाति सैनिक प्रजातंत्र की अवस्था थी जिनमें जनजाति सभायें युद्ध कर्म में व्यस्त रहती थी। दूसरी अवस्था वर्ण नामक समाज व्यवस्था के उदय के फलस्वरूप जनजातीय व्यवस्था के विघटन की है। इस काल में प्रारम्भिक यायावट जनजातीय ने निश्चित भू-भाग में रहना शुरु किया। जिसमें राजतंत्र कर प्रणाली और अधिकार तंत्र विकसित हुआ। तीसरी अवस्था में कोशल और मगध के विशाल प्रादेशिक राजतंत्रों तथा पश्चिमोत्तर भारत और हिमालय की तराई में जनजाति अल्पतंत्रों का उदय हुआ।

शोध के तृतीय अध्याय मौर्यकालीन प्रशासनिक व्यवस्था एवं परिवर्तन में इस काल में होने वाले महत्वपूर्ण प्रशासनिक परिवर्तनों को दर्शाया गया है। यह काल राज्य की बढ़ती हुयी आर्थिक प्रवृत्तियों

पर आधारित केन्द्रीयकृत शासन का युग था और एक विशाल चुस्त नौकरशाही ने इस केन्द्रीयकरण को संभव बनाया था। राजा को प्रायः सर्वसत्ता सम्पन्न मानने के सिद्धान्त के आधार पर जीवन के सभी क्षेत्रों पर राज्य के नियंत्रण का औचित्य ढहराया गया और राजनैतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए धर्म का उपयोग बड़ी कुशलता से किया गया।

चतुर्थ अध्याय में शुंग, सातवाहन तथा कुषाण शासन में होने वाले प्रशासनिक परिवर्तनों को दर्शाया गया है। इस काल में उत्तर भारत में नगरों, सामंतों तथा सैनिक तत्वों का जोर खूब बढ़ा। इस काल में राजा के देवत्व पर विशेष बल दिया गया। कुषाण राजाओं ने विधिवत देवपुत्र की उपाधि धारण की और मृत राजा की पूजा का प्रचलन प्रारम्भ किया। सातवाहन राजाओं की तुलना महाकाव्यों में वर्णित उन वीर चरितों से की गई जो देवताओं के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे।

पंचम अध्याय गुप्तकालीन है। गुप्तकाल को आद्य सामंती राजव्यवस्था का युग भी कहा जा सकता है। इस काल में भूमि अनुदान राजनीतिक ढॉचे की रचना में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे थे। गुप्तों के सामंतों द्वारा दिये गये भूमि अनुदानों में पुरोहित वर्ग के अनुदान भोगियों को राजस्वामिक तथा प्रशासनिक अधिकार भी प्रदान किये गये।

षष्ठम् अध्याय में प्रशासनिक व्यवस्था में सहायक सामंत वाद के उदय तथा उसके विकास और राज्य कर सम्बन्धी सिद्धान्त तथा राजकीय आय-व्यय को दर्शाया गया है।

सप्तम अध्याय निष्कर्ष है। जिसमें सम्पूर्ण शोध का संक्षेप में वर्णन किया गया है।

शोध पर्यवेक्षक के रूप में गुरुवर श्री के०के० शुक्ला प्राचार्य, राजकीय महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय (बाँदा) ने मुझे कई रूपों में उपकृत किया है, उनकी पत्नी श्रीमती शुक्ला ने भी मुझे बहुत सहयोग प्रदान किया। इसके लिए मैं उनके प्रति हार्दिक श्रद्धा निवेदित करती हूँ।

मेरे पितामह स्व०श्री सत्यनारायण चतुर्वेदी, पिता स्व० श्री अशोक चतुर्वेदी (एड०), माता श्रीमती रजनी भार्गव (प्रवक्ता-इतिहास, राज०म०स्ना०महाविद्यालय, बाँदा), श्री वीरेंद्र सिंह (बाचू अंकल), भाई सुकांत चतुर्वेदी ने मेरे इस शोध कार्य में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करते हुए मुझे शोध कार्य के लिए प्रेरित किया। इसके अतिरिक्त मुझे पुस्तकालय-पं०जवाहर लाल नेहरू स्ना०महाविद्यालय, बांदा, राजकीय महिला स्ना०महा०,बांदा, डा० हेडगेवार महा० चरखारी से अपने शोध कार्य के लिए सहायता प्राप्त हुई। इन सभी के प्रति मैं हार्दिक अभिनन्दन व्यक्त करती हूँ।

बाँदा
14.12.2005.
दिनाङ्क :

-शोध छात्रा-

ऋतु चतुर्वेदी

अनुक्रमणिका

अध्याय-प्रथम

भूमिका

अध्याय-प्रथम

भूमिका

प्रशासनिक व्यवस्था की जानकारी के स्त्रोत

प्राचीन भारत की शासन पद्धति का इतिहास वैदिक काल से आरम्भ होता है। परन्तु वैदिक काल और महाकाव्य काल का राजनैतिक इतिहास क्रमबद्ध रूप में नहीं मिलता है। चूंकि तृतीय शताब्दी ईसापूर्व से पहले के राजनैतिक इतिहास को जानने के लिए कोई विशेष ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता है, इसलिए हमें इससे पूर्व समय के प्रशासन के बारे में जानने के लिए प्राचीन साहित्यों, वेदों, ब्राह्मण ग्रन्थों, धर्मसूत्रों, धर्मशास्त्रों, पुराणों, महाकाव्यों, जैन ग्रन्थों तथा बौद्ध जातकों आदि का सहारा लेना पड़ता है। हमें इस विषय का ज्ञान कराने वाले साधन हिन्दू-साहित्य के विस्तृत क्षेत्र में मिलते है। वैदिक, संस्कृत तथा प्राकृत ग्रन्थों और इस देश के शिलालेखों तथा सिक्कों में रक्षित लेखों से हमें इस विषय की बहुत सी बातें ज्ञात होती हैं। सौभाग्य वश इस समय हमें हिन्दू राजनीतिशास्त्र के कुछ मूल ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं। ये थोड़े से ग्रन्थ उस विशाल ग्रन्थ भण्डार के अवशेष मात्र हैं, जिन्हें समय-समय पर हिन्दू भारत के अनेकानेक राजनीतिज्ञों और शासकों ने प्रस्तुत किया था।
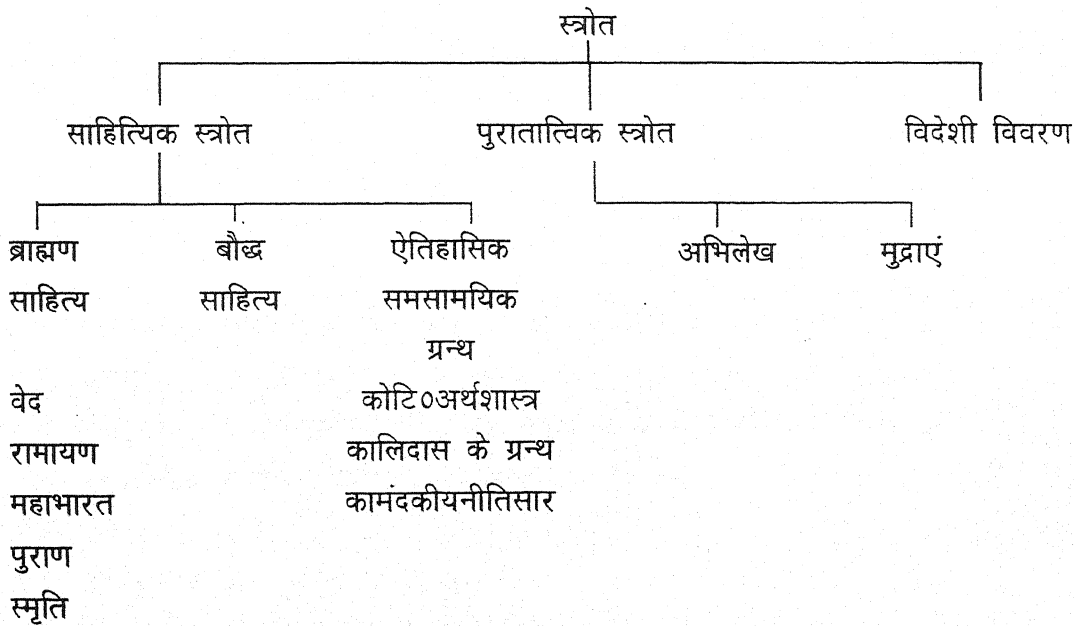
साहित्यिक स्त्रोत

(ब्राह्मण साहित्य)

साहित्यिक स्त्रोत :-

प्राचीन भारत की प्रशासनिक प्रणाली को जानने में प्रथम सहायक ग्रन्थ ''ऋग्वेद'' है। इसके अध्ययन से जानकारी प्राप्त होती है कि जब आर्यो ने भारत में प्रवेश कर सिंधुवासियों को पराजित करके अपनी शक्ति को विस्तारित किया, उस समय वे राजनैतिक दृष्टि से संगठित हो चुके थे, उनके संगठन को जन के नाम से संबोधित किया जाता था। उनके प्रत्येक जन का नाम किसी पुरुष के नाम पर रखा जाता था।[1] एक जन के सभी व्यक्ति सजात,[2] सनाभि[3] व एक ही वंश के समझे जाते थे। आर्य अपने जन को 'स्व' के नाम से संबोधित करते थे, और अन्य जनों के व्यक्तियों को अन्याभि या अरण कहते थे।[4]

इसके पश्चात कई कुटुम्ब एक ही स्थान पर निवास करने लगे, इससे उस स्थान की जनसंख्या वृद्धि होने लगी, इस कारण प्रशासनिक क्षेत्र में भी नई आवश्यकताओं की उत्पत्ति हुई। कुटुम्ब के समूह को ग्राम[5] कहा गया, तथा ग्राम के शासक को ग्रामणी।[6]

वैदिक कालीन भारत में एक 'जन' के सभी व्यक्तियों को विशः कहा जाता था।[7] ऋग्वेद से यही जानकारी भी प्राप्त होती है कि विश कोई वर्ग विशेष था,[8] तथा विश का प्रधान विश पति कहा जाता था।[9]

---

1. *विद्यालंकार सत्यकेतु, प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था और राजशास्त्र, पृ० 34.*
2. *अथर्ववेद, 3.3.5, 1/9.4*
3. *वही, 1.30.1 मेमें सनभिरुत वान्यनाभिमेमं प्रापत् पौरुषेयो वधो यः।*
4. *विद्यालंकार सत्यकेतु, प्रा०भा०शा०व्य०राज० पृ० 34.*
5. *ऋग्वेद 1.44.10*
6. *महाजन वी०डी०, प्रा०भा०इ०, पृ० 104.*
7. *विद्यालंकार सत्यकेतु, प्रा०भा०शा०व्य०राज०, पृ० 35.*
8. *ऋगवेद, 1.37.8*
9. *ऋगवेद 5.42.1*

वैदिक काल में जब जन किसी प्रदेश पर स्थायी रूप से निवास करने लगे तो वह प्रदेश जनपद या राष्ट्र के रूप में संबोधित होने लगा।[1]ऋग्वेद में देश के लिए राष्ट्र शब्द का प्रयोग हुआ है।[2]

वैदिक काल में राष्ट्र का प्रधान 'राजा' होता था। सामान्यतः राजा के पश्चात उसका पुत्र उसका उत्तराधिकारी होता था। परन्तु इसके लिए उसे विशः या प्रजा की अनुमति भी प्राप्त करनी पड़ती थी। विशः राजा का वरण करती थीं अगर राजपुत्र राजपद के योग्य होता था, तो प्रजा उसे ही राजा बनने के योग्य समझकर उसका वरण करती थी।[3] अथर्ववेद के एक मंत्रानुसार "प्रजा राज्य के लिए तुम्हें वरण करती है, सभी दिशाओं के व्यक्ति तुम्हारा वरण करते है। तुम राष्ट्र रूपी शरीर के सर्वोच्च स्थान पर आसीन रहो, और वहां रहते हुए उग्र शासक के समान सब में सम्पत्ति का विभाजन करो।[4]

वैदिक काल में राजा प्रशासनिक व्यवस्था का संचालन अकेले नहीं करता था, उसकी सहायता के लिए सभा और समिति नामक संस्था होती थी, समिति सम्पूर्ण विशः का प्रतिनिधित्व करती थी।[5] सभा और समिति के स्वरूप के विषय में पर्याप्त जानकारी अथर्ववेद से प्राप्त होती है।[6] अथर्ववेद के एक मंत्रानुसार सभा और समिति प्रजापति की पुत्रियाँ है, वे मेरी रक्षा करें। वे मुझे उत्तम शिक्षा दें, संगत में एकत्र हुए "पितर" लोग समुचित भाषण करें।[7] इससे ज्ञात होता है कि सभा और समिति दैव निर्मित संस्था होती थी, राजा निर्मित नहीं। ऋगवेद के एक मंत्र में सभेय विप्र का उल्लेख हुआ है।[8] इससे पता चलता है, कि सभा के सदस्यों को सभेय कहा जाता था। विद्यालंकार के अनुसार समिति के अध्यक्ष को ईशान कहा जाता था। यह एक छोटी संस्था थी, और इसमें विशेष व्यक्ति ही सम्मिलित होते थे। इसी सभा के द्वारा प्रधान न्यायालय का कार्य संपादित होता था।[9]

---

1. *विद्यालंकार सत्यकेतु, प्रा०भा०शा०व्य०राज०, पृ० 37*
2. *ऋगवेद, 10.124.8*
3. *विद्यालंकार सत्यकेतु, प्रा०भा०शा०व्य०राज०, पृ० 37*
4. *अथर्ववेद, 3.4.2 "त्वां विशोवृणतां राज्याय त्वामिमः प्रदिशः पंचदेवोः।*
   वर्ष्मन् राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व ततो न उग्रा विभजा वसूनि।"
5. *विद्यालंकार सत्यकेतु, प्रा०भा०शा०व्य०राज०, पृ० 42.*
6. *अथर्ववेद, 8.10.1.*
7. *अथर्ववेद, 7.1.63. सभा च मा समितिश्चावतं प्रजापतेर्दुर्हितरौसंविदाने।*
   येना संगच्छा उपमा स शिक्षाच्चारुवदानि पितरः।।
8. *ऋगवेद 1.24.13. "उतशिष्टा अनुश्रृणवन्ति वह्न्यः सभेयो विप्रो भरतेमती घना"।*
9. *विद्यालंकार, प्रा०भा०शा०व्य०राज०, पृ० 45-46.*

उत्तर वैदिक काल में पारस्परिक संघर्षो के कारण महाजनपदों का विकास हुआ। 'ऐतरेय ब्राह्मण से ज्ञात होता है, कि प्राची दिशा के राजा 'सम्राट' कहलाते हैं। दक्षिण दिशा के राजा 'भोज' कहलाते हैं। प्रतीची दिशा के शासक 'स्वराष्ट्र' कहलाते थे। उत्तर दिशा के शासक विराट कहलाते है। मध्य देश के शासक राजा कहलाते थे।[1] 'ब्राह्मण ग्रन्थों' से राजा के राज्याभिषेक के संदर्भ में पर्याप्त जानकारी प्राप्त होती है। जिससे राजसूय यज्ञ,[2] बाज पेय यज्ञ,[3] अग्निहोत्र यज्ञ आदि का पता चलता है। शतपथ ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि जो व्यक्ति राजगद्दी पर आसीन होता था, उसे रत्नियों को हवि अर्पित[4] करनी पड़ती थी। इससे पता चलता राजा के वरण की प्रक्रिया पूर्व वैदिक काल में प्रचलित थी, तथा वरण की प्रक्रिया उत्तर वैदिक काल में भी चलती रही। पूर्व वैदिक काल में चयन की यह प्रक्रिया थी, कि अगर राजा का पुत्र पद के योग्य नहीं होता था, तो किसी अन्य व्यक्ति को राजगद्दी पर विश की अनुमति से आसीन कर दिया था। परनतु उत्तर वैदिक काल में यह प्रथा आरंभ हो गई थी, कि राजा के पश्चात उसका पुत्र ही राजगद्दी पर आसीन हो।[5] राजा सभी की (जनता) सम्मति से ही राजगद्दी पर आसीन होता था, अतः उसे वैठते समय शपथ ग्रहण करनी पड़ती थी।[6] इस युग में राजा निरंकुश नहीं था। इसी कारण राजा के अभिषेक के बाद राजा की पीठ पर एक दण्ड से ध ीरे-धीरे आघात किया जाता था।[7] यह आघात इसलिए किया जाता था, कि राजा को यह याद रहे कि दण्ड के आधात है। शतपथ ब्राह्मण में इस क्रिया की व्याख्या करते हुए कहा गया है, कि दण्ड को आघात द्वारा राजा मृत्यु दण्ड से ऊपर उठा दिया जाता है। अब उसे मृत्यु दण्ड नहीं दिया जा सकता है।[8]

---

1. *ऐतरेय ब्राह्मण, 8.3.3.*
2. *शतपथ, 5.1.1.12 "राज्ञ एवं राजसूयं। राजा वै राजसूयेनेष्टवा भवति।"*
3. *वही. 5.2.1.13. "सम्राट वाजपेयेन अवरं हि राज्यं परं साम्राज्यम्।"*
4. *शतपथ ब्राह्मण, 5.2.5.1.*
5. *वही, 5.4.3.21*
6. *ऐतरेय ब्राह्मण, 8.15.,*
   (एतेनैन्द्रेण महाभिषेकेण क्षत्रियं शापयित्वा अभिषिञ्चे त स ब्रूयात् सह श्रद्धया)
   याञ्चरात्रीमजायेहं याञ्च प्रेतांस्मि तदुभयमन्तरेणे स्टापूर्त में लोकं सुकृतमायुः प्रजां वृञ्जी थाः यदि ते द्रस्येमिति"।
7. *शतपथ, 5.4.4.7. अथैनं पृष्ठ तस्तूष्णीमेव दण्डैर्घ्नन्ति।*
8. *वही, तं दण्डैर्घ्नन्तो दण्डवधमतिनयन्ति तस्माद्राजा दण्ड्नो यदेनं दण्डवधमतिनयन्ति।"*

रामायण

रामायाण से हमें कोशल राज्य की प्रशासनिक व्यवस्था के संबंध में विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है। कोशल में ऐक्ष्वाकव वंश शासन करता था, और इसी वंश के व्यक्ति ही वंशक्रम के अनुसार राज सिंहासन के अधिकारी होते थे।[1] राज सिंहासन पर ज्येष्ठ पुत्र को आसीन करने का चलन था। परन्तु उसके लिए राजा को विशः या प्रजा की अनुमति अवश्य लेनी पड़ती थी। विशः द्वारा वरण किये जाने पर ही कोई युवराज राजपद प्राप्त कर सकता था। रामायण काल में मंत्रिपरिषद के सदस्यों को 'लोकसम्मताः राजानः' कहा जाता था।[2] कोशल राज्य में एक परिषद की सत्ता थी जिसके सदस्य ब्राह्मण, प्रमुख सेनापति, पौर तथा जानपद थे।[3] चूंकि ये राज्य के प्रमुख व्यक्ति थे तथा प्रजा के प्रतिनिधि थे, इसलिए इन्हें लोक सम्मत कहा गया है।

राज्य के स्वरूप को बाल्मीकि ने सप्तांग सिद्धान्त के अन्तर्गत रखा है। बाल्मीकि के अनुसार राज्य के सात अंग है, राजा, अमात्य, जनपद, कोष, पुर, दंड और मित्र।[4] एक अन्य स्थान में हनुमान सुग्रीव से कहते हैं, कि जिसका कोष, सेना, मित्र और आत्मा ये सब समान होते हैं, उसी का राज्य महान होता है।[5]

बाल्मीकि का राजतंत्रात्मक शासन प्रणाली में ही विश्वास था। उनके अनुसार राजा के बिना राज्य संभव नहीं हो सकता। बाल्मीकि ने राजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा है, परन्तु राजा राम को दैवीय अवतार अवश्य माना है।[6]

---

1. *रामायण, अयोध्याकांड. 2.4. विदितं भवतामेतद् यथा में राज्यमुत्तमम्। पूर्वकैर्मम राजेन्द्रैः सुतवत् परिपालितम्।।4.*
2. *वहीं. 1.49.*
   अथोपविष्टै नृपतौ तस्मिन् परपुरार्दने। ततः प्रविविशुः शेषा राजानो लोकसम्मताः।। 49
3. *वही. 2.19 तस्यधर्मार्थविदुषो भावमाज्ञाय सर्वशः। ब्राह्मणा बलमुख्याश्च पौरजानपदैः सहः।।*
4. *परमात्माशरण, प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएं, पृ0 95.*
5. *रामायण, किष्किंधा कांड, 19.*
6. *परमात्माशरण, प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएं पृ0 99.*

बाल्मीकि ने राजा के अपने प्रमुख कर्तव्य धर्मपालन एवं प्रजारक्षण के निर्वाहन पर विशेष बल दिया है। रामायण में ऐसे कई श्लोक मिलते हैं, जिसमें राजा द्वारा धर्मपालन करने की बात कही गई है।[1]

रामायण काल में प्रशासन का अध्यक्ष राजा होता था। प्रशासनिक व्यवस्था के उचित संचालन के लिए प्रायः उसे सभी प्रकार के अधिकार प्राप्त होते थे। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं था, कि वह निरंकुशतापूर्वक शासन संचालन करता रहे।[2] प्रशासनिक व्यवस्था के संचालन के लिए राजा को मंत्री, पुरोहित एवं सभासदों से सहायता प्राप्त होती थी।[3] रामायण में मंत्रियों के गुणों को भी बताया गया है।[4] रामायण में मंत्रिपरिषद अथवा मंत्रिमण्डल शब्द का प्रयोग नहीं मिलता है, अपितु सभा का उल्लेख अवश्य मिलता है, जिसके सदस्य सभासद कहलाते थे। इस सभा में न्याय संबंधी कार्य सम्पादित होते थे।[5]

इस काल में मंत्रियों एवं सचिवों के अतिरिक्त सेनापति और दूत नामक प्रशासनिक अधिकारी भी होते थे।[6] जो राजा को प्रशासनिक कार्यो में सहायता देते थे। प्रशासन अनेक भागों में विभाजित था, तथा विभागाध्यक्ष तीर्थ कहलाते थे, इनकी संख्या अढारह थी।[7] इस काल में मंत्री पुरोहित एवं अमात्य अलग-अलग पद थे।[8] पुरोहित संभवतः धार्मिक कार्यो से संबंधित थे, एवं अमात्य व मंत्री पद राजनैतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण थे।

---

1. *रामायण, उत्तरकांड-प्रक्षिप्त सर्ग 2-4-6, 9.10-15.*
2. *रामायण उत्तरकाण्ड प्रक्षिप्त संग 2-36. राजा शास्ता हि सर्वस्य त्वं विशेषेण राघव।*
   त्रैलोक्य स्य भवाञ्शास्ता देवो विष्णुः सनातना।।
3. *परमात्माशरण, प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएं, पृ0 105., रामायण, बालकांड-7-1-7.9.11-13.*
4. *रामायण बालकांड, सर्ग-2.*
5. *रामायण, उत्तरकांड, प्रक्षिप्त सर्ग 2. 1-3.*
   धर्मासनगतो राजा रामो राजीवलोचनः।।1 राजधर्मानवेक्षन वै ब्राह्मणैनैगिमैः सह।
   पुरोधरता वसिष्ढेन ऋषिणा कश्यपेन च।।2 मंत्रिभिर्व्यवहारज्ञैस्तान्यैर्धर्मपाठकैः।
   नीतिज्ञैरथ सम्यैश्च राजभिः सा सभा वृता।।3.
6. *रामायण, अयोध्याकांड, 100. 30-31, 35.*
7. *वही, श्लोक 36.*
8. *रामायण, अयो0 100, 11, 15-16.*

बाल्मीकि के अनुसार राजा को न्यायपूर्वक शासन संचालन करना चाहिए। अगर राजा उचित न्याय नहीं करता, तो वह पाप भागी होता है।[1] कर ग्रहण के सम्बन्ध में रामायण से ज्ञात होता है, कि राजा को प्रजा से उपज का छटवां भाग करके रूप में ग्रहण करना चाहिए।[2]

1. परमात्माशरण, प्रा०भा०रा०वि०सं० पृ० 110
2. रामायण, अरण्यकांड, 6.11. अधर्म सुमहान नाथ भवेत् तस्य तु भूपतेः। यो हरेद् बलिषड्भागं न च रक्षति पुत्रवत्।।11

महाभारत

भारत के प्राचीन साहित्य में ''महाभारत'' का बहुत महत्व है। इस ग्रन्थ से तद्युगीन प्रशासनिक स्थिति के विषय में पर्याप्त जानकारी प्राप्त होती है। महाभारत युग में कुरु, पांचाल, चेदि, मगध आदि बहुत से राज्यों में राजतंत्र शासनों की सत्ता थी। इन राज्यों की शासन व्यवस्था के विषय में पर्याप्त जानकारी महाभारत से प्राप्त होती है। इस काल में भी राजा का प्रमुख उद्देश्य प्रजा पालन था।[1] उसके लिए यह आवश्यक था, कि वह काम, क्रोध, लोभ आदि का त्याग कर सबके प्रति समान व्यवहार करे।[2] इस काल में भी उसे राजा बनते हुए प्रतिज्ञा लेनी पड़ती थी, जिसके अनुसार वह निरंकुशतापूर्वक शासन संचालन नहीं कर सकता था, तथा उसे धर्मानुसार आचरण करना पड़ता था।[3] इस काल में द्विजों को दण्डित नहीं किया जा सकता था।[4] राजा अगर शासन धर्मानुसार नहीं करना था, तो उसे पद्च्युत भी किया जा सकता था।[5] योग्य पुरुष ही राजा बनने के योग्य होता था, तथा उसे प्रजाजनों की अनुमति लेनी पड़ती थी।[6]

महाभारत से हमें वैदिक कालीन सभा और समिति जैसी संस्थाओं के विषय में महत्वपूर्ण निर्देश नहीं प्राप्त होते हैं। राजा का वरण करने के लिए जो व्यक्ति उपस्थित होते थे, उन्हें ''पौरजानपदाः तथा ब्राह्मण-प्रमुखा वर्णाः वृद्धाः कहते थे।' इनके सदस्यों की संख्या 37 होती थी। इनमें सभी वर्णो के

---

1. *महा0शांतिपर्व, 59. 107. प्रतिज्ञां चाधिरोहस्व मनसा कर्मणा गिरा। पालयिष्याम्यहं भौमं ब्रह्म इत्येव चासकृत्।।*
2. *वही, 59.104. प्रियाप्रिये परित्यज्य समः सर्वेषु जन्तुषु। कामं क्रोधं च लोभं च मानं चोत्सृज्य दूरतः।।*
3. *वही, 107 यश्चात्र धर्मोनित्योक्तोदण्डनीतित्यपाश्रयः। तमशङ्क करिष्यामि स्ववशो न कदाचन।।*
4. *वही, 109, अदण्या मे द्विजाश्चेति वे विभो। लोकं च संकरात्कृस्नात्त्रातास्मीति परंतप।।*
5. *वही. 94 तं प्रजासु विधर्माणं रागद्वेष वशानुगम्। मंत्रपूतेः कुशैर्जघ्नुंऋषियो बह्मवादिनः।।, अवश्वमेध पर्व, 4.6-9*
6. *आदि पर्व, 85, 19-27. 30-31*

लोग उपस्थित होते थे। जिसमें 4 ब्राह्मण, 8 क्षत्रिय, 21 वैश्य, 3 शूद्र और 1 सूत था।[1] इसमें जो निर्णय होते थे, उन्हें राष्ट्र के सम्मुख भेज दिया जाता था। तत्पश्चात उन्हें ''राष्ट्रीय'' के पास भेज दिया जाता था।[2] पुरानी पद्धति के अनुसार समिति या संसद तो अब भी विद्यमान थी, परन्तु अब उसका तथा उसके भाषणों का कोई विशेष महत्व महत्व नहीं रह गया था।[3]

राष्ट्र या राज्य प्रशासन के सम्बन्ध में भी कई महत्वपूर्ण बातें महाभारत से ज्ञात होती हैं। शांतिपर्व में कहा गया है, कि प्रत्येक ग्राम में एक अधिपति की नियुक्ति की जाय। फिर क्रमशः दस, बीस, सौ और एक हजार ग्रामों के शासक नियुक्त किये जाएँ। ग्राम के शासक को ''ग्रामिक'' दस ग्रामों के शासक को 'दशिक', बीस ग्रामों के शासक को ''विंशाधिप'', सौ ग्रामों के शासक को 'शतपाल'' और हजार ग्रामों के शासक को ''सहस्त्रपति'' कहते थे।[4] जनपद के अंतर्गत जो नगर थे, उनके लिए एक-एक 'सर्वार्थ चिंतक' शासक की नियुक्ति की जाती थी।[5]

कर सम्बन्धी विषयों के लिए भी कई महत्वपूर्ण जानकारी हमें महाभारत से पता चलती है। महाभारत के अध्ययन से ज्ञात होता है, कि प्रजा से कर वसूल करते समय उदारता का परिचय देना चाहिए, अर्थात प्रजा से कठोरता के साथ कर ग्रहण नहीं करना चाहिए।[6]

---

1. *महा०शांतिपर्व, 85, 7-9. ''चतुरो ब्राह्मणान् वैद्यान् प्रगल्भान् स्नातकाञ्शुचीन।*
   क्षत्रियांश्च तथाचाष्टौ बलिनः शस्त्रःपाणिनः।।7.
   वैश्यान् वित्तेन सम्पन्नानेक विंशति संख्या।
   त्रीश्च शूद्रान विनीतांश्चशुचीन कर्मणि पूर्वके।।8.
   अष्टाभिश्च गुणैर्युक्तं सूतं पौराणिकं तथा।
2. *वहीं, 12.   ततः सम्प्रेषयेद्राष्ट्रे राष्ट्रीयाय च दर्शयेत्।12*
3. *वही, शांति पर्व, 85, 12.*
4. *वही, श्लोक 3-5, 7-8*
   ग्रामस्याधिपतिः कार्योदशग्राम्यास्तथा परः। द्विगुणायाः शतस्यौवं सहस्त्रस्य च कारयेत।।3
   ग्रामीयान् ग्रामदोषांश्च ग्रामिकः प्रतिभावयेत्। तानब्रूयाद् दशपायासौ स तु विंशातिपयावै।।4
   सोऽपिविंशत्यधिपतिर्वृत्तं जानपदे जने। ग्रामाणां शतपालाय सर्वमेव निवेदयेत्।।5
   ग्रामं ग्रामशताध्यक्षों भोक्तुमर्हति सत्कृतः।।7 शाखा नगरमर्हस्तु सहस्त्र पतिरुत्तमः।।8
5. *वही, 10, नगरे नगरे वा स्यादेकः सर्वार्थ चिन्तकः।।10*
6. *वही उद्योग पर्व, 34, 17-18*

पुराण :-

पुराण का अर्थ प्राचीन है। प्रमुख पुराण ब्रह्मा, विष्णु और शिव के नामों पर आधारित हैं। पुराण की संख्या अठारह है। जिसमें (1) ब्रह्म पुराण, (2) पद्म पुराण, (3) वायत्व पुराण या शैव पुराण, (4) भगवद् पुराण, (5) नारदीय पुराण (6) मार्कण्डेय पुराण, (7) ब्रह्म बैवर्त पुराण, (8) लैंग पुराण, (9) वाराह पुराण, (10) स्कंद पुराण, (11) गरुड़ पुराण, (12) ब्रह्माण्ड पुराण, (13) आग्नेय पुराण, (14) भविष्य पुराण, (15) वामन पुराण, (16) कूर्म पुराण, (17) मत्स्य पुराण, (18) वैष्णव पुराण[1]

पुराणों से हमें राजनैतिक विचारों का पता चलता है। वायु पुराण के दूसरे भाग में राजनीतिक व्यवस्था का वर्णन मिलता है। जिसमें हमें युगों के क्रम के विषय में जानकारी प्राप्त होती है। राजनैतिक दृष्टि से अग्नि पुराण का महत्व दूसरे पुराणों से अधिक है। इसके अनुसार एक नैतिक संघ है, जिसमें राजा (अथवा शासन) जन-कल्याण का सर्वोच्च साधन है। उसमें राजा के गुणों एवं कर्तव्यों का भी वर्णन है, और अभिषेक का वर्णन बड़े विस्तार से किया गया है। राजपुत्रों को युद्ध-कला, अन्य कलाओं और नीति शास्त्रों की शिक्षा दी जानी चाहिए। उसमें अनेक अधिकारियों-मंत्री, कोषाध्यक्ष, दूत अनेक अध्यक्षों आदि का भी उल्लेख है। इसके अतिरिक्त उसमें कर और न्याय प्रशासन के सिद्धान्त भी दिए गये हैं।

स्मृतियाँ :-

मनुस्मृति के सातवें अध्याय में राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कहा गया है, कि प्राचीन समय में इस संसार में राजा के न होने के कारण अव्यवस्था फैल गई। अतः सम्पूर्ण विश्व की रक्षा के लिए विभिन्न देवताओं का अंश लेकर ईश्वर ने राजा की उत्पत्ति की।[2]

---

1. *महाजन वी०डी०, प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० 13.*
2. *मनुस्मृति, 7, 3.4.7 अराजके हि लोकेऽस्मिन्सर्वतो विद्रुते भयात्। रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः।।3 इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणास्य च। चन्द्रवितेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः।।4*

मनु ने राज्य को ही सत्तांग माना है। मनुस्मृति में राजा, मंत्री, पुर, राष्ट्र, कोष, दंड मित्र को ही सप्तांग माना है।[1]

मनुस्मृति में राजा के गुणों व अवगुणों के विषय में भी प्रकाश डाला गया है।[2] मनुस्मृति में राजा की रक्षा के लिए कहा गया है कि वह पहाड़ी के दुर्ग में निवास करे।[3] दुर्ग को अस्त्र शस्त्रों, धन्य-धान्यों, जल, कारीगरों आदि से युक्त होना चाहिए। राजा को सभी लोगों को दण्ड द्वारा वश में रखना चाहिए। राजा को ब्राह्मणों की पूजा करनी चाहिए।[4] राजा को सेना, कोष-संग्रह और दूत के लिए अनेक अध्यक्षों की नियुक्ति करनी चाहिए, तथा नियुक्त किये गये अध्यक्षों को सभी कार्यो की देख-रेख करनी चाहिए।[5] राजा के सभी लोगों को दण्ड द्वारा वश में रखने वाला होना चाहिए।[6]

---

1. *मनुः, 9.294 स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ सुहृत्तथा।*
   सप्त प्रकृतयो ह्येताः सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते।।294.
2. *वही, 7. 37-53.*
3. *वही, 7, 71. 'सर्वेण तु प्रयत्नेन गिरिदुर्ग समाश्रयेत्। एषां हि बाहुगुणयेन गिरिदुर्ग विशिष्यते।*
4. *वही, 7.88*
5. *मनुः, 7.60.65*
6. *मनुः, 7.16 तं देशकालौ शक्तिं च विद्यां चावेक्ष्य तत्वतः। यथार्ध्तः संप्रण्येन्नरेष्ववन्यायवर्तिषु।।*

बौद्ध साहित्य :-

बौद्ध काल में राजतंत्रात्मक एवं गणतंत्रात्मक प्रशासनिक व्यवस्थायें प्रचलित थी। मगध जो कि एक शक्तिशाली राज्य था, उसने अपने साम्राज्य विस्तार के लिए अन्य अनेक राज्यों को विजित किया। मगध के समान ही अन्य अनेक जनपदों ने अन्य जनपदों को विजित कर अपनी शक्ति का विस्तार किया था। इसलिए इनकी स्थिति जनपदों के स्थान पर महाजनपदों की हो गई थी। बौद्ध ग्रन्थ अंगुत्तर निकाय में सोलह महाजनपदों की सूची प्राप्त होती है।[1] इनमें अधिकतर जनपदों में राजतंत्रात्मक शासन प्रणाली प्रचलित थी।

बौद्ध साहित्य से ज्ञात होता है, कि इस काल में राजा के अधिकार सीमित थे।[2] परन्तु कई शासक सीमित अधिकारों के साथ शासन नहीं करते थे। वे राजा अत्याचारी, क्रूर तथा प्रजा पीड़क होते थे।[3] राजसिंहासन प्राप्ति के लिए शासक को यह सिद्ध करना आवश्यक था, कि वह राजपद के योग्य है।[4]

---

1. *अंगुत्तर निकाय, 1.213, 4.252, 256.160.*
2. *फुसवेल, द जातक, 1.398*
3. *कोवेल, द जातक, 1 पृ० 180.*
4. *वही, 2, पृ० 207-215.*

ऐतिहासिक समसामयिक ग्रन्थ
"अर्थशास्त्र"

कोटिल्य के अर्थशास्त्र से हमें मौर्यकालीन प्रशासन के संदर्भ में विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र को अध्ययन करने से मौर्य साम्राज्य की केन्द्रीय प्रणाली के संदर्भ में पर्याप्त जानकारी प्राप्त होती है। मौर्यकाल में शासन के विविध विभाग होते थे, जिन्हें तीर्थ कहते थे, इनकी संख्या अठारह होती थी। जिनका वर्णन निम्न प्रकार है। अर्थशास्त्र में मंत्री, पुरोहित, अमात्य तीनों का ही उल्लेख किया गया है, तथा तीनों की योग्यताओं को भी निर्धारित किया गया है।[1] राजा गुप्त उपायों द्वारा इनकी परीक्षा भी लिया करता था।[2] जो अमात्य जिस प्रकार ली गई परीक्षा में उत्तीर्ण होता था, उसे वैसा ही विभाग दिया जाता था। राजकीय करों दुर्ग, राष्ट्र, खनि, सेतु, वन, वज्र और व्यापार सम्बन्धी कार्यो का निरीक्षण करने का कार्य समाहर्ता के अधीन होता था।[3] समाहर्ता के अधीन अनेक अध्यक्ष होते थे, शुल्काध्यक्ष, पौतवाध्यक्ष, मानाध्यक्ष, सूत्राध्यक्ष, सीताध्यक्ष, सुराध्यक्ष, सूनाध्यक्ष, गणिकाध्यक्ष, मुद्राध्यक्ष, लक्षणाध्यक्ष, आकराध्यक्ष, देवताध्यक्ष, सौवर्णिक। जनपदों के शासन का संचालन करने वाला विभाग भी समहर्ता के अधीन था।[4] राजकीय कोष का विभाग सन्निधाता के हाथ में रहता था। राजकीय आय और व्यय का हिसाब रखना सन्निधाता का ही कार्य था।[5] सेनापति युद्ध विभाग का अमात्य होता था। सेनापति को युद्ध एवं कला में पारंगत होना आवश्यक था।[6] अठारह तीर्थ में युवराज भी एक अमात्य था। राजा की मृत्यु के बाद जहां युवराज राजगद्दी का उत्तराधिकारी होता था, वहीं राजा के जीवनकाल में भी वह प्रशासनिक सहयोग प्रदान करता था। उसका तीर्थ विभाग अलग था। वह शासन कार्यो में सम्पूर्ण रूप से राजा की सहायता करता था।

---

(1) अर्थशास्त्र 1,7-8.,
(2) वही 1,9
(3) वही 2.6
(4) वही, 2,35.
(5) वही, 2.5,
(6) वही, 2.33

मौर्य काल में न्यायालय दो प्रकार के होते थे- धर्मस्थीय, कंटकशोधन। कंटकशोधन न्यायालयों के न्यायधीश को प्रदेष्टा कहते थे।[1] धर्मस्थनीय न्यायालय के प्रधान न्यायाधीश को व्यवहारिक (धर्मस्थ) कहते थे।[2]

मगध साम्राज्य में न्याय के लिए अनेक न्यायालय होते थे। सबसे छोटा न्यायालय ग्राम संस्था का होता था, तत्पश्चात दस ग्रामों का संग्रहण चार सौ ग्रामों द्रोणमुख, आठ सौ ग्राम स्थानीय के न्यायालय होते थे।[3] तत्पश्चात पाटिलपुत्र में स्थित धर्मस्थीय तथा कंटकशोधन न्याालय होते थे। इन दोनों न्ययालयों में विभिन्न प्रकार के विवाद सुलझाए जाते थे।[4] राजकीय आय-व्यय के निम्नलिखित साधन कौटि० अर्थशास्त्र में दिये गए हैं। दुर्ग- नगर से जो आय होती थी, उसे दुर्ग कहते थे।[5] जनपदों से होने वाली आय को राष्ट्र कहते थे।[6] खानों से प्राप्त होनें वाली आय को खनि कहते थे।[7] इसी प्रकार जमीन से भी राज्य को पर्याप्त होती थी।

राज्य की स्वयं की जमीन से होने वाली आय सीता तथा जो भूमि-राज्य की सम्पत्ति नहीं होती थी उससे होने वाली आय भाग कहलाती थी। इसी प्रकार मौर्य काल में तटकर भी लगाया जाता था।[8]

इस प्रकार कौटिल्य का अर्थशास्त्र मौर्यकालीन प्रशासनिक व्यवस्था की जानकारी के लिए एक महत्वपूर्ण सहायक ग्रन्थ है।

---

1. वही,4.1,
2. वही, 3.1
3. वही,
4. वही 3,4
5. वही, 2.6 शुल्कं दण्डः पौतवं नागरिको लक्षणाध्यक्षो मुद्राध्यक्षः सुरा सूना सूत्रं तैलं क्षारं सौवर्णिकः पण्यसंस्था वेश्या द्यूतं वास्तुकं कारूशिल्पगणो देवताध्यक्षो द्धारवाहि रिकादेयं च दुर्गम।
6. वही, सीता भागों बलिः करो वणिक् नदीपालस्तरो नावः पट्टनं विवीतं वर्त नी रज्जू श्चोर रजूश्च राष्ट्रम।
7. वही, 2.6
8. अर्थ० 2.22

कामन्दक नीतिसार :-

कौटिल्य के अर्थशास्त्र के बाद राज्य और शासन पर लिखे गये ग्रन्थों में कामंदकीय नीतिसार का महत्व बहुत अधिक है। कामंदक के अनुसार राज्य के सात अंग स्वामी, मंत्री, राष्ट्र, दुर्ग, कोष, सेना व मित्र।[1] कामंदक ने राज्य में राजा को सर्वोपरि माना है।[2] कामंदक ने राजा में कई गुणों का होना आवश्यक माना है।[3] राजा की सुरक्षा को लेकर कामंदक ने नीतिसार में लिखा है, कि राजा को हर समय हर परिस्थिति में अपने जीवन के लिए सावधान रहना चाहिए।

कामंदक ने राज्य कार्य की सहायता के लिए राजा के साथ-साथ मंत्रियों का भी होना आवश्यक माना है। कामंदक का कथन है, कि अमात्य व युवराज राजा की भुजा है और मंत्री नेत्र है, इनमें से एक के भी न होने से राजा विकलांग होता है'[4] कामंदक ने मंत्री की निश्चित संख्या के बारे में कुछ नहीं कहा है। कामंदक ने मंत्रियों की योग्यता को भी निर्धारित किया है। उनके अनुसार राजा मंत्री कुलीन, सूरवीर, अच्छा ज्ञानी, मित्रता के गुण से सम्पन्न, सत्यवादी इत्यादि गुणों से युक्त होना चाहिए।[5] कामंदकीय नीतिसार में पुरोहित का भी उल्लेख हुआ है। परन्तु नीतिसार में सभा अथवा परिषद का उल्लेख नहीं किया गया है।

इसी प्रकार कोष के बारे में कामंदक का कथन है कि कोष बहुत ग्रहण वाला, थोड़े खर्च वाला, धर्म से प्राप्त किया हुआ, मनचाहे द्रव्यों से भरा-भराया व सज्जनों से सेवित होना चाहिए। कोषाध्यक्ष को चाहिए कि कोष, मोती, सोना, और रत्नों से भरा हो।

न्याय के विषय में कामंदक ने लिखा है, कि राजा को उचित दण्ड का विधान करना चाहिए। कामंदक ने न्यायिक प्रक्रिया के बारे में कुछ नहीं लिखा है।

---

1. *कामंदकीय नीतिसार 4:1*
2. *वही, 1.1*
3. *वही 1.53.60*
4. *वही 17.26*
5. *वही 4.12., 25-31*

कालिदास के ग्रन्थ :-

अधिकांश विद्वानों ने कविवर कालिदास को गुप्तकाल की ही विभूति माना है। उन्होंने ऋतुसंहार, कुमारसंभव, मेघदूत, रघुवंश, माल विकाग्निमित्रम्, विक्रमोर्वशीयम तथा अभिज्ञान शांकुतुलम आदि उत्कृष्ट ग्रन्थों की रचना की। शैली एवं वर्ण विषयों के आधार पर ऋतुसंहार उनकी प्रथम रचना मानी जाती है। ऐसा अनुमान है कि कुमार संभव की रचना उन्होंने कुमार गुप्त प्रथम के जन्म के अवसार पर की थी। मेघदूत में प्रजा-रक्षक सम्राट के प्रशस्त गुणों (गोप्तुर्गुणोदयम्) का उल्लेख मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है, कि 'गोप्तुः' शब्द में गुप्त नरेशों की ओर संकेत है। गुप्तकाल एक ऐसी संस्कृति का प्रतिनिधित्व करता है जो तीन स्पष्ट धाराओं में विभाजित हो गई थी- नगर, ग्राम एवं अरण्य जीवन[1] यदि तत्कालीन नगर एवं ग्राम जीवन-भेद की जानकारी प्राप्त हो तो कालीदास के ग्रन्थों का अनुशीलन करना चाहिए। मालविका ग्निमित्रं नामक नाटक में ग्राम-नगर-भेद के विषय में बहुत अच्छा उल्लेख प्राप्त होता है।[2]

---

1. *अभिज्ञानशाकुन्तलम्, अंक 5, 11 ''महाभागः कामं नरपतिर भिन्न स्थिति रसौ*
   न कश्चिद वर्णानाम पथमपकृष्टोऽपि भजते।
   तथापीदं शेश्वरत्परिचित विवक्तेन मनसा
   जनाकीर्णं मन्ये हुतवह परीतं गृहमिव।।''
2. *मालविकाग्निमित्रम्, अंक 1. अलमुपालभ्भेन। पत्तनेसति ग्रामे रत्नपरीक्षा*

अभिलेख

(1) पुरातात्विक स्त्रोत

(2) मौर्यकालीन

भारत वर्ष में अभिलेखों का इतिहास मौर्य सम्राट अशोक के काल से माना जाता है। दुर्भाग्यवश अशोक के समय से पहले का कोई भी अभिलेख प्राप्त नहीं होता है। इसलिए यह कहा जा सकता है, कि भारत वर्ष में अभिलेखों का जन्मदाता अशोक ही था। अभिलेखों से प्रशासनिक व्यवस्था की जानकारी सिर्फ अशोक के काल से ही प्रारम्भ होती है। तथा मौर्यकालीन सम्राट अशोक के प्रशासन की मुख्यतः जानकारी भी हमें मौर्यकालीन अभिलेखों से होती है। अशोक के अभिलेखों का विभाजन निम्नलिखित वर्गो में किया जा सकता है।

(1) शिलालेख (2) स्तंभ लेख (3) गुहा लेख

अशोक के सभी अभिलेखों से उसके द्वारा धारण की जाने वाली उपाधि देवनामप्रिय, प्रियदर्शी का पता चलता है। शिलालेख षष्ठ से पता चलता है, कि मौर्यकाल में राजा प्रजा की भलाई के लिए हर समय हर संभव प्रयत्न करता था।[1] मौर्यकाल में राजा तथा प्रजा का संबंध स्वामी-सेवक का नहीं। अपितु पिता-पुत्र का होता था।[2] इस काल में राजा प्रजा का हित करना अपना कर्तव्य समझता था।

मौर्यकालीन अभिलेखों से कई प्रकार के अधिकारियों का उल्लेख मिलता है। जैसे-प्रादेशिक, राजुक, युक्त, आयुक्त, धम्म महामात्र, नगर व्यवहारिक, इथिज्झक-महामात्य (स्त्रयाध्यक्ष-महामात्र), प्रतिवेदक आदि। राजुक (रज्जुक) की नियुक्ति किसलिए की जाती थी इस विषय में चतुर्थ स्तम्भ लेख में लिखा है, कि "जिस प्रकार कोई व्यक्ति कुशल धाय के हाथ में अपने बच्चे को सौंप कर निश्चित हो जाता है, उसी प्रकार लोगों को सुख और हित पहुँचाने के लिए मैंने राजुक नामक कर्मचारी नियुक्त किये है। उन्हें पुरस्कार तथा दंड देने का अधिकार दिया है।"[3] इससे पता चलता है कि राजुक एक महत्वपूर्ण अधिकारी था, जिसका एक प्रमुख कार्य न्याय एवं दण्ड से सम्बन्धित था। युक्त नामक अधिकारी का उल्लेख तृतीय लेख में किया गया है। जिसमें इन्हें व्यय एवं संचय के लेखा-जोखा से

---

1. *वासुदेव उपाध्याय-प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन मूल लेख, शिलालेख षष्ठ, पृष्ठ-6*
2. *वही, कलिंग लेख, पृ0 11, 12, 13*
3. *वही-चतुर्थ स्तंभ लेख, पृ0 16, आयता एते पलियोवदिसंति....लजूका......आयता।*

सम्बन्धित किया गया है तथा इन्हें अमात्यों की परिषद (परिसा) के आधीन कहा गया है। तृतीय लेख में ही प्रादेशिक नामक अधिकारी का उल्लेख होता है।[1] परन्तु प्रादेशिक की वास्तविक स्थिति स्पष्ट नहीं है। अशोक के अधिकारियों में धम्म महामंत्रों का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। प्रशासन के कार्यों में सहायता के लिए इनकी नियुक्ति सर्वप्रथम मौर्यकाल में ही हुई शिला प्रज्ञापन पॉच में इनके कार्यो के विषय में बताया गया है। बार छवें शिला प्रज्ञापन में स्त्रयाध्यक्ष-महामात्र तथा व्रजभूमिक नामक अधिकारियों का भी उल्लेख होता है।[2] इन दोनों की ही स्थिति के बारे में स्पष्ट ज्ञान प्राप्त नहीं होता है। शिलालेख षष्ठ से 'प्रतिवेदक' नामक अधिकारी का पता चलता है।[3] इसी प्रकार येर्रागडी लेख से 'कारणक' अधिकारी का उल्लेख प्राप्त होता है। इस प्रकार अभिलेखों से अध्ययन से पता चलता है, कि मौर्यकाल में राजा की सहायता के लिए एक परिषद (परिषा)[4] होती थी। जिसमें इन अधिकारियों की सहायता से राजा राज्य कार्य करता था।

अशोक के अभिलेखों से पता चलता है, कि मौर्यकाल में साम्राज्य छः प्रांतों पाटिलपुत्र, कौशाम्बी, तक्षशिला, उज्जैनी, तोसाली, सुवर्णगिरि नामक प्रान्तों में विभक्त था। वहां राजकुमार प्रांतपति के रूप में शासन करते थे। कौसंविय महामात्र (कौशाम्बी स्तम्भ लेख), तोसलियं महामात्र (धौली का पृथक शिलालेख) उजेनिते पि चु कुमाले, तखशिलाते (धौली का पृथक् शिलालेख) समापायं महामता (जौगढ़ लेख), पाटीलपुत्र (सारनाथ स्तम्भ लेख), तथा सुवर्ण गिरिते अमपुतस़ महामातानं (सिद्धपुर शिलालेख)

मौर्यशासक के धर्म लेखों के अध्ययन से ज्ञात होता है, कि भारत वर्ष का अधिकांश भाग मौर्य शासन के अन्तर्गत आता था। पश्चिमी भाग में अफगानिस्तान से उड़ीसा तक तथा हिमालय की तराई से (नेपाल की तराई का रुम्मनदेई तथा कालसी के लेख) मद्रास प्रांत के येरागुडी तक मौर्य साम्राज्य के शिलालेख पाये गये हैं। इससे मौर्य साम्राज्य की सीमा निर्धारण में भी सहायता प्राप्त होती है।

---

1. *वही-शिलालेख तृतीय, पृष्ठ-4, सर्वत विजिते मंमयुता......(प्रा) देसिके*
2. *वही, शिलालेख षष्ठ, 12-9 (स्त्रिधि) यक्ष-म (ह) मत्र (व्र0) च-भूमिक*
3. *वही, शिलालेख, षष्ठ, पृष्ठ 6, सर्वत्र पटिवेदका*
4. *वही, शिलालेख तृतीय-पृष्ठ-4 परिसापियुते*

शुंग सातवाहन, कुषाण कालीन अभिलेख :-

शुंगो की प्रशासनिक व्यवस्था की जानकारी कम प्राप्त होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने मौर्यो की ही व्यवस्था को अपना रखा था। मौर्य के उत्तराधिकारी शुंगों को अयोध्या लेख में कोसलाधिप कहा गया है। अर्थात वह उत्तर कोशल का शासक था। जिसकी राजधानी अयोध्या थी। लेखों से ही पता चलता है कि शुंग काल में अश्वमेध यज्ञ करने की प्रथा प्रचलित थी। जिससे उनकी साम्राज्य विस्तार नीति का पता चलता है।[1]

सातवाहन काल में भी मौर्य के आदर्श पर ही राज्य का संगठन किया गया था। नासिक लेख में गौतमी पुत्र शातकर्णी की तुलना कई देवताओं से की गई है। इससे प्रतीत होता है कि, सातवाहन काल में राजा की दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त प्रचलित था। सम्राट प्रशासनिक व्यवस्था का सर्वोच्च अधिकारी होता था। सातवाहन लेखों में राजाओं के नाम मातृ प्रधान हैं। संभवतः प्रशासन में स्त्रियाँ (नागानिका, गौतमी बलश्री) भी महत्वपूर्ण स्थान रखती थी।[2]

सातवाहन काल में राजा की सहायता के लिए एक वर्ग होता था। यज्ञ शतकर्णी के नासिक गुहालेख में महासेना पति (महासेणापतिस) नामक अधिकारी कां पता चलता है।[3] प्रशासन की सुविधा के लिए साम्राज्य को अनेक विभागों में बांटा जाता था। जिन्हें 'आहार' कहते थे। पुलमावी के नासिक गुहा लेख में गोवर्धन आहार के विषय में सूचना मिलती है।[4] नानाघाटा गुहा लेख में ''महारढ़ी' नामक पदाधिकारी का उल्लेख प्राप्त होता है।[5]

---

1. *वही, धनदेव का अयोध्या अभिलेख-पृष्ठ 25-कोसलाधिपेन द्विरश्वमेघयाजिनः।*
2. *वही नानाघाट गुहाचित्र लेख-पृ० 29, गौतमी पुत्र शातकर्णी नासिक गुहालेख (24 वर्ष) पृ० 32*
3. *वही, पृ० -35*
4. *वही, पुलमावी नासिक गुहालेख (22 वर्ष) पृ० 34*
5. *वही, नानाघाट गुहालेख, पृ० 30।*

कुषाण प्रशासन के विषय में बहुत कम जानकारी प्राप्त होती है। लेखों में कुषाण शासकों के लिए 'महराजराजाधिराज देवपुत्र' की उपाधियां दी गई है।[1] दैवपुत्र उपाधि से प्रतीत होता है कि कुषाण काल में राजा अपनी दैवीय उत्पत्ति के सिद्धान्त में विश्वास करता था। राजाधिराज उपाधि से पता चलता है, कि कुषाण राजाओं के आधीन कई छोटे-छोटे राजा शासन करते थे, प्रयाग लेख से पता चलता है, कि कुषाण सम्राट दैवपुत्र के अतिरिक्त 'षाहि' तथा 'षाहानुषाहि' की उपाधियां भी धारण करते थे।[2] षाहि तथा षाहानुषहि उपाधियों से प्रशासन में सामंतीकरण की प्रक्रिया के आरम्भ का आभास मिलता है। क्योंकि षाहि सामंत तथा षाहानुषाहि स्वामी सूचक उपाधि है।

इन बड़ी-बड़ी उपाधियों से आभास होता है, कि कुषाणु शासक अपने विस्तृत साम्राज्य के निरंकुश शासक होते थे। प्रशासन की सुविधा के लिए कुषाणु काल में साम्राज्य को अनेक क्षत्रीपियों में विभक्त किया जाता है। बड़ी क्षत्रपी के शासक को महाक्षत्रप तथा छोटी क्षत्रपी के शासक को क्षत्रप कहा जाता था।[3]

कनिष्क के लेखों में किसी भी सलाहकारी परिषद का उल्लेख नहीं मिलता है।

---

1. *वही, कनिष्ठ का स्यूविहार ताम्रपत्र-पृ0 38, 'महरजस्य रजतिरजस्य देवपुत्रस्य'*
2. *वही, समुद्रगुप्त प्रयाग प्रशस्ति, पृ0 48, श्लोक संख्या-23.*
3. *उपाध्याय वासुदेव, कनिष्क का सारनाथ प्रतिमा लेख। 'महाक्षत्रपेन खरपल्लानेन सहा क्षत्रपेन वनष्परेन'।*

गुप्तकालीन अभिलेख

गुप्तकालीन प्रशासनिक व्यवस्था को ज्ञात करने के लिए हमें अभिलेखों से महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है।

प्रयाग प्रशस्ति -

इस स्तम्भ पर उत्कीर्ण प्रशस्ति की रचना ध्रुवभूति के पुत्र हरिषेण ने की थी। हरिषेण स्वयं महामात्य, खाद्यटपाकिक, संधि विग्रहिक तथा महादंड नायक के पदों पर आसीन था।

प्रयाग प्रशस्ति से ज्ञात होता है, कि गुप्तकाल में लोकतंत्रात्मक तथा राजतंत्रात्मक प्रकार की शासन व्यवस्था प्रचलित थी। प्रशस्ति में मालव, अर्जुनायन, यौधेय, मद्र, आभीर, प्रार्जुन, सनकानिक, काक और खर्परिक नामक जन राज्यों का उल्लेख मिलता है।[1] इन जन राज्यों के प्रति गुप्त शासक द्वारा अपनाई नीति का प्रशस्ति से पता चलता है। प्रशस्ति में राजतंत्रात्मक राज्यों की एक लंबी सूची दी गई है, जिसमें अच्युत, नागसेन, गणपति नाग, कोतकुलज, कोसल, महाकांतार, कौरल, पिष्टपुर, कोट्टूर, एरण्ड पल्ल, काँची, अवमुक्त, वेंगी, पालक, देवराष्ट्र, कौस्थलपुर, रुद्रदेव, मत्तिल, नागदत्त, चन्द्रवर्मन, नंदिबलवर्मन हैं।[2]

प्रशस्ति के अध्ययन से ज्ञात होता है, कि इस काल में शासक के दैवीय उत्पत्ति का सिद्धान्त पूर्ववर्ती काल की अपेक्षा अधिक व्यापक रूप में स्थित हो गया था। गुप्त सम्राट की तुलना प्रयाग लेख में बार-बार यम, वरुण, इन्द्र, कुबेर आदि से की गई है।

इस प्रशस्ति से गुप्तकालीन उत्तराधिकार संबंधी नियमों के विषय में प्रकाश पड़ता है। प्रशस्ति से ज्ञात होता है, कि सत्तारूढ़ शासक योग्यतानुसार अपने पुत्रों को अपने जीवन काल में ही अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर देता था।[3] निर्वाचन में ज्येष्ठता का आधार प्रमुख नहीं था। इसी प्रशस्ति में एक विचारणीय शब्द सभा[4] का उल्लेख हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है, कि शासन के उत्तराधिकारी के मनोनयन पर यह सभा अपनी स्वीकृति प्रदान करती थी।

---

1. *उपाध्याय वासुदेव, प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, द्वितीय खंड, प्रयाग प्रशस्ति, श्लोक सं० 22, पृ० 48.*
2. *वही, श्लोक सं० 19-21.*
3. *गुप्त परमेश्वरी लाल, गुप्त साम्राज्य, प्रयाग प्रशस्ति, श्लोक सं० 7, पृ० 5.*
4. *वही, प्रयाग प्रशस्ति, श्लोक सं० 7.*

अभिलेख से ज्ञात होता है, कि गुप्त काल में राजा की सहायता के लिए अनेक मंत्री होते थे। इस प्रशस्ति से कुमारमात्य, महादंण्ड नायक, संधिविग्रहिक, खाद्यटपाकिक नामक पदों के विषय में जानकारी प्राप्त होती है।[1]

नालंदा, गया ताम्रपत्र लेख :-

इन ताम्र पत्रों से गुप्तकालीन प्रशासनिक इकाई 'विषय' के बारे में पता चलता है। इन दोनों ताम्रपत्रों से ग्राम नामक प्रशासनिक इकाई के संदर्भ में भी प्रकाश पड़ता है। इन ताम्र पत्रों में वलत्कौशन का उल्लेख हुआ है। इन ताम्रपत्रों में कहा गया है कि "आप (वलत्कौशन तथा अन्य) लोगों को ज्ञात हो कि अपने माता-पिता तथा अपने पुण्य की अभिवृद्धि के लिए मैंने इस ग्राम को उपरिक सहित अग्रहार स्वरूप..... को दिया है। अतः आप उनकी ओर ध्यान दें और उनके आदेश का पालन करें और जो ग्राम का हिरण्य आदि प्रत्याय है वह उन्हें दिया जाय।"[2] इससे प्रतीत होता है, कि वत्कौशन-भूकर अधिकारी था और उसका प्रमुख कार्य आय संचय करना था। वह ग्राम को प्राप्त होने वाली सुविधाओं की भी देखभाल करता था। नालंदा लेख में अक्षपटलिक, महापीलूपति नामक अधिकारियों का उल्लेख प्राप्त हुआ है।[3]

'उदयगिरि गुहा लेख' में एक लेख अंकित मिलता है। इस लेख में एक सनकानिक महाराज (सनकानिकस्य महाराज) का उल्लेख प्राप्त होता है। इन सनकानिक का उल्लेख सर्वप्रथम प्रयाग-प्रशस्ति की गणराज्यों की सूची में मिलता है। इससे ज्ञात होता है, कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समय गणराज्यों के प्रधान स्वयं को महाराज रूप में संबोधित करने लगे थे।[4]

कुमार गुप्त के 'दामोदरपुर ताम्र लेख' से ज्ञात होता है, कि प्रशासनिक सुविधा के निमित्त राज्य को प्रांतों में विभक्त किया जाता था। जिसे भुक्ति कहते थे। भुक्ति में राजा उपरिक की सहायता से

---

1. *वही श्लोक सं0 32, पृ0 7.*
2. *उपाध्याय वासुदेव, प्रा0भा0अ0अ0, श्लोक सं0 5, पृष्ठ 50.*
3. *वही, श्लोक सं0 11.*
4. *वही, श्लोक सं0 2, पृ0 51.*

शासन संचालन करता था। प्रत्येक प्रांत (भुक्ति) को सुविधानुसार कई विषयों (जिलों) में विभक्त किया जाता था। विषय के प्रधान नगर के कार्यालय को अधिष्ठानाधिकरण कहते थे। विषय पति की सहायता के लिए स्थानीय समिति होती थी। इस समिति की बैठक विषय के कार्यालय अधिष्ठानाधिकरण में संपादित होती थी। इसमें चार स्थानीय सदस्य होते थे। उसका पहला सदस्य नगर श्रेष्ठी, दूसरा सदस्य सार्थवाह, तीसर सदस्य प्रथम कुलिक तथा चौथा सदस्य प्रथम कायस्थ कहलाता था।[1] इसी अभिलेख से 'पुस्तपाल' नामक अधिकारी का पता चलता है।

'कुलाईकुरी ताम्र लेख में पुण्ड्रवर्धन विषय के अंतर्गत श्रृङ्गवेर वीथिका उल्लेख है। इस लेख में वीथि के शासक का उल्लेख आयुक्तक नाम से मिलता है तथा वह अपने अधिकार क्षेत्र पर शासन एक परिषद की सहायता से करता था, जिसके सदस्य वीथि-महत्तर और कुटम्बिन होते थे।[2]

'जूनागढ़ प्रशस्ति' से गुप्त साम्राज्य के अंतर्गत संभवतः सबसे बड़ी इकाई 'देश' का नाम प्राप्त होता है। देश के प्रशासक को गोप्ता कहते थे।[3]

---

1. *उपाध्याय वासुदेव, प्रा०भा० अ०अ०, पृ० 55-56.*
2. *गुप्त परमेश्वरी लाल, गुप्त साम्राज्य, पृ० 26.*
3. *उपाध्याय वासुदेव, प्रा०भा०अ०अ०, श्लोक सं० 6, पृ० 63 'सर्व्वेषु देशेषु विषाय गोप्तृन्'*

सिक्के

प्रशासनिक व्यवस्था की जानकारी के लिए पुरातात्विक सामाग्रियों में सिक्के (मुहरें) भी उतनी ही महत्वपूर्ण हैं जितने कि अभिलेख। मुद्राओं का महत्व इसलिए भी अधिक होता है, क्योंकि इनमें किसी सम्प्रदाय विशेष या किसी मत विशेष का पक्ष लेकर पक्षपातयुक्त तथ्य का सम्पादन नहीं होता है, अर्थात ये निष्पक्ष होती हैं। ये पूर्णतया राजकीय होती है, इनमें जो कुछ भी सूचना प्राप्त होती है, उस पर काफी हद तक विश्वास किया जा सकता है। इनकी एक अन्य विशेषता यह है, कि ये राजाओं की वंश परम्परा का बोध कराती है। तिथि एवं नामयुक्त मुद्राओं का भी इस क्षेत्र में अत्यधिक महत्व है। इससे हमें इतिहास की उलझी हुई गुत्थियों को समझने में मदद मिलती है। मुद्राओं की एक अन्य विशेषता यह है, कि इनमें राजाओं के साम्राज्य-विस्तार का ज्ञान प्राप्त होता है। मुद्राओं पर पाई जाने वाली उपाधियों से राजाओं की शक्ति सम्पन्नता के विषय में पता चलता है।

वैदिक काल, महाकाव्य काल तथा मौर्य काल की कोई भी अभिलेखीय मुद्रा प्राप्त नहीं होती है। 'कुषाण काल' में स्वर्ण मुद्राएं प्राप्त हुई हैं, जिसमें वीमकदफिस की स्वर्णमुद्रा में उसका नाम युनानी लिपि से तथा दूसरी ओर उसकी उपाधि खरोष्ठी लिपि में लिखी हैं।[1] इसी प्रकार कनिष्क की मुद्रा में यूनानी लिपि से 'शाओं नानो शाओ कनिष्को कुशानों' तथा हुविष्क के मुद्रा लेख में ''शाओ नानो शाओ ओइष्कि कोशानो लिखा मिला है।[2]

इस प्रकार कुषाणकालीन सिक्कों पर उत्कीर्ण उपाधियों से राजपद पर, तथा विशेषतयः उसके दैवी पहलुओं पर प्रकाश पड़ता है।

गुप्तकालीन सिक्कों से प्रशासनिक विषय पर विस्तृत जानकारी नहीं प्राप्त होती है। फिर भी उन पर उत्कीर्ण उपाधियों[3] से राजत्व का स्वरूप निर्धारित किया जा सकता है। वैशाली से प्राप्त मुहरों पर युवराजपादीय कुमारामात्याधिकरणस्य, श्री परम भट्टारक पादीय कुमारामात्याधिकरणस्य,

---

1. वासुदेव उपाध्याय-मूल लेख-सिक्कों पर उत्कीर्ण लेख, पृ० 223.
   बेसिलियस ओयो कदफिसेस-महरजस रजदिरजस.......कथ्फिशस त्रतरस।
2. *वही।*
3. *वही, पृ० 224.*

श्री युवराज भट्टारक पादीय बलाधिकरणस्य, तिराभुक्तौ विनय स्थिति, संस्थायकाधिकरणस्य, तिराकुमारामात्याधिकरणस्य, महाप्रतिहार तरवर विनय सुरस्य, श्रेष्ठी सार्थवाह कुलिक निगमस्य, रणभाण्डागारधिकरणस्य, महादंडनायक अग्नि गुप्तस्य, वैशाल्यामर प्रकृति कुटुम्बिनाम् लिखा मिलता है। जिससे गुप्त शासकों द्वारा धारण की जानें वाली उपाधियों व प्रशासनिक व्यवस्था के विषय में थोड़ी बहुत जानकारी अवश्य प्राप्त होती है।

गुप्तकाल से भारतीय मुद्रा के इतिहास में नव-युग का प्रारम्भ होता है। इन नरेशों की मुद्राएं, सोने, चॉदी और तॉबे की बनी है, तथा पश्चिम में गुजरात से लेकर पूर्व में बंगाल तक विभिन्न केन्द्रों से उपलब्ध हैं। उनका प्राप्ति स्थान इस बात का परिचायक है कि यह विशाल भू-भाग उनके अधिकार क्षेत्र में सम्मलित था। इन मुद्राओं के द्वारा कुछ विशिष्ट घटनाओं के विषय में भी सूचना मिलती हैं। उदाहरणार्थ एक स्वर्ण मुद्रा के मुख भाग पर चन्द्रगुप्त प्रथम तथा उसकी पत्नी कुमार देवी का चित्र और पृष्ठ भाग पर लिच्छवयः शब्द उत्कीर्ण है। इससे ज्ञात होता है, कि इस सम्राट के शासनकाल में गुप्तों और लिच्छवियों के मध्य वैवाहिक संबंध की स्थापना हुई थी। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की रजत मुद्राएं शक-मुद्राओं के आदर्श पर ढाली गयी थी, जिससे निष्कर्ष निकलता है, कि उसने शकों को परास्त किया था। इन मुद्राओं के द्वारा गुप्त नरेशों की शक्ति, समृद्धि तथा साम्राज्य की महानता के विषय में सूचना प्राप्त होती है। स्थानाभाव के कारण सिक्कों पर बहुत अधिक बातें अंकित नहीं की जा सकती, फिर भी उन पर जो अंकित है, वह प्रशासनिक स्थिति की जानकारी के लिए महत्वपूर्ण है।

विदेशी विवरण :-

सामाग्री के स्त्रोतों का सर्वेक्षण तब तक पूर्ण नहीं होगा जब तक यूनानी और चीनी विवरणों का हवाला नहीं दिया जाए। इनमें प्रशासन पद्धति से सम्बन्धित कई महत्वपूर्ण तथ्य विद्यमान हैं। सिकन्दर का उल्लेख भारत के समसामयिक स्त्रोतों में नहीं मिलता है, परन्तु उसके काल में यूनानी इतिहासकारों ने उसके भारतीय अभियान के विस्तृत व्यौरे रख छोड़े है।। इनमें से कुछ में उन राज्यों के आंतरिक गठन का वर्णन है जिनके साथ पंजाब और सिंध में मुकाबला हुआ। चूंकि यूनान में नगर राज्यों का प्रचलन था, इसलिए यूनानी लेखक कुछ राज्यों को नगर राज्य की पद्धति पर गठित बताते हैं। फिर भी एक मात्र उसी का विवरण ऐसा है जिसका काल निश्चित है। चूंकि कौटिलीय 'अर्थशास्त्र' का काल निर्धारण संदेह से परे नहीं है, इसलिए मेगस्थनीज से दिए गए उद्धरण ही मौर्य साम्राज्य के संस्थापक के प्रशासन के संदर्भ में हमारी जानकारी के एकमात्र निश्चित और प्रत्यक्ष स्त्रोत हैं। इन उद्धरणों में राजा की दिनचर्या, पार्षदों के मुख्य कार्यो और साथ ही सिंचाई आदि कार्यकलापों पर नियंत्रण रखने वाले दंडाधिकारियों (मजिस्ट्रेटों) के प्रमुख दायित्वों का भी वर्णन है। इसमें पाटलि पुत्र का नगर प्रशासन और साम्राज्य के सैन्य संगठन का खाका तथा साथ ही राजतंत्र के पतन और लोकतंत्री राज्यों के उत्थान से सम्बन्धित अनुश्रुतियां अभिलिखित हैं।

गुप्तकाल की जानकारी के लिए चीनी यात्री 'फाहियान' का वर्णन उपयोगी है। यद्यपि फाहियान भारत में बौद्ध धर्म की स्थिति का पता लगाना चाहता था, फिर भी प्रशासन संबंधी कुछ बातों का उल्लेख उन्होंने किया है। फाहियान ने चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासनकाल में भारत की यात्रा की और अपने विवरण में उसने मध्य देश, अर्थात आधुनिक उत्तर प्रदेश और पश्चिमी बिहार की शासन प्रणाली की चर्चा की है। उसने राजा के परिचरों और अंगरक्षकों को वेतन देने की रीति भी बताई है। फाहियान ने अपने समकालीन भारतीय नरेश की प्रचुर प्रशंसा की है। उसके अनुसार यह सम्राट ब्राह्मण मतावलंबी था। उसके समय में प्रज्ञा को कष्ट नहीं उठाना पड़ा था तथा दुर्भिक्ष, क्रांति अथवा अराजकता कभी नहीं हुई थी।[1]

---

1. *लेग्गे, फाहियान, पृ0 104.*

शारीरिक दण्ड अथवा मृत्युदंड नहीं दिया जाता था। अपराधियों से प्रायः अर्थदण्ड वसूल कर उन्हें छोड़ दिया जाता था। सम्राट के विरुद्ध षड्यन्त्र करने पर अभियुक्त का केवल दाहिना हाथ काट लिया जाता था, परन्तु उसे मृत्युदण्ड नहीं दिया जाता था।[1]

परन्तु इस चीनी यात्री ने उतने विस्तृत रूप से व्यवस्था का वर्णन नहीं किया, जितना अन्य यात्रियों ने किया है।

---

1. *वही, 42-43.*

राज्य की उत्पत्ति

अराजक दशा और राज्य की उत्पत्ति :-

महाभारत में राज संस्था के प्रादुर्भाव पर बड़े विस्तार से विचार प्रस्तुत किया गया है। इसके अनुसार राज-संस्था से पूर्व 'अराजक' स्थिति थी और इसके बाद ही राज्य की उत्पत्ति हुई। इस अराजक दशा के विषय कुछ विचार महाभारत से मिलते हैं। इन विचारों के अनुसार युद्धिष्ठिर ने भीष्म से प्रश्न किया ''इस पृथ्वी पर जो 'राजा' शब्द प्रचलित है। इसकी उत्पत्ति किस प्रकार हुई। राजा का सम्पूर्ण शरीर अन्य दूसरे मनुष्यों के समान होता है, परन्तु किस प्रकार वह अन्य श्रेष्ठ पुरुषों के ऊपर आधिपत्य स्थापित करता है। उसके प्रसन्न और व्याकुल होने पर क्यों सभी प्रसन्न और व्याकुल होते हैं।[1]

भीष्म ने उत्तर दिया- एक समय ऐसा था जब राज्य, राजा, दंड और दंडकर्ता नहीं थे। उस समय धर्मानुसार समस्त प्रजा पारस्परिक रूप से रक्षा करती थी। सभी एक दूसरे का धर्मपूर्वक पालन करते थे। परन्तु वाद में उन्होंने इस कार्य को त्याग दिया। इससे उनका चित्त भ्रमित होने लगा। चित्त भ्रमित होने के कारण उनके धर्म कार्य नष्ट होने लगे। तत्पश्चात वे मोह और लोभ के वशीभूत हो गए। लोभ के कारण उनमें कई अन्य दोषों की उत्पत्ति हुई। इससे धर्म का भी नाश हुआ। यह स्थिति अत्यन्त भयावह थी। त्रस्त मनुष्य ब्रह्मा की शरण में गए, और उनसे इस दशा से बचाव का उपाय पूंछा।[2] तब ब्रह्मा ने उन्हें दण्डनीति का उपदेश दिया, और इस दण्डनीति के अनुसार राज संस्था, राजा तथा अन्य कर्मचारियों की नियुक्ति हुई।

---

1. *महाभारत शांतिपर्व- 58, 5-12*
2. *महाभारत शांतिपर्व, 58, 14-22*

महाभारत के इस संदर्भ के अनुसार दण्डनीति व राजसंस्था के उदय से पूर्व जो अराजक स्थिति थी, वह आदर्श थी क्योंकि तब सभी मनुष्य धर्मानुसार आचरण करते थे। परन्तु यह स्थिति अधिक देर तक नहीं रह सकी। यह स्थिति क्यों नहीं रह सकी इसे पहले स्पष्ट किया जा चुका है। परन्तु जब दैन्य (उपयोग योग्य पदार्थो की कमी) हो गयी तो लोगों में अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करने की प्रवृत्ति हुई। इससे लोभ, मोह, काम, राग आदि उत्पन्न हुए। इसका परिणाम यह हुआ कि उनके लिए धर्म द्वारा एक दूसरे का पालन करना संभव नहीं रहा। इस स्थिति से मनुष्यों से त्रास (भय) उत्पन्न हुआ। जिसके कारण ब्रह्म की शरण में जाकर उन्होंने इस दशा से मुक्ति का उपाय पूंछा। तब ब्रह्मा ने उन्हें दण्डनीति का उपदेश दिया, इस दण्डनीति के अनुसार राजा और राज संस्था की उत्पत्ति का जिस ढंग से प्रतिपादन किया है, उसमें ब्रह्मा स्वयं राज्य या राजा का प्रादुर्भाव नहीं करता। उसके द्वारा नीतिशास्त्र का उपदेश दिया जाता है। राजा और राज संस्था इन नीतिशास्त्र के ही आधीन है, तथा इसी नीतिशास्त्र के अनुसार ही उसे कार्य करना है।

राज्य की उत्पत्ति के विभिन्न सिद्धान्त

वैदिक युग में राज्य की उत्पत्ति तथा उसके क्रमिक विकास का स्पष्ट उल्लेख वैदिक साहित्य से प्राप्त नहीं होता है। परन्तु फिर भी वैदिक साहित्य से प्रसंग वश वह सामग्री प्राप्त होती है। जिसके अध्ययन से वैदिक आर्यो द्वारा राज्य उत्पत्ति के सिद्धान्तों का पता चलता है। उनके अनुसार राज्य उत्पत्ति के चार सिद्धान्त थे, युद्ध द्वारा राज्य की उत्पत्ति का सिद्धांत, दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त, अनुबंध सिद्धांत, विकास सिंद्धांत।

ऐतरेय ब्राह्मण से ज्ञात होता है, कि युद्ध की आवश्यकताओं द्वारा विवश होकर राजा का प्रादुर्भाव हुआ। इसमें लिखा है- 'देवताओं व असुरों में युद्ध हो रहा था, एक समय असुरों ने देवताओं को परास्त कर दिया। इससे देवताओं ने अपने पराजित होने की जिम्मेदारी स्वयं को किसी राजा से विहीन होने पर मानी। इससे देवताओं ने किसी को राजा बनाना स्वीकार किया।[1] इस सिद्धान्त से पता चलता है, कि युद्ध की आवश्यकताओं द्वारा विवश होकर ही राजा तथा राज संस्था की उत्पत्ति हुई। वर्तमान समय के विचारक भी राज्य के विकास में युद्ध को एक महत्त्वपूर्ण तत्व मानते हैं। प्रारम्भिक दशा में मनुष्य का जीवन शांतिपूर्ण नहीं था। उसे अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति की रक्षा के लिए निरंतर संघर्षशील रहना पड़ता था। युद्ध को सुचारू रूप से संचालित करने के लिए किसी योग्य नेतृत्व की आवश्यकता पड़ती थी। युद्ध की इसी आवश्यकता ने टोलियों, कबीलों में एक ऐसे नेता का प्रादुर्भाव किया, जिसमें योग्यता, बल तथा साहस व कुशलता से युद्ध का संचालन कर सकने की योग्यता हो। लोग शांति के समय में भी अपने उस नेता के आदेशों का पालन करते थे।

---

1. *परमात्माशरण, प्रा०भा०रा०वि०सं०, पृ० 302.*

राज्य उत्पत्ति के दैवीय सिद्धान्त भारत के प्राचीन ग्रन्थों में विद्यमान मिलते हैं। इन ग्रन्थों से पता चलता है, कि राजा किस प्रकार ईश्वरीय अधिकार प्राप्त करके राज्य पर शासन करता था। महाभारत से राजा के दैवीय उत्पत्ति के सिद्धान्त का पता चलता है। शांतिपर्व में उल्लखित हैं, कि 'एक बार सभी देवता भगवान विष्णु के पास गए, और उनसे पूंछा कि मनुष्यों में ऐसा कौन श्रेष्ठ व्यक्ति है जो उच्च स्थान प्राप्त कर सकता है। तब भगवान विष्णु ने मानस पुत्र विरजन उत्पन्न किया, जिसके पुत्र भविष्य में राजा बने।[1] इस कथा में भगवान विष्णु द्वारा मनुष्यों के लिए राजा का निर्धारण किया जाना सूचित होता है। मनुस्मृति के अनुसार 'संसार की रक्षा के निमित्त ही प्रभु ने राजा को बनाया।[2] ईश्वर ने राजा का निर्माण इंद्र, अग्नि, यम, सूर्य, वायु, वरुण, चन्द्र और कुबेर नामक देवताओं से अंश लेकर किया है।[3] मनुस्मति में ही कहा गया है, कि यदि कोई बालक भी राजा हो तो यह समझकर उसका अपमान नहीं करना चाहिए कि वह तो अभी बालक ही है, वह नर के रूप में 'महती देवता' ही होता है।[4]

इस प्रकार प्राचीन ग्रन्थों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है, कि प्राचीन काल में राजा के दैवीय उत्पत्ति का सिद्धान्त प्रचलित था।

राज्य उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो सिद्धान्त प्राचीन भारत में सर्वाधिक प्रचलित थे उसे सामाजिक समझौते के नाम से जाना जा सकता है। इस सिद्धांत के अनुसार राज संस्था की उत्पत्ति से पहले जो

---

1. *महाभारत शांतिपर्व, 59. 87-92.*
2. *मनु, 7.3. अराजके हि लोकेऽस्मिन्सर्वतोविद्रुते भयात।*
   रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृ जत्प्रभुः।।
3. *मनु, 7.4-7.*
4. *मनु, 7.8 बालोऽपि नावमन्तत्यो मनुष्य इति भूमपिः।*
   महती देवता ह्येषा नररुपेण तिष्ठिति।।

अराजक दशा विद्यमान थी वह अत्यन्त भयंकर थी। जिस प्रकार बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है, उसी प्रकार शक्तिशाली मनुष्य निर्बलों को सताते रहते थे। इस स्थिति से परेशान लोगों ने आपस में समझौता कर एक व्यक्ति को राजा बनाना तय किया। महाभारत के शांतिपर्व में अराजक दशा का वर्णन किया गया है।[1] रामायण में भी अराजक दशा का बड़ा भयंकर वर्णन किया गया है।[2]

चतुर्थ सिद्धान्त राज्य की उत्पत्ति का विकास सिद्धान्त माना जाता है। प्राचीन भारतीय साहित्य में राज संस्था का प्रार्दुभाव किस प्रकार हुआ इस प्रकार का विशद रूप से निरुपण किया गया है। इस सम्बन्ध में सबसे प्राचीन निर्देश अथर्ववेद से प्राप्त होता है। सभा और समिति के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए वेद के इस सूक्त से बहुत उत्तम प्रकाश पड़ता है। इस सूक्त के अनुसार ''निश्चय ही पहले 'विराट' (अराजक) दशा थी। इस दशा के कारण लोग बहुत भयभीत रहते थे। इस विराट में परिवर्तन (उत्क्रान्ति हुआ तथा सबसे पहले गार्हपत्य दशा आई। इस गार्हपत्य दशा में भी परिवर्तन हुआ तथा आहवनीय दशा आई। आहवनीय दशा में परिवर्तन के बाद दक्षिणाग्नि दशा आई, इस दक्षिणाग्नि दशा में भी उत्क्रान्ति हुई तथा तत्पश्चात सभा की दशा आई। जो कोई दक्षिणाग्नि दशा को जानता है, वह 'बसती' में निवास करने योग्य है, जो कोई सभा की दशा को जानता है, वह सभा का सभ्य बनता है। सभा की दशा में उत्क्रान्ति के फलस्वरूप समिति की दशा आई, जो कोई यह जानता है वह समिति का समितेय बनता। इस समिति की दशा में भी परिवर्तन के फलस्वरूप आमंत्रण की दशा आई। जो यह जानता है वह आमंत्रण का आमंत्रणीय बनता है।[3] यह सिद्धान्त वर्तमान समय में राजनीति शास्त्र विशारदों के सिद्धान्त से अनेक अंशों में समता रखता है। इसे हम विकासवादी सिद्धान्त समझ सकते हैं।

---

1. *महाभारत, शांतिपर्व, 67.3, 13-17., 68-10.*
2. *रामायण, अयोध्याकाण्ड, 67, 10.11.18. 29.31.*
3. *अर्थववेद, 8.10.1.*

अध्याय-द्वितीय

मौर्य काल के पूर्व प्रशासनिक व्यवस्था

अध्याय द्वितीय

हमको जब भी भारतीय राजनीतिक क्षेत्र के किसी भी विषय की बात कहना हो तो हमें कुछ विशेष कारणों से उत्तर भारत का इतिहास देखना पड़ता है। सर्वप्रथम प्राचीन भारत की राजनैतिक संगठनों व संस्थाओं का इतिहास देखना आवश्यक है। यह साक्ष्य उत्तर भारत में ही उपलब्ध होता है। यह भी कहा जा सकता है, कि उत्तरीय भारत ने बहुत से राजनैतिक उथल-पुथल देखे है जब कि दक्षिण भार ने बहुत कम। यह एक तथ्य है, कि जो भी सामाजिक व राजनैतिक व्यवस्थायें बाहर से आयी वो सब समय के साथ-साथ पूर्णतया भारतीय हो गई।[1]

राजतंत्र की कला एवं व्यवस्था :

चूँकि राज तंत्र ही देश में साधरण तयः प्रचलित था इसलिए इसको स्वभावतः 'राज धर्म' कहते थे।[2] राजाओं द्वारा नागरिकों की नैतिक एवं सांसारिक समृद्धि की जिम्मेदारी ही 'राजधर्म' कहलाती थी। दंड नीति भी सरकार चलाने की एक कला थी।[3] दंड एक ऐसी सजा थी। जो केवल राजा के पास ही निहित थी। यह एक प्रकार की दैवीय एवं धार्मिक स्वीकृति भी थी।[4] इससे पता चलता है, कि राज्य संचालन के लिए शक्ति एक बड़ा हथियार थी। दंड नीति ही राज्यों को धार्मिक, राजनैतिक एवं आर्थिक स्वरूपों को स्थायित्व देने में सफल हुई।[5] दंड की प्रक्रिया ने ही राज्य की धार्मिक, राज नैतिक एवं सामाजिक-व्यवस्थाओं को सुधारने में सुदृढ़ कार्य किया।[6] इससे स्पष्ट होता है, कि राज धर्म एवं धर्म नीति ने समाज-सुधारक का कार्य किया।[7]

प्राचीन भारत में राजनैतिक व्यवस्थाओं को- 'नीति शास्त्र' भी कहते थे। नीति का मतलब एक सही दिशा प्रदान करना था, इसलिए नीति शास्त्र आचार शास्त्र की परिभाषा हो गई।[8] कामंदक और शुक्र ने अपने लेखों को नीति कहना ही उचित समझा। कौटिल्य का अर्थ शास्त्र भी इस बात को दर्शाता है, कि राज्यों को किस प्रकार अधिग्रहीत किया जाये व उसके ऊपर किस प्रकार शासन किया जाय।[9]

---

1. *मजूमदार आर0सी0, द वैदिक एज (इंटो), मजूमदार आर0सी0, द एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी (इंट्रो)*
2. *अल्टेकर अनंत सदाशिव, स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इनन्शियन्ट इंडिया पृ0 1*
3. *वही*
4. *दण्डः शस्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति। दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्म विदुर्बुधाः। मनुस्मृति अष्टम,14.*
5. *अल्टेकर अनंत सदाशिव, स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एन्शियन्ट इंडिया, पृ01.*
6. *अर्थशास्त्र. 1.3.*
7. *अल्टेकर अनंत सदाशिव, स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एन्शियन्ट इंडिया, पृ0 1-2.*
8. *शुक्रनीतिसार. 1.5. सर्वोपनीतकं लोकस्थितिकृन्नीतिशास्त्रकम्। धमार्थकाममलं हिस्मृत मोक्षप्रदं यतः।।*

9०. *अर्थशास्त्र. 15.1. मनुष्याणां वृत्तिरर्थः, मनुष्यवती, भूमिरित्यर्थः। तस्याः पृथिब्या लाभपा लनोपायः शास्त्रमर्थ शास्त्रमिति।।*

प्राचीन हिदुंओं काजीवन के आध्यात्म पर ही पूर्ण विश्वास था। धर्म ही उनके लिए सर्वोपरि था। एवं धर्म के सम्मुख उनके समक्ष सामाजिक एवं राज नैतिक व्यवस्थायें नगण्य थी। प्राचीन काल के हिन्दू अपने जीवन को केवल आध्यात्मिक दृष्टि कोण से देखते थे। धर्म ही उनके लिए सर्वोपरि था। उन्होने राजधर्म एवं दंड नीति को बहुत ही सूक्ष्म दृष्टिकोंण से देखा, जब कि सामाजिक व्यवस्थाओं को बनाये रखने में कानून एवं शासन की आवश्यकता थी।[1] वृहद रूप से अगर देखा जाये तो प्राचीन हिन्दू सामाजिक, राज नैतिक और आर्थिक सबंधों को एक रूप में देखते थे। राजा राज्य में एक पर्यायवाची रूप मे था, क्यों कि राजा राज्य का केवल एक अंग था।

पूर्व वैदिक काल के राज्य प्राचीन ग्रीस के शहरी राज्यों के समान छोटे थे, जो कि ज्यादा से ज्यादा वर्तमान जिलों के समान थे। ज्यादातर मामलों में राज्यों की उत्पत्ति जाति के आधारों पर हुई। यहाँ के निवासी ये विश्वास करते थे कि वो किसी समान या कोई बहुत प्रसिद्ध पूर्वज जैसे कि यदु, पुरू या तुर्वस के बंशज है।[2] एक ही परिवार (कुल) की बहुत सी शारवाओं ने मिलकर एक ग्रम का निर्माण किया। कुल या परिवार के मुखिया को कुलप या कुलपति कहते थे।[3] एक ही ग्राम जिसमें एक ही पूर्वज के बंशज निवास करते थे उसको जन मन[4] कहते थे। जब इस तरह के बहुत से ग्राम सबंधों के कारण आपस में जुड़ गये तब विश की उत्पत्ति हुई।[5] विश के मुखिया को विशपति कहते थे। विशों का आपस में बहुत ही घनिष्ट सबंध था। युद्ध के मैदान में सैन्य टुकड़ियों की व्यवस्था इन्हीं विश के आधार पर होती थी जहाँ से उनकी नियुक्ति होती थी।[6] बहुत से विश मिलकर एक जन[7] का निर्माण करते थे, जिनका स्वयं का राजा या जनपति होता था। इस प्रकार से एक (राष्ट्र)[8] जातीय

---

1. *मनु, 7.16*
2.
3. *अल्टेकर अनंत सदाशिव, स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एन्शियन्ट इंडिया, पृ0 310.*
4. *ऋगवेद, 10. 119.2-3*
5. *ऋगवेद, द्वितीय 26.3., मजूमदार आर0सी0, द वैदिक एज, पृ0 359.*
6. *ऋगवेद, द्वितीय 26.3.*
7. *वही, मजूमदार, आर0सी0, द, वैदिक एज, पृ0 359.*
8. *द वैदिक एज, पृ0 358.*

राज्य की उत्पत्ति हुई। इन्हीं कुलपतियों के बीच में जो भी शक्तिशाली नायक होता था वो विशपति बनता था। इन्हीं विशपतियों के बीच से इन्हीं गुणों के कारण वह जनपति के स्थान पर पहुँच जाता था। इस कारण जातीय राज्यों की उत्पत्ति एक ऐसे समाज के आधार पर मानी जाती है जिसकी व्यवस्था मुरिवयाओं के आधार पर थी। पूर्ण ऐतिहासिक काल में राज्य की उत्पत्ति कई परिवारों के मिलने से हुई। परिवार (कुल) के मुरिवया की आज्ञा का-पालन किया जाता था। परिवार के मुखिया की तरह ही आर्य समाज में राजपद आनुवांशिक था। धीरे-2 बाद के काल की संहिताओं, ब्राह्मणों और उपनिषदों में हम यह देखते है, कि राज्य अब जातीय नहीं रह गया था। अब यह सब जगह क्षेत्रीय (राष्ट्र)[1] हो गया था। इस समय हमारे पास जो भी साक्ष्य उपलब्ध है उससे यह स्पष्ट पता नहीं चलता है, कि 1000 ई0पू0 तक राज्य कब पूर्णतया क्षेत्रीय हो गये।

वैदिक साहित्य से प्राचीन भारत के कई प्रकार के राज्यों के संदर्भ में प्रकाश पड़ता है।[2] जैसे-1-राज तंत्रात्मक[3] 2- गणतंत्रात्मक[4] 3- अल्पतंत्रीय[5] 4- नगरीय राजय[6] 5- संगठित राज्य।[7] वैसे तो प्राचीन भारत में कई प्रकार के राज्य थे लेकिन राजतंत्रात्मक सरकारें सबसे ज्यादा प्रचलित थी।[8]

---

1. *मजूमदार आर0सी0, द वैदिक एज पृ0 431, अल्टेकर अनंत सदाशिव, स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एन्शियन्ट इंडिया, पृ0 312*
2. *ऐतरेय ब्राह्मण. 8.3.14.*
3. *वही*
4. *जायसवाल के0पी0 हिंदु पोलिटी, पृ0 30-38, 233, महाभारत, शांतिपर्व 107.6.*
5. *महाभारत, शांतिपर्व, 107.6*
6. *महा0 शांतिपर्व, 2.32.9*
7. *महा0 शांतिपर्व, 81.25.29.*
8. *अल्टेकर अनंत सदाशिव, स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एन्शियन्ट इंडिया, पृ0 75.*

केंद्रीय प्रशासन

राजा-

पूर्व बैदिक काल के राज्य छोटे होते थे और इनकी उत्पत्ति जातीय होती थी।[1] ऋग वैदिक काल के कुछ राज्य दूसरे राज्यों को विलय करके आगे बढ़ गये।[2] एवं समय के साथ जातीय मुखिया क्षेतीय राजा वन गये। परवर्ती संहिताओं और ब्रहनणों के समय एक राज्य का आकार सामन्यतः आज के मंडल के समान होता था।[3] कुल मिलाकर ऋग वैदिक साहित्य इस बात के लिए कोई शंका नहीं छोड़ता कि राजा एक मात्र आदि वासी जाति का मुखिया था। बल्कि उसने समाज में एक ऐसा स्थान या लिया था जो समाज में उसे भिन्न स्थान प्रदान करता था।[4] पूर्व बैदिक काल में राज्य छोटे होते थे और एक लोकप्रिय सभा राजधानी में बैठकर उसका संचालन करती थी। इसलिए राजा की शक्तियाँ असीमित नहीं थीं। समय के साथ-साथ जब राज्यों का आकार बढ़ गया एवं वे प्राकृतिक रूप से क्षेत्रीय हो गये तो सामंती मुखियाओं जैसे कि कुलपतियों और विशपतियों की शक्तियों में कमी आई। इनके साथ-2 लोकप्रिय समितिओं की शक्ति में भी उचित समय पर बैढके न कर पाने के कारण कमी आई। उपर्युक्त सभी परिस्थितियों के कारण राजा की शक्तियों और विशेषाधिकारों में उन्नति हुई। ऋगवेद से हमको राजा के लिए प्रयोग होने वाले कई उपनाम जैसे- एक रत (एक मात्र रजा), अधिरत (महान राजा) और सम्राट (राजाधिराज)[5] प्राप्त होते हैं। निः संदेह यह सत्य है, कि यह उपनाम केवल ईश्वर के लिए ही प्रयोग किये जाते थे। इसमें कोई संदेह नहीं कि इनके प्रति पर्ण धरती पर उपस्थित थे। अथर्ववेद ने तो राजा को देवों का स्थान देते हुए उनको साधारण मानवों से अलग बताया और कहा वो सबसे ऊपर थे।[6]

---

1. *अल्टेकर अनंत सादशिव, स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एन्शियन्ट इंडिया, पृ0 105.310.*
2. *रैप्सन ई0जे0, कैमब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया, 1. 130.*
3. *अल्टेकर अनंत सादशिव, स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एन्शियन्ट इंडिया, पृ0 312.*
4. *मजूमदार आर0सी0, द वैदिक एज, पृ0 356.*
5. *ऋगवेद II.28.1.*
6. *ऐतरेय ब्राह्मण, 8.17. अथर्ववेद. 4.22.*

आर्य समाज में राजपद की उत्पत्ति सम्मलित परिवारों से हुई और सम्मलित परिवार के मुखिया के सामन साधारणतयः राजपद आनु वांशिक था।[1] इस सबंध में ऋग वेद में साक्ष्य प्राप्त होते हैं। शतपथ और ऐतरेय ब्राह्मण भी आनुवांशिक राजपद की ओर इंगित करते हैं।[2] सूक्तों के काल में भी राजपद साधरणतयः आनुवांशिक हो गये थे।[3] कुछ अन्य ऐसे उदाहरण भी प्राप्त होते हैं जिनसे पता चलता है, कि राजपट आनुवांशिक नहीं थे।[4] ऋगवेद के एक अनुच्छेद से यह पता चलता है, कि राजपद को विश द्वारा निर्वाचित किया जाता था।[5] अथर्ववेद के एक अन्यत्र उदाहरण द्वारा पता चलता है, कि राजा का चुनाव उसके मित्रों द्वारा किया गया था।[6] जातक[7] और धर्म सूत्र[8] से भी इसी प्रकार के उदाहरण प्राप्त होते हैं। कुल मिला कर यह नियम न होकर एक अपवाद मात्र था। राजपद के लिए ज्येष्ठ पुत्र का अधिकार पूरी तरह स्थापित नहीं था परंतु यह प्रचलन में था, इसका साक्ष्य रामायण में मिलता है।[9] ऐसा प्रतीत होता है, कि उत्तराधिकारी यदि बालक था, या सैन्य नेतृत्व करने में असक्षम होता था, तो राजा के किसी वरिष्ट सम्बन्धी या किसी अन्य व्यक्ति को शासन संचालन के लिए चुन लिया जाता था।[10] हालांकि इस तरह के उदाहरण यदा-कदा ही प्राप्त होते थे।

प्राचीन भारतीयों का यह विश्वास था, कि सैन्य आवश्यकताओं के कारण ही राजपद की उत्पत्ति हुई, इसलिए राजा का एक सफल सेना नायक होना आवश्यक था।[11] सैन्य नेतृत्व ही किसी

---

1. *मजूमदार आर0सी0, द वैदिक एज.पृ0 356.*
2. *शतपथ ब्राह्मण, 12- 9.3. 1-3.*
3. *रामायण, II 15-16; मजूमदार आर0सी0, द वैदिक एज, पृ0 490.*
4. *तैत्तरेय ब्राह्मण, I. 7. 3., ऋगवेद. 10 . 124. 8.*
5. *ऋगवेद. 10 .124 .8.*
6. *अथर्ववेद, III . 3. 4.5.*
7. *जातक. नं0 247 . 73 . 529 . 378*
8. *मजूमदार आर0सी0, द वैदिक एज, पृ0 491*
9. *रामायण, II . 36 . 16.*

   तवैव वंशे सगरोज्येष्ठपुत्रमुपारुधत्।

   असमज्ज इति रव्यातं तथाऽयं गन्तुमर्हति।।
10. *अल्टेकर अनंत सदाशिव, स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एन्शियन्ट इंडिया पृ0 311.*
11. *ऐतरेय ब्राह्मण . I . 14.*

जाति विशेष का नेतृत्व करने के लिए विश पति बनाती थी।[1] इसी कारण ऋग वैदिक काल के राजा सेना के सामंत-कहलाते थे।[2] यह स्थिति उत्तर संहिताओं, ब्रह्मणों एवं उपनिषदों के काल तक चलती रही।[3] वैदिक काल के राजा आनु वांशिक रूप से विशपतियों की समिति के अध्यक्ष होते थे। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है, कि वह सामंतों या बुजुर्गो की समिति का अध्यक्ष एवं बराबरी वालों में सर्वप्रथम होता था।[4]

यह जानकर आश्चर्य होता है, कि राजा की दैवीय उत्पत्ति का सिद्धांत जो कि ईसा की पहली शताब्दी में बहुत प्रचलित था, पूर्व वैदिक काल में इसकी कोई जानकारी नहीं है। उस समय विशुद्ध रूप से राजपद एक धर्म निरपेक्ष संस्था थी। ऋगवेद में एक राजा को अर्ध देव[5] की संज्ञा दी गई है और अथर्ववेद के एक वाद के अनुच्छेद में राजा को मानव के मध्य भगवान[6] की संज्ञा दी गई है। हालाँकि ये अनुच्छेद राजा की उम्र को ध्यान में रखते हुए उसके दैवीय होने को सिद्ध नहीं करती।[7] एक सर्वमान्य समिति द्वारा राजा को अपदस्थ कर सकने के कारण[8] समाज में यह सिद्धांत कि राजपद दैवीय था अपनी जड़े नहीं जमा सका। बढ़ते हुए धार्मिक विचारों के कारण- ब्राह्मण काल में एक माहौल बन गया जो राजपद के दैवीय होने के पक्ष में जाता था। राज्य की बढ़ती हुई शक्तियों में ही उसे दैवीय मानने की प्रवृत्ति बनी। शतपथ ब्राह्मण राजा को भगवान प्रजापति को साक्षात् रूप में वर्णन करते हैं।[9] राजाओं द्वारा किये गये अश्वमेध एवं बाजपेय यज्ञ ही उसको देवों के समकक्ष रखते है।[1]

---

1. *अल्टेकर अनंत सदाशिव, स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एशियन्ट इंडिया पृ0 311 .*
2. *मजूमदार आर0सी0, द वैदिक एज, पृ0 358 .*
3. *अथर्ववेद, 4. 22, अल्टेकर अनंत सदाशिव, स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एन्शियन्ट इंडिया, पृ0. 313.*
4. *राय चौधरी एच0सी0, पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्शियन्ट इंडिया, पृ0 171 .*
5. *ऋगवेद, 4 . 42 . 8. अस्माकमत्र पितरस्त आसन्त्यसप्त दौर्गहे बध्यमाने्।*
   त आयजन्त त्रसदस्युमस्या इन्द्रं न वृत्रतुर मद्धदेवम्।।
6. *अथर्ववेद, 20 . 127 . 7.*
7. *अल्टेकर अनंत सदाशिव, स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एन्शियन्ट इंडिया , पृ0 89 .*
8. *अथर्ववेद . 6.88.3.*
9. *शतपथ ब्राह्मण , 5.1.5.14. एष वै प्रजापतेः प्रत्यक्षततं यद्राजन्य :।*
   तस्मादेकः सन्बहूनामीष्ट।

महाभारत के वर्णन से पता चलता है, कि भगवान विष्णु स्वयं प्रथम राजा के शरीर में प्रवेश कर गये।[2]

यद्यपि वैदिक साहित्य मुख्य रूप से धार्मिक है, परंतु उससे यह नहीं पता चलता कि राजपद की उत्पत्ति पुरोहिती से हुई। यह भी रोचक बात है, कि वैदिक राजा ने न तो कभी पुरोहिती के कार्य किये और नही समस्त समाज के लिए किये जाने वाले किसी बलि या यज्ञ की अध्यक्षता की। राजा को अपनी अधिकारिक या सार्वजनिक हैसियत के अंतर्गत कोई बलि या यज्ञ जनता की उन्नति के लिए या किसी जातीय या राष्ट्रीय आपदा को समाप्त करने के लिये करने का अधिकार नहीं था। यह भी कहीं नहीं पता चलता है कि राजा के पास जादुई या औषधीय शक्तियाँ थीं। ऋगवैदिक काल में राजा को मात्र राजा कहते थे।[3] इस काल में राजा के लिए महत्वाकांक्षी उपाधियाँ जैसे- अधिरत और सम्राट में प्रचलित नहीं थी।[4] ऋगवेद में अक्सर राजन, राजा या मुखिया शब्दों का प्रयोग मिलता है।[5] बाद में ऐतरेय ब्राहमण से हमें कुछ उपाधियों जैसे कि सम्राट, भोज, विराट, राजन, महाराजा, एकरत और सार्वभौम के संदर्भ में पता चाहता है।[6] शतपथ ब्राह्मण से ज्ञात होता है, कि राजसूय यज्ञ करके ही राजा बनता था। और- बाजपेय यज्ञ करके वह सम्राट बन जाता था।[7] मुख्य रूप राजा अपनी प्रजा (गोपजनस्य) का रक्षक होता था।[8] प्रमुख रूप से राजा अपनी प्रजा की विदेशी- आक्रमणों एवं आंतरिक अव्यवस्थाओं से रक्षा करता था। प्रजा की रक्षा करना राजा का प्रमुख कर्तव्य था।

---

1. *वही, 12.4.43.*
2. *महाभारत शांतिपर्व 59. 130.*
   तपसा भगवान विष्णुसविवेश च भूमिपम। देववन्नरदेवानां नमते यज्जगन्नृप।।
3. *अल्टेकर अनंत सदाशिव, स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एन्शियन्ट इंडिया, पृ० 311.*
4. *ऋगवेद. II . 28.1.*
5. *मजूमदार आर०सी०, द वैदिक एज, पृ० 355.*
6. *ऐतरेय ब्राह्मण, 8.2.6.*
7. *शतपथ ब्राह्मण, S1.1. 12-13.*
   राज्ञएवराजसूयां राजा वै राजसूयेनेस्ट्वा भवति।
   सम्राट वाजपेयेन अवरं हि राज्यं परं साम्राज्यम्।
8. *ऋगवेद, 3 43.5:. 10. 8.124, अथर्ववेद, XIX- 5-6 15, महाभारत शांतिपर्व, 57.33, गौतम धर्मसूत्र, 10.7-8, 11.9-10.*

प्राचीन भारत में राजा कानून से ऊपर नहीं था और न ही वह कानून का निर्माता था। उसको केवल मान्यताओं के आधार पर ही कार्य करना पड़ता था।[1] कानून निर्माण का दायित्व अधिकतर ब्राह्मण जाति के विचारकों को सौंपा गया था। वैदिक काल के बाद से ही राजा कानून का रक्षक एवं समर्थक बना वैदिक काल में एक आदर्श राजा के लिए धृतवृत[2] होना आवश्यक था, जो कि भगवान वरुण की तरह कानून के प्रति पूर्णतया समर्पित हो। राजा के लिए कानून का सम्मान करना आवश्यक था। राज्य करने का तत्व धर्म नहीं है, राजा को यह समझना चाहिए कि धर्म से ऊपर कुछ नहीं है और उसको धर्म का पालन करना चाहिए।[3] लेकिन उत्तर वैदिक काल के साहित्य से हमें यह पता चलता है, कि राज्याभिषेक के समय पुरोहित राजा को अदण्ड बना देते थे।[4] ऋग वैदिक काल में राजपद एक साधारण चीज थी, और राजा मिट्टी के बने घरों में रहता था परंतु ये मकान साधारण प्रजा के रहने वाले स्थानों से कहीं अधिक विशाल एवं सुन्दर थे।[5] उनके परिधान भड़कीले एवं चमकदार होते थे वे स्वर्ण आभूषण पहनते थे और उनके पास एक सम्मान जनक परिचारक वर्ग रहता था। युद्ध के समय राजा शत्रुओं से विजित- भूमि एवं लूटे हुए माल का अधिकांश हिस्सा प्राप्त करता था।[6] शांति के काल में राजा की आय का मुख्य स्त्रोत राज्य की भूमि पर कर एवं बलि[7] या साधारण जनता, सामंतों, वृद्धों एवं पराजित शत्रुओं से प्राप्त उपहार थे। प्रारंभ में यह स्थिति स्वैच्छिक थी परंतु बाद में यह निममित एवं अनिवार्य हो गई।[8]

इस कारण ऐतरेय ब्राह्मण में राजा को विशमत्ता[9] कहा गया है। ये राजकर राजा को प्रजा द्वारा

---

1. *ऋगवेद 11.8.124, मुकर्जी आर0के0, हिन्दू सिवलाईजेशन पृष्ठ 100, 102*
2. *छंदोग्य उपनिषद, 5.11.5*
3. *वृहदराण्यक उपनिषद, 1.4.14.*
   तदेत क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मस्तस्माद्धमत्पिरं नास्ति।
4. *अल्टेकर अनंत सदाशिव, स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एन्शियन्ट इंडिया पृ0 105, 313*
5. *वही,*
6. *वही, पृ0 311*
7. *ऋगवेद, 1.70.9.*
8. *अल्टेकर अनंत सदाशिव, स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एन्शियन्ट इंडिया, पृ0 311-13*
9. *ऐतरेय ब्राह्मण, 7.29.*

विभिन्न प्रकार से दिये जाते थे। इस समय राजा भूमि का स्वामी नहीं था बल्कि वह एकमात्र भूमि का नियंत्रक था। उ0वै0 काल में राजा की शक्ति में बढ़ोत्तरी का अंदाजा इसी से लगाया जा सकता है, कि वो वैश्यों या ब्राह्मणों को अपनी इच्छानुसार निष्कासित कर सकता था।[1] अधिकांशतः क्षत्रिय ही राजपद पर आसीन होता था, और ब्राह्मणों को राजपद के योग्य नहीं समझा जाता था।[2] हम वैदिक कालीन राजाओं की जाति के विषय में नही बता सकते है, क्योंकि वैदिक काल में जाति व्यवस्था बहुत कड़ी नहीं थी। बाद में जब जाति व्यवस्था पूर्ण रूप से विकसित हो गई तब राजा क्षत्रिय जाति का ही होता था। ऐसे साक्ष्य प्राप्त होते है, कि साधारण तयः क्षत्रिय वर्ग की स्थिति मुख्य रूप से राजा की ब्राह्मणों की तुलना में जाति-धर्म के सामाजिक मापदंडो में बहुत ऊपर उठ गई।[3] एक धार्मिक अनुष्ठान में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी को राजा को एक गाय प्रदान करनी पड़ती थी।[4] धर्म सूत्र काल में हम देखते है, कि राजा ब्राह्मणों को छोड़कर अन्य सभी से सम्मान पाने का अधिकारी था।[5]

राजा राज्य का प्रथम नागरिक होता था, इसलिए उसका आचरण सदैव उदाहरणीय होना चाहिए, क्योंकि प्रजा को उसी के उदाहरणों पर चलना पड़ता था।[6] प्रसन्नता सदैव धर्मपरायणता एवं नैतिक गुणों पर आधारित रहती थी, और यह गुण तभी फलीभूत हो सकते थे जब राजा एक मुख्य उदाहरण और मापदंडो को निर्धारित करे। एक अच्छे राजा के साथ सम्पन्नता भी रहती है।[7] एक अन्य महत्त्वपूर्ण विचार यह भी था, कि राजा प्रजा का सेवक था और इसी सेवा के बदले वह प्रजा से कर प्राप्त करता था।[8] वैदिक काल में राजा के कार्यो में न्याय करने का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता है।

---

1. *अल्टेकर अनंत सदाशिव, स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एन्शियन्ट इंडिया, पृष्ठ 313.*
2. *शतपथ ब्राह्मण, भाग पंचम, 1.1.12, सैकरिड बुक्स आफ द ईस्ट*
3. *ऐतरेय ब्राह्मण, 7, 29*
4. *तैत्यरेय ब्राह्मण, I 7.10.*
5. *मजूमदार. आर0सी0, द वैदिक एज. पृ0 490*
6. *जातक, भाग 3 पृ0, 111, भाग 5 पृष्ठ 101-7*
7. *ऋगदेव, 5.10.*
8. *बौधायन धर्मसूत्र. I.10.6.*

ऐसा प्रतीत होता है, कि सभा और समिति जैसी सर्वमान्य सभायें आपस के विवादों को सुलझाने में राजा से अधिक महत्व रखती थी[1] इस समय दीवानी और फौजदारी दोनों ही मामलों में स्वसहायता का बहुत अधिक प्रचलन था। हत्या के लिए भी वैरदेय या रक्त धन का प्रचलन था। लेकिन उ० संहिताओ, ब्राह्मणों और उपनिषद काल में विशेष रूप से फौजदारी मामलों में न्यायिक शक्तियों में बढ़ोत्तरी हुई।[2] धर्मसूत्र काल में न्यायिक निर्णय करना राजा का महत्वपूर्ण कर्तव्य माना जाता था। राजा व्यक्तिगत रूप से दीवानी एवं फौजदारी मामलों का निर्णय करता था।[3] राजा को छूट थी, कि वह अपने न्यायिक अधिकार किसी और को दे सकता था, या सजाओं के लिए ही वह किसी राज्य अधिकारी या राजन्य को जो कि एक अध्यक्ष (ओवरसियर) की तरह कार्य कर सके को नियुक्त कर सकता था। कठिन विषयों को परिषद के पास भेज दिया जाता था। दण्ड का सिद्धांत (राजा का दण्डनीय अधिकार) अब पूर्णतया विकसित हो चुका था।[4] 600 ई०पू० अर्थात वैदिक एवं उपनिषद काल में राजा का मुख्य उद्देश्य प्रजा की सांसरिक एवं सैद्धांतिक विचारों की उन्नति करना अर्थात प्रजा का पूर्णरूपेण हित करना था। अथर्ववेद में राजा परीक्षित की इसलिए प्रशंसा की गई है, क्योंकि इसके शासनकाल में प्रजा अत्यंत प्रसन्न थी, सुरक्षित थी एवं धन-धान्य से परिपूर्ण थी।[5] परंतु जैसा कि हम पहले देख चुके है, राजा का प्रमुख कर्तव्य प्रजा की रक्षा करना एवं कानून व्यवस्था को बनाये रखना था।

हमारे प्राचीन विचारकों द्वारा राजा के अधिकारों पर किसी प्रकार की संवैधानिक रोक नहीं लगाई गई। ऐसा प्रतीत होता है, कि वैदिक काल की सर्वमान्य सभायें (सभा और समिति) ही राजा के अधिकारों के ऊपर संवैधानिक रोक लगाती थीं। ऐसा प्रतीत होता है, कि ये सभायें अगर राजा से सहमत न हो तो राजा के लिए कठिनाई आ सकती थी।[6] जितना महत्वपूर्ण राजा एवं समिति के

---

1. *अल्टेकर अनंत सदाशिव, स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एन्शियन्ट इंडिया, पृ0 311*
2. *वही 313*
3. *गौतम धर्मसूत्र, 12, 43,*
4. *मजूमदार, आर0सी0 द वैदिक एज, पृ0 494*
5. *अथर्ववेद-20,127,*
6. *सभ्य सभां में पाहि ये च सभ्याः सभासदः*
   अथर्ववेद, 19, 55.6. शतपथ ब्राह्मण, 4.1.4.1-6

मध्य सामंजस्य था उतना ही महत्वपूर्ण था कि समिति के सदस्य भी आपस में सामंजस्य बनाये रखें।[1] राजा के समक्ष उस समय एक बड़ी विपत्ति आ जाती थी जब उसके एवं सर्वमान्य सभाओं के बीच विचारों में सामंजस्य न हो।[2] हमको यह विस्मरण नहीं करना चाहिए कि वैदिक काल की तरह ही प्राचीन भारत के राज्य जब छोटे होते थे, तो आधुनिक प्रतिनिधि सभा की तरह ही सर्वमान्य सभाए राजा के ऊपर नियंत्रण रखती थीं। समय के साथ-साथ सर्वमान्य सभाओं की शक्तिओं में कभी आई, और 500 ई0पू0 तक यह बिल्कुल विलुप्त हो गई। परंतु इसका स्थान किसी भी इस तरह की संस्था ने नहीं लिया। सभा एवं समिति के विलुप्त होने से राज्य अधिकारों के ऊपर लगी महत्वपूर्ण रोक भी खत्म हो गई। पुरोहितों की बढ़ती हुई शक्ति एवं सम्मान के कारण राज्य शक्ति में कमी आई। ये पुरोहित राजा को युद्ध भूमि में प्रार्थनाओं एवं मंत्रो के द्वारा सहायता करते थे।[3] राजा की शक्तिओं को न केवल सर्वमान्य सभायें और पुरोहित सीमित करते थे, अपितु ब्राह्मण भी उसकी शक्तियों पर अंकुश रखते थे। उस समय ब्राह्मण शिक्षा एवं सभ्यता के रखवाले थे।[4] ऐतरेय ब्राह्मण में वर्णित है, कि राजा एक शिक्षित ब्राह्मण, पुरोहित को नही रखता था, तो भगवान भी उसके द्वारा चढ़ाये भोग को स्वीकार नहीं करते थे।[5] राज्याभिषेक के समय राजा ब्राह्मण के सम्मुखतीन बार नतमस्तक होकर उसकी आधीनता स्वीकार करता था। और जब तक वह ऐसा करता था। तभी तक वह उन्नति करना रहता था।[6] धार्मिक कर्मकांड भी इस प्रकार से निर्मित थे, कि क्षत्रिय और वैश्य भी ब्राह्मण की आधीनता स्वीकार करें।[7] गौतम धर्मसूत्र (500 ई0पू0) यह दावा करता है, कि राज्याधिकार कभी पुरोहितों को नहीं छूते थे और वह सदैव स्मरण कराते रहते थे, कि बिना इनकी सहायता के राजा कभी उन्नति नहीं कर सकता[8] राजा की शक्तिओं पर दूसरी रोक जनता की साधारण सभा (जन और

---

1. *ये ते के च सभासदस्ते में सन्तु सवाचसः अथर्ववेद, 7, 1.2.*
2. *अर्थर्ववेद, 5, 19.15*
3. *ऋगवेद, 4, 50. 7-9*
4. *शतपथ ब्राह्मण 7, 27*
5. *ऐतरेय ब्राह्मण 7, 5.24.*
6. *वही, 8.1.*
7. *पंचविश ब्राह्मण, 11, 11.1.*
8. *गौतम धर्मसूत्र. 1.11*

महाजन) द्वारा लगाई जाती थी। इसकों उपनिषदों में समिति या परिषद कहा गया है।[1] हमारे प्राचीन विचारकों यह मत नहीं है, कि प्रजा किसी भी प्रकार का अत्याचार सहन करे।[2] प्रजा की इस अधिकार की मान्यता की वह एक अत्याचारी को पदच्युत या हत्या कर सकती थी, इस बात को दर्शाता है, कि अंततः राजसत्ता प्रजा के पास थी।[3] पवित्र कानून के पीछे धार्मिक एंव आध्यात्मिक मान्यताओं का प्राचीन भारत में सबसे अधिक भय था। लेखकों ने राजा की अत्याचारी प्रवृत्ति को रोकने में इनका पूरा उपयोग किया। और दूसरी रोक मंत्रियों द्वारा अलग-अलग था फिर परिषद द्वारा लगाई जाती थी।[4] वे लोग जो राजा को सिंहासन दिलाने में सहायता करते थे, जिनकों रत्निन या राजकृत कहते थे वे भी राजा की निरंकुशता पर रोक लगाते थे।[5]

जब उत्तराधिकार के समय संभावित उत्तराधिकारी नाबालिक होता था तो शासन राजपदों पर आसीन परिषद द्वारा चलाया जाता था। जातक से पता चलता है, कि इस परिषद की अध्यक्षता सत्वाधिकारिणी विधवा रानी करती थी।[6]

प्राचीन भारत में बहुत से विचारक और लेखक सिंहासन पर स्त्रियों के उत्तराधिकार का विरोध करते थे, उनके विरोध करने का कारण यह था, कि उनके विचार में स्त्रियाँ अपनी प्राकृतिक सीमाओं में बंधी होने के कारण एक अच्छी प्रशासिक नहीं हो सकतीं।[7] परंतु उ0वै0 काल में रत्निनों की सूची में हमें ववाता (प्रिय रानी), महिषि (मुख्य रानी) का नाम मिलता है।[8] यह इस बात का भी

---

1. *राय चौधरी एच0सी0 पोलटिकलीहिस्ट्री ऑफ एन्शियन्ट इंडिया, पृ0 174, मजूमदार आर0सी0*
2. *अल्टेकर अनंत सदाशिव, स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एन्शियन्ट इंडिया, पृ0 101.*
3. *शतपथ ब्राह्मण, 12.9.3.1,*
4. *रामायण, II. 79.1.*
5. *मनुस्मृति, 7, 54-59, तैत्तरीय ब्राह्मण, 1.7.3. जातक 302, 525, रामा0 II .67.2-4.*
6. *जातक, भाग.I. पृष्ठ, 109, 487.*
7. *जातक, भाग I. पृष्ठ, 155*
8. *रायचौधरी एच0सी0 पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्शियन्ट इंडिया पृ0 166*

संकेत देता है, कि वैदिक काल में रानियां केवल राजा की पत्नी ही नहीं थी बल्कि वे शासन में भी मुख्य भूमिका का निर्वाहन करती थीं।[1]

सभा :- सभा समिति[2] से धार्मिक प्राचीन थी। ऋगवेद[3] सभा का उल्लेख आठ बार हुआ है सभा नामक शब्द प्रजा की खास सभा या सभा भवन की ओर प्रकाश डालती है जिसमें इनकी सभा की जाती थी।[4] जिमर का यह विचार था, कि सभा मात्र एक ग्राम सभा है।[5] सभा और समिति को प्रजापति की दुहितायें कहा गया है।[6] जायसवाल सभा को राष्ट्रीय सभा की एक स्थाई संस्था मानते हैं।[7] ऋग वैदिक कालीन सभा में स्त्रियों को भी प्रतिनिधित्व प्राप्त था।[8] सभा जब भी किसी प्रशासनिक कार्य के लिए बुलाई जाती थी तो यह पूर्णरूपेण ब्राह्मणों एवं गुरुजनों द्वारा गठित की जाती थी।[9] उ०वै० काल में इसके स्वरूप में काफी कुछ पारिवर्तन आ गया। अब इस काल में महिलायें इसकी सदस्य नहीं होती थी।[10] साहित्य से पता चलता है, कि वासल मुखिया सभा में उपस्थित होते थे।[11] सभा के सदस्य बुद्धिमान एवं प्रभावशाली व्यक्ति होते थे।[12] बढ़ती हुई आर्थिक एवं सामाजिक असमानताओं के कारण इस काल में राजा सर्वोपरि हो गया एवं धनवान व समाज में उच्च्य स्थान रखने वाले लोगों

---

1. *अल्टेकर अनंत सदाशिव, स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एशियन्ट इंडिया पृ0 161*
2. *शर्मा, आर0एस0 ऐस्पेक्ट्स ऑफ पोलिटिकल आइडियाज एण्ड इन्स्टीटयूशन एन्शियन्ट इडिया पृ0 99*
3. *वही*
4. *मजूमदार, आर0सी0 द वैदिक एज, पृ0 356.*
5. *अल्टेकर अनंत सदाशिव, स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एन्शियन्ट इंडिया पृष्ठ-140*
6. *अथर्ववेद, 7, 12. 1 सभा चमां समितिश्चावतां प्रजापते र्दुडितरौ संविदाने*
7. *अल्टेकर अनंत सदाशिव, स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एन्शियन्ट इंडिया, पृ0 140*
   मजूमदार आर0सी, द वैदिक एज, पृष्ठ 356.
8. *ऋगवेद, I 167.3.*
9. *वही, II 24.14.*
10. *मैकडोनल एण्ड कीथ, वैदिक इन्डेक्स, II 427*
11. *शर्मा आर0एस0 ऐस्पेक्ट्स आफ पोलिटिकल आइडियाज एण्ड इन्स्टीट्यूशन्सइन एन्शियन्ट इंडिया पृ0 100*
12. *ऋगवेद, II.24.13.*

से इसका मेलजोल बढ़ने लगा।[1] सभा के सदस्य, पशुओं एवं रथों के स्वामी ही राजा के सलाहकार बन गये, अब राजा को इनकी सलाह पर निर्भर रहना पड़ता था।[2] राजा सभा में उपस्थित रहता था[3] एवं इसकी अध्यक्षता करता था। सभा में कई प्रस्तावों पर वाद-विवाद हुआ करता था, और इसमें जो निर्णय होता था वह सभी के ऊपर लागू होता था।[4] सभा न्यायिक कार्य भी करती थी।[5] कभी-कभी सभा में जादू-होने जैसे कार्य भी होते थे[6] उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर हम यह कह सकते है, कि सभा का महत्व राजनैतिक अधिक एवं सामाजिक कम था।

समिति : ऋगवेद के परवर्ती मंडलों में छः बार समिति का उल्लेख हुआ है।[7] लुडविग का कथन है कि यह निचले सदन की तरह थी जहॉ सामान्य लोगों का आना जाना था जो कि साधारण लोगों का एक उचित स्थान था।[8] जायसवाल का यह मानना है, कि यह एक राष्ट्रीय सभा थी।[9] ऐसा प्रतीत होता है, कि समिति एक वृहद जातीय संगठन थी। वैदिक साहित्य के अध्ययन से पता चलता है, कि स्त्रियों भी समिति में सम्मिलित होती थी।[10] उ० वैदिक काल में राजा एवं उसके परिवार के सदस्य समिति में अपना एक उच्च स्थान रखते थे।[11] समितिओं में राजनैतिक एवं दार्शनिक विषयों पर विस्तृत रूप से विचार विमर्श होता था।[12] समितियों में धार्मिक क्रियाकलाप भी विधिवत रूप से

---

1. *बंदोपाध्याय एन०सी०, डिवलपमेन्ट ऑफ हिन्दू पोलिटी एण्ड पोलिटिकल थ्योरीज, पृ० 113*
2. *शतपथ ब्राह्मण, III.3.4.14., अथर्ववेद, 7.12.2.*
3. *अथर्ववेद III.19.1. ऋगदेव, 10, 166.4.*
4. *अथर्ववेद, 7.12.2., जायसवाल के०पी०, हिन्दू पोलिटी, पृ० 19.*
5. *ऋगदेव, 10.71.10. जायसवाल के०पी०, हिन्दू पोलिटी, पृ० 19.*
6. *अथर्ववेद, 5, 31.6*
7. *शर्मा आर०एस० ऐस्पेक्ट्स आफ पोलिटिकल आइडियाज एण्ड इन्स्टीटयूशन्सइन एन्शियन्ट इंडिया पृ० 104.*
8. *मजूमदार, आर०सी०, द वैदिक एज, पृ० 356.*
9. *अल्टेकर अनंत सदाशिव, स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एन्शियन्ट इंडिया, पृ० 140-41*
10. *अथर्ववेद 7.10.5.*
11. *यून०एन० घोषाल, ए हिस्ट्री ऑफ हिंदू पब्लिक लाईफ, 1, 17, 10*
12. *वृहदरायण उपनिषद, 6,2.*

सम्पादित होते थे।[1] इसके सदस्य सैन्य कर्तव्य का पालन करते थे व राजा का चुनाव करते थे[2] और कभी-कभी जो मामले राज्य के हित में महत्वपूर्ण होते थे, उनका स्वयं ही निर्णय कर लेते थे।[3] राजा अपनी प्रतिष्ठा के कारण ही समिति में उपस्थित होता था।[4] इससे राजा को सहायता भी प्राप्त होती थी।[5] समिति राजा के प्रतिनिष्ठावान रहे, इसके लिए प्रार्थनायें भी की जाती थी।[6] यह तथ्य की राजा समिति की संस्तुति के बिना कोई भी सामुदायिक भूमि भेंट नहीं कर सकता, समिति की विशाल शक्तियों के विषय में बताता है।[7] समिति के एक ही विचारधारा के सदस्यों के मध्य सामंजस्य बनाये रखने के लिए प्रार्थनाएं भी की जाती थी।[8] समिति की राजसत्ता संदेहजनक थी।[9] परंतु समिति सभा के मुकाबले अधिक राजनैतिक एवं लोक प्रिय थी।

प्रारंभिक काल में सभा एवं समितिओं की बनावट एवं कर्तव्य एक थे, क्यों कि वे दोनों ही प्रजापति की दुहिताएं कही गयी है। सभा एवं समिति दोनों का ही सभा स्थल निश्चित नहीं था।[10] जायसवाल महोदय के अनुसार सभा एक स्थाई एवं चयनित खास व्यक्तियों का समूह था, जो समिति के आधीन कार्य करता था।[11] घोषाल के अनुसार सभा एवं समिति राष्ट्रीय सभाये थी।[12] प्रारंभिक समय में सभा जातीय एवं साधारण रूप में थी, परंतु बाद में ये गैर जातीय हो गई। परंतु समिति

---

1. *अर्थववेद, 18.1.26*
2. *ऋगवेद, 10.97.6. जायसवाल, हिंदू पोलिटी, पृ० 15.*
3. *बेनी प्रसाद, द थ्योरी ऑफ गवर्नमेन्ट इन एन्शियन्ट इंडिया. पृ० 17.*
4. *ऋगवेद, 10.166.*
5. *ऋगवेद 10, 196.4.*
6. *अथर्ववेद, 6. 88.3.*
7. *शतपथ ब्राह्मण, 7.1.1.4.*
8. *ऋगवेद, 10. 191.3.*
9. *जायसवाल के०पी० हिंदू पोलिटी, पृ० 12-13.*
10. *अथर्ववेद 15.9.*
11. *शर्मा आर०एस० ऐसपेक्ट्स ऑफ पोलिटिकल आइडियाज एण्ड इन्स्ट्रीटयूशन्स इन एन्शियन्ट इन्डिया पृ० 109*
12. *वही.*

सम्पूर्ण वैदिक एवं उ0वै0 काल में अपनी लोकप्रियता को बनाये रखने में सफल रही। लोग इन संस्थाओं को दैवीय, सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन के सम्यक मानते थे।

धर्मसूत्रों के काल से बहुत पहले ही सभा और समिति राजतंत्र के राजनैतिक क्षेत्र से विलुप्त हो गई, परंतु गणतंत्र में यह पूरे अधिकार एवं शक्ति के साथ कार्य करती रहीं।[1] गणतंत्रीय राज्यों के क्षेत्रीय हो जाने के उपरांत सभाओं का कार्य कठिन हो गया। इसका कारण संभवतः दूरियों के कारण सदस्यों का नियमित एवं बहुमत से न मिल पाना था। इस कारण से धीरे-धीरे सभा एवं समिति विलुप्त होती चली गई।

विदथ :- विदथ के प्रशासन में कम हस्तकक्षेप एवं अत्यधिक धार्मिक क्रियाकलापों में संलग्न रहने के कारण इसका राजनैतिक महत्व कम था[2] इस कारण हम इसके स्वरूप के संबंध में विस्तृत रूप से अध्ययन नहीं करेंगे। अब हम उन अंगों के संदर्भ में चर्चा करेंगे, जो केन्द्र सरकार के कार्य कलापों में उनके सहायक थे।

ऋगवेद एवं अर्थवेद से हमें राजा के मंत्रियों के विषय में बहुत अधिक जानकारी प्राप्त नहीं होती है। ऋगवेद में हमें तीन अधिकारियों का उल्लेख मिलता है वे थे सेनानी ग्रामीण एवं पुरोहित।[3] सेनानी सेना का अध्यक्ष एवं उपनायक होता था, वह राजा के साथ राज्य के दलों की अगुवाई करता था। शांति के समय वह संभवतः दीमवानी के कार्य करता था।[4] ग्रामीण संभवत गॉव का प्रधान व्यक्ति होता था, एवं उसे सेनापति का स्थान भी प्राप्त होता था। इसलिए वह दीवानी एवं सैन्य सबंधी कार्य करता था।[5] पुरोहित का कार्य देवताओं को अर्पित करने वाली बलियों से, एवं उसका ज्ञान व कौशल राजा की विजय सुनिश्चित करने के लिए बहुत मूल्यावान था[6] हमें गुप्तचर (स्पश)[7] एवं दूत[8] नामक

---

1. *रीज डेविड्स टी0डब्लू0, बुद्धिस्ट इंडिया, पृ0 10*
2. *अल्टेकर अनंत सदाशिव, स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एन्शियन्ट इंडिया, पृ0 141*
3. *अल्टेकर अनंत सदाशिव, स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एन्शियन्ट इंडिया, पृ0 311*
4. *स्टेट एण्ड गर्वनमेन्ट इन एन्शियन्ट इंडिया, पृ0 311*
5. *वही*
6. *वही पृ0 311-12.*
7. *मजूमदार आर0सी0 वैदिक एज, पृ0 360*
8. *वही*

अधिकारियों के सबंध में भी पता चलता है। गुप्तचर राजा द्वारा नियुक्त होते थे एवं उनका कार्य प्रजा व राज्य के विषय में राजा को सूचना देना था दूत भिन्न-भिन्न राज्यों के मध्य संचार का प्रमुख साधन था।

रत्निन : संहिताओं एवं ब्राह्मण ग्रन्थों में हमें कुछ उच्च अधिकारियों का उल्लेख मिलता इन ग्रन्थों में इन अधिकारियों को रत्निन कहा गया है। जिनके नाम निम्नलिखित है ब्राह्मण, राजन्य, महिर्षी परिवृक्ति, सेनानी, सूत ग्रामणी, क्षतृ संग्रहीत भागदुध, असावाप, ववाता, पालागत आदि।[1] रत्नियों की सूची में राजा के संबंधी, मंत्री, विभागाध्यक्ष एवं दरवारीगण आते थे।

उत्तर वैदिक काल में राजा सिंहासन प्राप्ति के लिए रत्नहवींषि संस्कार जो कि राजसूय यज्ञ का ही एक अंग होता था, किया करता था। इस रत्नहवींषि संस्कार में राजा को रत्निनों के घर स्वयं जाना पड़ता था, तथा वहॉ वह हवि आर्पित करता था। दी गई संहिताओं और ब्राह्मणों की सूची में दस रत्निनों के नाम समान रूप से मिलते हैं। वे है ब्राह्मण/पुरोहित, महिषी परिवृक्ति, सेनानी, सूत, क्षत्ता, संगृहीता, भागदुध एवं आक्षावाप। राजन्य का संदर्भ चार कृतियों, गोविकर्ता का उल्लेख तीन कृतियों, तक्षण, ववाता, पालागल, याजक, रथकार का उल्लेख एक ही बार मिलता है।

इस काल में ब्राह्मण को अत्यधिक महत्व प्राप्त था। वह युद्ध में राजा की विजय के लिए प्रार्थना प्रार्थना करता था, जिसके लिए वह देवताओं को आर्पित करने वाले भोग को देवताओं तक पहुंचाता था।[2] पुरोहित बहुत विद्वान होता था। वह राजा का पथप्रदर्शक होता था वह कानून का भी ज्ञाता होता था। वह राज्य एवं राजा के प्रति अपनी निष्ठा एवं कौशल के लिए जाना जाता था।[3] चूंकि वैदिक काल में धार्मिक अनुष्ठानों में बृध्दि हो गई थी, इसीलिए इस काल में इनका अत्यधिक महत्व बढ़ गया था। जब समाज में जैन एवं बौद्ध धर्म की बढ़ोत्तरी हुई, तो इनके प्रभाव में कमी आई। महर्षि प्रधान महारानी होती थी।[4] वह भूमि, गाय एवं मां के प्रतीक के रूप में जानी जाती थी। इनमें पालन पोषण की पूर्ण क्षमता थी।[5] उ०वै० काल में उसकी सामाजिक स्थिति मातृत्व के महत्व को दर्शाती है इसके यहॉ राजा अदिति को छवि अर्पित करता था।

---

1. *शर्मा रामशरण, प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ, (977), पृ० 138*
2. *मेकडोनल एण्ड कीथ, वैदिक इन्डेक्स, 2 पृ० 261*
3. *मुकर्जी आर०के० हिंदू सिवलाई जेशन, पृ० 79.*
4. *जायसवाल के०पी० हिंदू पोलिटी, पृ० 201*
5. *सतपथ ब्राह्मण, 5.3.1.1.3.*

परिवृक्ति ऐसी रानी थी, जिससे राजा को पुत्र प्राप्ति नहीं होती थी। राजा परिवृक्ति के पास नेत्रृत्य के लिए बलि अर्पित करने जाता था, राजा उसके पास इसलिए जाता था, ताकि वह जो उसे बलि अर्पित करे तो वह अर्पित हवि राजा के ऊपर आने वाली विपत्ति से उसकी रक्षा करे।[1] राजा को शासन संचालन के लिए परिवृक्ति की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। परंतु ऐसा विश्वास किया जाता था, कि परिवृक्ति द्वारा राजा को हानि पहुँचाई जा सकती थी।

सेनानी सेना का अध्यक्ष होता था।[2] इसका स्थान राजा के विश्वास पात्र लोगों में था, इसका कारण संभवतः यह था, कि वह राजा के निर्देश पर राज्य की रक्षा करता एवं राज्य की सीमाओं में बढ़ोत्तरी करता था। साधारणतयः सेनानी क्षत्रिय वर्ग का होता था, इस कारण वह सैन्य संलग्न एवं इसके अन्य कामों की देखभाग करता था।[3] शतपथ ब्राह्मण में उसे रत्नियों की सूची में प्रथम स्थान दिया गया है, जो उस काल में उसके बढ़ते प्रभाव की दर्शाता है सेनानी की राजा हिरण्य (स्वर्ण) के रूप में छवि करता था।[4] हमें सूत्र की अनेक शब्दों में व्यस्था मिलती है। जैसे-रथ सेना का सेना नायक,[5] रथकार,[6] स्थापति[7] भाट[8] इसमें स्थपति की व्याख्या हमें कई रूपों में मिलती है, जैसे शिल्पकार, बढ़ई, चक्रनिर्माता, मूर्तिकार, मुख्य न्यायधीश, क्षेत्रीय मुखिया या राज्यपाल[9] सूत का महत्व शांति काल एवं युद्ध काल दोनों में ही था[10] उ0वै0 काल में इसके पद में बहुत गिरावट आई इसका कारण संभवतः यह था, कि उसके कर्तव्य एक सारथी व रथकार दोनों के ही तरह थे, और यह दोनों

---

1. *वही, 5.3.1.4*
2. *वही, 5.3.1.1.*
3. *मुकर्जी आर0के0 हिंदू सिवलाईजेशन, पृ0 102-103.*
4. *शतपथ ब्राह्मण 5.3.1.13.*
5. *घोषाल यू0एन0 हिस्टोरियोग्राफी एण्ड अदर एसेज, चार्ट अपोजिट, पृ0 249*
6. *शतपथ ब्राह्मण, 5.3.1.5.*
7. *शर्मा आर0एस0, ऐसपेक्ट्स ऑफ पोलिटिकल आइडियाज एण्ड इन्स्टीटयूशन्सइन एन्शियन्ट इंडिया पृ0 140*
8. *शतपथ ब्राह्मण, 5.4.4. 17-18.*
9. *अल्टेकर अनंत सदाशिव, स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इंडिया, पृ0 162.*
10. *रायचौधरी, एच0सी0, पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्शियन्ट इंडिया पृ0 166.*

कर्तव्य शारीरिक श्रम में अधिक सबंधी थे। यदि हम उ0वै0 काल के पूर्व के वर्षो में देखें तो हमें पता चलता है, कि यह एक महत्वपूर्ण अधिकारी था। और राजा इसकी सेवायें ग्रामणी के साथ एक राजकीय सहायक के रूप में (उपस्तिन)[1] लेता था। राजा सूत को जौ (पव) के बने हुए भोजन के रूप में हवि आर्पित करता था।[2] राजा सूत के घर जाकर वरूण के लिए हवि अर्पित करता था। ग्रामीण भी युद्ध भूमि में राजा के सहायक के रूप में उपस्थित रहता था वह युद्ध भूमि में एक ग्राम प्रधान और मेजबानों का मुखिया होता था जायसवाल का यह मत है, कि ग्रामणी नगर में निवास करने वाले लोगों का मुखिया था, परंतु उनके इस को मान्यता नहीं प्राप्त हुई[3] क्योंकि उसका संदर्भ वैश्य ग्रामणी के रूप में दो संहिताओं में आया हैं, इसलिए उसका विश का मुखिया[4] था वैश्य जाति[5] से संबधित माना जाता था। वह राजा के लिए कर वसूलने का कार्य करता था। इसमें संदेह है।[6] ग्रामणी के संदर्भ में सबसे उत्तम निष्कर्ष यही निकाला जा सकता है, कि वह राज्य के ग्राम प्रधानों में श्रेष्ठ था। वह राज्य के अधिकारों का मुख्य स्त्रोत था। ग्रामीण को स्थानीय शासन को चलाने की जिम्मेदारी सौंपी गई थी। परंतु उसके पास दीवानी के मुकाबले सैन्य शक्तियां कम थी।

क्षत्ता राजभवन का एक प्रधान कर्मचारी था।[7] और उ0वै0 काल के आखिरी वर्षो में सूत्र की तरह इसके पद में भी गिरावट आई क्षत्ता को अनद्वान (बैल) के रूप में छवि अर्पित की जाती थी।

---

1. *अथर्ववेद III.5.7.*
2. *शत0ग्र0 5.1.1.13.*
3. *जायसवाल के0पी0 हिंदू पोलिटी, पृ0 202.*
4. *शर्मा आर0एस0, एसपेक्ट्स ऑफ पोलिटिकल आइडियाज एण्ड इन्स्टीटयूशन्स इन एन्शियन्ट इंडिया, पृ0 141*
5. *अल्टेकर अनंत सदाशिव, स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एन्शियन्ट इंडिया, पृ0 162.*
6. *शर्मा आर0एस0 ऐसपेक्ट्स ऑफ पोलिटिकल आइडियाज, एण्ड इन्स्टीयटयूशन्सइन एन्शियन्ट इंडिया पृ0 141.*
7. *जायसवाल के0पी0 हिंदू पोलिटी, पृ0 202.*

रत्निनों की सूची में संग्रहीता, अर्थशास्त्र के सन्निधाता का[1] अग्रदूत था। जायसवाल के अनुसार वह कोश की देखभाल करता था[2] उसको राज्य की नकेल को अपने वश में (चालक)[3] रखने वाला कहा गया है। इस कारण वह राजा की सेवाओं में एक कनिष्ठ सारथी के रूप में दर्शाया गया है। इस समय गोहरण संस्कार को करने के लिए रथों का बहुत महत्व था, इस कारण रथ निर्माताओं को समाज में बहुत सम्मान प्राप्त था। इसके घर जाकर राजा अश्विनों के लिए छवि अर्पित करता था। और दो गोओं के रूप में हवि अर्पित की जाती थी।

भागदुध भगवान पूषण की तरह भाग के बाटने वाला था।[5] वह राजा के अधिकारियों और कर्मचारियों के द्वारा लूट से प्राप्त माल को बाटता था। ऐसा माना जाता है, कि वह राजकीय भाग अर्थात कर[6] को संग्रहित करता था। भागदुध मौर्य काल के समाहर्ता का अग्रदूत था।[7]

आक्षावाप पासा को रखने वाला था। वह जुओं की मेंज पर राजा का सहचर था।[8] वह खेलकूद एवं मनोरंजन की व्यवस्था करता था।[9] ऐसा भी अनुमान है, कि वह राज्य के सचिवालय का व्यवस्थापक था, हालांकि यह गलत है।[10]

---

1. *जायसवाल के0पी0 हिंदू पोलिटी, पृ0 202.*
2. *वही*
3. *वही*
4. *शपथ ब्राह्मण 5.4.3.*
5. *वही, I.1.2.17.*
6. *रायचौधरी, एच0सी0 पोलिटिकल हिस्ट्री आफ एन्शियन्ट इंडिया. पृ0 166.*
7. *वही*
8. *वही*
9. *शर्मा आर0एस0, एसपेक्ट्स आफ पोलिटिकल आइडियाज एण्ड इन्स्टीटॅयूशन्स इन एन्शियन्ट इंडिया पृ0 142.*
10. *जायसवाल के0पी0, हिंदू पोलिटी, पृ0 202-203.*

गोविकर्ता शिकार के समय राजा का सहयोगी होता था इस कारण इसे प्रमुख शिकारी भी कहा जाता था।[1] गोविकर्ता का प्रमुख कार्य खेती को हानि पहुँचाने वाले जंगली पशुओं का विनाश करना भी था[2]

तक्षा एक बढ़ई था![3] तथा रथकार रथनिर्माता था।[4] पूर्व वैदिक काल में वह एक महत्वपूर्ण अधिकारी था, चूंकि उस समय हमारी सामा० व्यवस्था शुरूआती दौर में थी, और कारीगर अभिन्न थे।[5] धातु के कार्य करने में इनकी कुशलता महत्वपूर्ण थी।[6] परंतु शतपथ ब्राह्मण की रत्निनों की सूची में रक्षकार एवं तक्षा के विलुप्त होने के कारण हम यह कह सकते है, कि बाद के कालों में ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ग को अत्यधिक महत्व प्राप्त होने लगा। जिसके कारण शरीरिक श्रम से सबंधित शिल्पियों के प्रति तिरस्कार भाव की भावना बढ़ने लगी।

पलागल एक दूत[7] था वह लाल रंग की पगड़ी, धनुषवाण और चर्म धारण करता था।[8] ववाता राजा की प्रिय रानी थी राजन्य व याजक के पदों को सुनिश्चित करना कठिन है रत्निन की राजनीतिक

---

1. *रायचौधरी एच०सी० पोलिटिकल हिस्ट्री आफ एन्शियन्ट इंडिया पृ० 166.*
2. *विद्यालंकार सत्यकेतु. प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था और राजशास्त्र, पृ० 51*
3. *शर्मा आर०एस० ऐस्पेक्ट्स ऑफ पोलिटिकल आइडियाज एण्ड इन्स्टीट्यूशन्सइन एन्शियन्ट इंडिया, पृ० 143*
4. *वही.*
5. *गोल्डन वाइजर ए०, एन्थ्रोपोलोजी, पृ० 386*
6. *आपस्तम्ब श्रौत सूत्र, पृ० 18.10.17.*
7. *वही. 10.26.*
8. *शतपथ ब्राह्मण 5.2.5.11. "उक्ष्णवेस्टितं धनुश्चर्ममया बाणवन्तो लोहित उस्णीय एतद्हि टस्य भर्वात्।"*

महत्वा थी,[1] और उसको राजकृत था राजकर्ती संदर्भित किया गया है।[2] रत्निन राज्य की शक्ति के प्रमुख अंग थे[3] रत्निन के योग्य होने पर ही राष्ट्र का गौरव बढ़ता था।[4] रत्निन राजा के पद को शक्ति प्रदान करते थे, व राजा में एक शासक के किस प्रकार के संस्कार होने चाहिये, इसको डालते थे।[5] रत्निन की संवैधानिक स्थिति के बहुत स्पष्ट न होने पर भी यह पता चलता है, कि वह प्रशासनिक तंत्र के एक अभिन्न अंग थे।[6] यद्यपि जायसवाल महोदय का यह मत है, कि रत्निन एक उच्च्य अधिकारी थे,[7] परंतु उनके पदों की स्थिति को पूर्णरूपेण सुनिश्चित करना कठिन है।[8]

एक अन्य महत्वपूर्ण बात जो कि रत्निनों की सूची में हमें मिलती है, वह है, इसमें स्त्रियों को प्राप्त होने वाला स्थान! तै०सं०, मै०सं०, का०सं० शत०ब्रा० में दो स्थान पर तथा तैत्तरीय ब्राह्मण में तीन स्थानों पर रत्निन स्त्रियों का उल्लेख मिलता है। राजनैतिक महत्व प्राप्त संस्कार में एक दर्जन रत्नियों में रत्नियों स्त्रियों का उल्लेख मिलता है। राजनैतिक महत्व प्राप्त संस्कार में एक दर्जन रत्नियों में स्त्रियों को दो या तीन स्थान प्राप्त होना उनकी पूर्व वैदिक कालीन स्थित पर प्रकाश डालती थी। परंतु धीरे-धीरे उ० वै० काल में उनके महत्व में कमी आने लगी। उनके महत्व में कमी आने का एक प्रमुख कारण राजा द्वारा अनेक विवाह करना था। रत्निन सम्मलित रूप से राज्य परिषद[9] की तरह कार्य करते थे, और किसी नियमित परिषद की तरह राजा को अपनी सलाह व सहायता प्रदान करते थे।

---

1. *जायसवाल के०पी० हिंदू पोलिटी, पृ० 203-204.*
2. *रामायण, II.43.2. व्यतीतायां तु शर्वयोमावित्यस्योदये ततः।*
   समेत्य राजकर्तारः सभामीयुर्द्धि जात्यः।।
3. *मैत्रयणी संहिता. 4.9.8.*
4. *वही*
5. *पंचविंश ब्राह्मण, 19.1.41.*
6. *घोषाल यू०एन० हिस्ट्रोरियोग्राफी एण्ड अदर एसेज, पृ० 255.*
7. *वही, 203.*
8. *वही, 255.*
9. *पंचविंश ब्राह्मण, 19, 1.4.*

ऋगवैदिक काल की तुलना में उ0वै0 काल में काल में संगठनात्मक तंत्र का ज्यादा विकास हुआ था। ऋगवैदिक काल की जातीय प्रजातांत्रिक व्यवस्था आर्यो की आवश्यकताओं के लिए अपर्याप्त साबित हुई, क्योंकि ये स्थाई हो गई गये थे और काफी दूर-दूर तक ये फैल गये थे। चूंकि अब लोगों की आवश्यकताये बढ़ गई थी इसी कारण इन आवश्यकताओं के लिए नये अधिकारियों की लोगों की व्यवस्था सहीं ढंग से चलाने के लिए आवश्यकता थी। रत्नियों की परिषद में सभी वर्णो और सामाजिक समूहों को प्रतिनिधित्व प्राप्त हुआ था।[1] यह बतलाना कठिन है, कि रत्निन निर्वाचित होते थे या वंशानुगत। रत्न हविंशी संस्कार एक विकसित राजनैतिक, सामा0 एवं आर्थिक संगठन की उत्पत्ति थी, जहॉ की जातीय और मातृत्व संबंधी अंशों में गिरावट आई, जब कि वर्ग जागरूकता, क्षेत्रीयता एवं पैतृक तत्वों का विकास हो रहा था। आधा दर्जन रत्नियों की उपस्थिति, जो कि सैन्य कर्तव्यों से जुड़े थे, यह सिद्ध करता है, कि मूल रूप से राजा एक सैन्य अधिकारी था। एक जिज्ञासा पूर्ण प्रक्रिया कि राजा रत्नहविंशी संस्कार के अवसर पर बलि अर्पित करने के लिए रत्नियों के घर जाता था इस बात को सिद्ध करती है, कि एक नया सामंती वर्ग जो कि राजकीय सेवकों से था, वंशगत सामंती व्यवस्था के स्थान में न सही परंतु उसके साथ उत्पन्न हुआ था।[2] यह एक ऐसा परोक्ष साक्ष्य है, जिससे हमें एक कुशल प्रशासनिक व्यवस्था के विषय में पता चलता है।

धीरे-धीरे समाज से रत्निन की धारणाएँ वैदिक यज्ञों के समान ही विलुप्त होती चली गई। राज्य की सीमाओं के विस्तार होनें से राज्य की जिम्मेदारियों में भी बढ़ोत्तरी होती चली गई।[3] रत्निन अपने कार्यो का निर्वाहन करने के लिए बिना एक प्रभावशाली समूह को छोड़ विलुप्त नहीं हुए, जो

---

1. *मुकर्जी आर0के0 हिंदू सिवलाई जेशन, पृ0 96, 124, के0पी0 जायसवाल. हिंदू पोलिटी, पृ0 194-95.*
2. *मजूमदार आर0सी0, द वैदिक एज, पृ0 436.*
3. *मुकर्जी आर0के0 हिंदू सिवलाईजेशन, पृ0 111.*

कि मंत्रि परिषद[1] कहलाई, और जिसके सदस्य मंत्री, आमात्य या सचिव[2] कहलाते थे। ऐसा प्रतीत होता है, कि महाभारत के युद्ध ने (1000 ई0पू0)[3] भारत की राजनैतिक व्यवस्था पर बहुत गहरी छाप छोड़ी। देश बेकार के संसाधनों से ऊब चुका था, और उत्तर भारत बहुत से राजतंत्रीय एवं अराजतंत्रीय राज्यों में विभाजित हो गया था।[4] धार्मिक क्षेत्र में भी बहुत से परिवर्तन हुए, अब लोगों का बलियों एवं यज्ञ की महत्ता पर उतना विश्वास नहीं रह गया था।[5] इन परिवर्तनों ने दो धर्मो (जैन, बौद्ध) की उत्पत्ति के लिए अनुकूल वातावरण प्रदान किया। इस समय राजनैतिक क्षेत्र में परिवर्तन हुए। मगध राज्य में बिम्बसार (520 ई0पू0) ने धीरे-धीरे अपनी शक्ति एवं सीमाओं के क्षेत्र का विस्तार किया। तथा 450 ई0पू0 तक उसने, काशी, कोशल, अंग व विदेह राज्यों को मंगध में समाहित कर लिया।[6] मगध साम्राज्य के संस्थापक जैन व बौद्ध धर्म (महावीर स्वामी, गौतम बुद्ध) के संस्थापकों के समकालीन थे। इसके पश्चात् नंद वंश का उदय हुआ, इस वंश के शासन काल में भारत विदेश के सम्पर्क में आया। जिस समय अलेक्जेन्डर ने भारत में आक्रमण किया था, उस समय सम्पूर्ण गंगा का दोआव नंदों के अधिपत्य में था। प्राचीन भारतीय राजनैतिक विचारकों द्वारा मंत्रिपरिषद या सलाहकारों की परिषद को राजनैतिक व्यवस्था एवं अच्छी शासन व्यवस्था का महत्वपूर्ण और आवश्यक अंग माना गया है।[7] मगध के अति प्राचीन वंश में अजात शत्रु ने वस्साकार को महत्वपूर्ण पद प्रदान किया था।[8] जातकों में भी कई स्थानों पर मंत्रियों का उल्लेख मिलता है।[9]

---

1. *हिंदू सिवलाईजेशन, पृ0 82.*
2. *काणे पी0वी0 धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-2. पृ0 623*
3. *अल्टेकर अनंत सदाशिव, स्टेट गवर्नमेन्ट इन एन्शियन्ट इंडिया, पृ0 395.*
4. *रीज डेविड्स, टी0डब्लू0, बुद्धिस्ट इंडिया, पृ0 9.*
5. *महा0 शांतिपर्व, 272. 1-20.*
6. *अल्टेकर अनंत सदाशिव, स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एन्शियन्ट इंडिया, पृ0 315.*
7. *अर्थशास्त्र.1.6. सहायसाध्यं राजत्वं चक्रमकें न वर्तते।*

   कुर्वीत सचिवांस्तमात्तेषां च श्रृणुयान्मत्रम्।
8. *रीड डेविड्स, 1. डायलाग्स आफ द बुद्ध, 2.पृ0 78*
9. *जातक, नं0 528, 533*

मंत्रिपरिषद के सदस्यों की संख्या में बाद के कालों में परिवर्तन हुआ। महाभारत में भीष्म ने एक ऐसी सभा का वर्णन किया है, जिसके सदस्यों की संख्या 47 होती थी, और जिसें जनता के चारों वर्णो को प्रतिनिधित्व प्राप्त था। इसमें चार ब्राह्मण, अठारह क्षत्रिय, इक्कीस वैश्य, और तीन शूद्र और एक सूत था[1] प्रजा में वैश्य कर्म अर्थात कृषि, पशुपालन और वाणिज्य सबसे अधिक होता था, इसलिए उसके प्रतिनिधियों की संख्या सबसे अधिक रखी गई। शूद्रों को भी मंत्रिपरिषद में स्थान मिला, अर्थात इस काल में शूद्रों की इतनी उपेक्षा नहीं की जैसे कि उनकी बाद के कालों में हुई।[2]

परिषद :-

प्रथम बार परिषद शब्द का उल्लेख हमें ऋगवेद[3] में मिलता है। जहॉ इसकी प्रकृति सैन्य प्रतीत होती है। परंतु इसका महत्व सैन्य रूप में ही नहीं, अपितु धार्मिक व राजकीय सभा के रूप में भी मिलता है।[4] शतपथ ब्राह्मण में इसे एक कुल सभा के रूप में दिखाया है, जिसकी अध्यक्षता राजा करता था।[5] कभी-कभी स्त्रियाँ भी परिषद की सदस्य होती थी।[6]

---

1. *महा० शांतिपर्व, 85. 7-8*

   चतुरो ब्राह्मणान वैद्यान्प्रगल्भान्स्नात्रकात्र् शुचीन।

   क्षत्रियान् दश चाष्टौ च बलिनः शस्त्रपणिनः।

   वैश्यान्विहतेन संपन्नानेक विंशति संख्यया।

   त्रींश्च शूद्रान्विनीतांश्च शुचीन्कर्मणि पूर्वक।

2. *जायसवाल के०पी० हिंदू पोलिटी, पृ० 195, 281, 307.*
3. *ऋगदेव, III.33.7.*
4. *ब्रह्मसाण्ड. पुराण, II. 12.22.*
5. *शतपथ ब्राह्मण, 14.9.1.1.*
6. *महाभारत. 9.47.*

उ0वै0 काल में परिषद विद्वानों एवं राजदरबार के अधिकारियों की एक खास सभा के रूप में कार्य करती थी। और दोनों पर ही पुरोहितों का वर्चस्व रहता था।[1] धर्मशास्त्र के अनुसार परिषद पुरोहितों की एक सभा थी।[2]

परिषद का प्रमुख कार्य क्लिष्ट कानूनी मामलों में राजा को परामर्श देना होता था। ऐसा प्रतीत होता है, कि परिषद राजनैतिक सामाजिक, न्यायिक व धार्मिक मामलों की सलाहकारों की एक आम सभा थी। परिषद का महत्व इस संदर्भ से प्रतीत होता है, जहाँ पर राजा को एक परिषद वाला (जिसकी शक्ति परिषद में थी[3]) कहा गया है। जायसवाल महोदय का यह कथन है, कि मंत्रि परिषद समिति[4] व रत्निन की प्रमुख हिस्सा थी।[5] मंत्री अपनी ईमानदारी एवं सत्यनिष्ठा के लिए जाने जाते थे, और उनसे यह अपेक्षा की जाती थी कि वह राज्य के सभी मामलों में राजा को अपना परामर्श प्रदान करें।[6] यह भी सुनिश्चित है, कि प्राचीन समय में मंत्री, राजा सभा एवं समिति के विश्वासपात्र थे।[7] हमें इस बात के लिए कोई भी स्पष्ट संकेत नहीं मिलता मंत्री परिषद के पद के लिए कोई निश्चित योग्यता होता थी या नहीं।[8] चूंकि सम्पूर्ण प्रशासनिक स्वरूप मंत्रियों के कार्य क्षेत्र में सम्मलित था, अतः मंत्री आपस में ही अपना कार्य बांट लेते थे। इस संदर्भ में हम पुरोहित एवं कोषाधिकारी (संग्रहीता)[9] का उल्लेख कर चुके है। मंत्री महत्वपूर्ण व्यक्ति होते थे, और यह युवराज की नियुक्ति

---

1. *पारस्कर गृहसूत्र, 3.13.4.5*
2. *गौतम धर्म सूत्र, 18.50.51*
3. *पणिनी, 5.2.112*
4. *ऋगवेद, 6.28.6.*
5. *जायसवाल के0पी0 हिंदू पोलिटी, पृ0 194*
6. *महाभारत, शांतिपर्व, 83,48.*
7. *ऋगवेद, 6.28.6.*
8. *रामायण, 2.100.15, महा0 शांतिपर्व, 80.22.29.*
9. *शतपथ ब्राह्मण, 5.3.1.2.8.*

में हस्तक्षेप रखते थे।[1] हमें ऐसे कई उदाहरण मिलते है, जिससे पता चलता है, कि राजा को मंत्री परिषद की इच्छाओं के समक्ष झुकना पड़ता था, और मंत्री राजा की पसंद को स्वाकार करे यह आवश्यक नहीं था।[2]

बिम्बिसार ने अपने योग्य मंत्रियों की सहायता से ही सफल मगध साम्राज्य की नीव डाली थी। एक साधारण प्रशासनिक अधिकारियों के वर्ग को मगध के प्रथम सम्राट बिम्बिसार ने बनाया।[3] विम्बिसार ने न्याय पालिका को अलग कर इसे पदाधिकारियों एवं न्यायधीशों (वोहारिक महामात्य)[4] के साथ जोड़ दिया। उसने सड़क निर्माण, पुल निर्माण एवं उनके रखरखाव के लिए सार्वजनिक निर्माण विभाग (पी०डब्लू०डी०) की स्थापना की[5] नंद वंश में भी योग्य मंत्रियों की एक संस्था था, परंतु वही बाद में इस वंश के पतन के लिए उत्तरदायी रही है।

केन्द्रीय सचिवालय एवं उनके विभाग :

यह एक धारणा थी, कि राजा एवं उसके मंत्री परिषद के सदस्य केवल केन्द्रीय सचिवालय और विभागों के अध्यक्षों के दिये गये निर्देशों पर ही कार्य करते थे। वैदिककाल में सचिवालय का उचित विकास न होने का प्रमुख कारण इस काल में लेखन कला की अनभिज्ञता थी। जो भी राजकीय आदेश दिये जाते थे, वे संदेश वाहकों द्वारा मौखिक रूप में भिजवायें जाते थे। राज्यों के छोटे होने के कारण यह कार्य इतना कठिन नहीं था। हमें ऐसा कोई साक्ष्य नहीं मिलता जिससे यह पता चलता है, कि पूर्व वैदिक काल में राज्य संचालक के लिए केन्द्रीय सचिवालय के व्यवस्था रही हो। जब राज्यों के आकर बहुत बढ़ गए, व राज्य-महाराज्य में परिवर्तित हो गए, तब एक केन्द्रीय सचिवालय की स्थापना पर

---

1. *रामायण. 2.1.42.*
2. *महा०, शांतिपर्व, 64.4.*
3. *मजूमदार आ०सी०, द एज आफ इम्पीरियल यूनिटी, पृ० 21*
4. *वही.*
5. *वही*

ध्यान दिया गया। कुछ उदाहरण हमें इस बात के लिए संकेत करत हैं, कि लेखागार के कार्य इन अभिलेखों को संभाल कर रखना था।[1]

प्राचीन समय में लेखन क्रिया का अत्यधिक विकास न हो पाने के कारण इसका प्रयोग भी बहुत कम हुआ इस कारण हमें पुरातात्विक इतिहास की कोई लिखित जानकारी नहीं प्राप्त हो पाती है। कुछ इतिहासकारों का कथन है, कि लोगों को लेखन कला आती ही नही थी।[2] दूसरा कारण वो यह बताते है, कि लोगों में व्यवसाय करने की आदत नहीं थी।[3] और उस समय प्रचलित करों को वे या तो नकद रूप में लेते थे या अन्य प्रकारों से।[4] इस समय राजा जो भी आदेश देता था वह मौखिक ही होता था।[5] इस कारण इस काल में बहुत ज्यादा अधिकारियों की नियुक्ति आवश्यक नहीं थी। न्याय प्रदान करना राजा का एक प्रमुख कर्तव्य था,[6] परंतु इस समय राजा के पास छोटे-छोटे फैसले ही आते थे, क्योंकि अपराध बहुत कम होते थे।[7] राजा तक पहुंचने से पहले अपराध पर ग्राम सभा या ग्राम का बुजुर्ग व्यक्ति[8] अपना फैसला सुनाता था, उस निर्णीत फैसले के आधार पर ही राजा को अपना फैसला देना पड़ता था।

प्रांतीय, जिला एवं ग्राम प्रशासन :-

उ० संहिताओं एवं ब्राह्मण काल के वृहद सीमाओं के राज्यों से प्रातीय, जिला एवं स्थानीय अधिकारियों की पूर्व कल्पना का आभास होता है। परंतु हमें उन स्थानीय अधिकारियों के विषय में

---

1. *मजूमदार आर०सी०, द एज आफ इम्पीरियल यूनिटी. पृ० 323-24.*
2. *मुकर्जी आर०के० हिंदू सिवलाईजेशन, पृ० 107.*
3. *मजूमदार आर०सी०, द एज, पृ० 399-400,530.*
4. *ऋगवैदिक कल्चर, पृ० 320.*
5. *अल्टेकर अनंत सदाशिव, स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एन्शियन्ट इंडिया, पृ० 176.*
6. *वही पृ० 247.*
7. *दास ए०सी०, ऋगवैदिक कल्चर, पृ० 227-32.*
8. *जायसवाल के०पी०, हिंदू पोलिटी, पृ० 18-19.*

बहुत कम जानकारी प्राप्त होती है। उनमें से दो स्थानीय अधिकारियों ग्रामणी और स्थापति का हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं राजा ग्रामणी से अपना संपर्क या तो संदेश वाहकों को माध्यम से या स्वयं उनके पास तक जाकर करता था।

महाभारत से राज्य के शासन प्रबंध की महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। शांतिपर्व के अनुसार प्रत्येक ग्राम में एक अधिपति नियुक्त किया जाय। तदुपरांत दस, बीस, सौ और एक हजार ग्रामों के शासक नियुक्त किये जायें। ग्राम के शासक को ग्रामिक, दस ग्रामों में शासक को दाशिक, बीस ग्रामों के शासक को विंशाधिप सौ ग्रामों, के शासक को शतपाल और हजार ग्रामों के शासक को सहस्त्रपति कहा जाता था।[1] जनपद या राष्ट्र के अंतर्गत जो नगर आते थे, उनके लिए एक-एक सवार्थ चिन्तक की नियुक्ति की जाती थी।

मागध वंश के शासक बिम्बिसार और अजातशत्रु के काल में प्रांत साधारणतयः एक राजकीय प्रतिनिधि शासक के आधीन होता था।[2] ग्रामीण केन्द्रीय सरकार के प्रत्यक्ष संपर्क में रहते थे। इस बात का अनुमान हम इस प्रकार लगा सकते है, कि बिम्बिसार के राज्य में आठ हजार, ग्रामीणों की एक सभा को बुलाया गया था।[3]

---

1. *महा० शांतिपर्व- अध्याय. 87-3-*

   ग्रामस्याधिपतिः कार्यो दशग्राम्यास्तथा परः।ख्रिगुषायाः शतस्यैव सहस्तस्य च करायेत।।3.

   ग्रामीयान् ग्रामदोषांश्र ग्रमिकः प्रतिभावयेत्। तान ब्रूयाद दशपाओं स तु विंशातिपाय वै।।

   सोडपि विंशत्यधिपति वृत्तं जानपदे जने। ग्रामाणां शतपालाय सर्वभेद निवेदयेत्।।5.

   यानि ग्राम्याणि भोज्यानि ग्रामिकस्तान्युपाश्रियात्। दशपस्तेन भर्तत्य स्तेनापि ख्रिगुणाधिपः दि

   ग्रामं ग्रामशताध्यक्षो भोक्तुमर्हति सत्कृतः। 7

   शाखानगरमर्हस्तु सहस्त्रपतिरूत्तमः।।8 धान्य हैरण्य भोगेन भोक्तुं राष्ट्रियसडगतः। तेषां संग्रामकृत्यं स्याद ग्रामकृत्यं च तेषु यत्।। 9.

2. *रायचौधरी एच०सी०,. पो०हि०ए०इं०पृ० 207*

3. *वही*

गणतंत्र : पौराणिक ग्रन्थ, जैन एवं बौद्ध साहित्य, पाणिनी, यूनानी लेखक आदि ये पुष्ट कर चुके है, कि हम जिस काल की समीक्षा कर रहें है, उस काल में कुछ राज्यों में गैर राजतंत्रीय शासन भी प्रचलन में था।[1] ये शासन प्रणाली उत्तर एवं दक्षिण भारत दोनो ही में प्रचलित थी।[2]

विश्वसनीय एवं पर्याप्त आंकड़ो की कमी से लेखकों के लिए इन गैर राजतंत्रीय राज्यों के विषय में जानने के लिए कठिनाई पड़ती है। हमकों गणतंत्रों के संविधान एवं कार्यकलापों के विषय में बहुत कम जानकारी प्राप्त हो पाती है, जिस आधार पर हम यह कह सकते है, कि गणतंत्रात्मक राज्यों में वंशानुगत राज प्रणाली प्रचलित नहीं था।[3]

गण शब्द का एक संवैधानिक महत्व था, और एक ऐसे शासन की ओर इंगित करता था जहॉ की शक्ति व्यक्ति के हाथ में न होकर गण या व्यक्तियों के समूह में होती थी।[4] इसको एक जातीय संगठन एक अल्पतंत्रीय, एक गणतंत्र और एक कुलीन तंत्र के रूप में दर्शाया गया है। इन राज्यों में शक्ति एक छोटे एवं धनवान कुलीन वर्गो के अधिकार में होती थी।[5] गणतंत्र मुख्यतयः दो वर्गो में विभाजित था, उदाहरण के लिए एक वह वर्ग वो जो कि सम्पूर्ण या एक कुल द्वारा निर्मित था, और दूसरा वह वर्ग जिसमें कई कुल सम्मलित थे।[6]

गणतंत्रों की उत्पत्ति :

गण शब्द का उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में अनेक बार हुआ है। जायसवाल महोदय का यह कथन है कि यह एक सभा या एक ऐसा राज्य था, जिसका शासन संचालन सभा द्वारा होता था। गण के

---

1. *मुकर्जी आर0के0, हिंदू सिवलाईजेशन. 209.*
2. *जायसवाल हिंदू पालिटी, पृ0. 109-12.*
3. *राय चौधरी एच0सी0, पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्शियन्ट इंडिया, पृ0 194.*
4. *अवदान शतक, 2 पृ0. 103.*
5. *मैकक्रिंडल जे0डब्लू0, इनवेशन ऑफ एलैक्जेंडर द ग्रेड, पृ0 121.*
6. *राय चौधरी, एच0सी0, पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्शियन्ट इंडिया. पृ0 194.*

सभा समिति और विदथ के सदस्यों की तरह शस्त्र धारण करते थे, इससे गण के सदस्य सैन्य स्वभाव के विषय में प्रकाश पड़ता है।[1] गण के अध्यक्ष को गणपति कहते थे[2] गणपति युद्ध क्षेत्र से लूटी गई सम्पत्ति का संरक्षक होता था, इसलिए वह युद्ध में लूटे गये धन को गण के सदस्यों में बांटता था।

गणपति के अतरिक्त वैदिक गण में हमें किसी अन्य अधिकारियों का उल्लेख नहीं मिलता है। गण के सदस्य अपनी इच्छानुसार गणपति को बलि प्रदान करते थे।[3] हमें वैदिक गणों में वर्ण के आधार पर कोई अंतर का तथ्य प्राप्त नहीं होता है, इसका प्रमुख कारण संभवतः उनके सदस्यों का यायावर (भ्रमणकारी) होना था।[4] ब्राह्मण साहित्य में उल्लखित गणो का मुख्य व्यवसाय कृषि था।[5] प्राचीन भारतीय संस्थाओं जैसे सभा, समिति और गण आदि के राजनैतिक व सामाजिक कार्यो के विषय में कुछ भी ज्ञात करना बहुत कठिन है। कुल मिलकर हम वैदिक गणों के विषय में यह कह सकते है, कि गण एक सैन्य राजतंत्र थे, जिनका की स्वरूप जनजातीय था, गणों में युद्ध सबंधी, धार्मिक, सामाजिक एवं वर्गीकरण के कार्य केन्द्रित थे।

हमें ऐतरेय ब्राह्मण से कुछ गणतंत्रवादी स्वरूप वाले राज्यों-स्वराज्य और वैराज्य[6] के विषय में पता चलता है। ऐसे भी कुछ साक्ष्य मिलते है, कि कुछ उ०वै० कालीन गण[7] राजतंत्र में परिवर्तित हो गए[8] और बाद में पुनः इन्होने स्वयं को गणों में परिवर्तित कर लिया।[9] अधिकतर गणराज्यों की

---

1. *ऋगदेव. 1.64.9.*
2. *रायचौधरी, एच०सी०, पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्शियन्ट इंडिया, पृ० 195*
3. *बौधायन गृहसूत्र, 2.8.9.*
4. *महाभारत शांतिपर्व. 108.30-31*
5. *तैत्तरेय ब्राह्मण, I. 7.7.3.*
6. *लॉ० बी०सी०, इंडिया एज डिसक्राइस्ड इन अर्ली टेक्ट्स ऑफ बुद्धिस्म एण्ड जैनिस्म पृ० 89.*
7. *वही*
8. *वही*
9. *मैकक्रिडंल जे०डब्लू०, इंडिया एज डिसक्रास्ड बाय मैगस्थनीज एण्ड एशियन पृ० 208.*

उत्पत्ति विशेष कुल से हुई थी, और इसके कुलीन सदस्य स्वयं को एक विशिष्ट व्यक्ति का उत्तराधिकारी मानते थे इन्हीं लोगों में ही केन्द्रीय सभा की सदस्यता सीमित थी।[1] केन्द्रीय सभा के सदस्य संथागार नामक एक खास सभा में मिलते थे।[2] जायसवाल महोदय का यह विचार है, कि कुछ गणतंत्रात्मक राज्यों में दो प्रकार की सभायें थी, एक उच्च सभा दूसरी निचली सभा।[3] गणतंत्रात्मक राज्यों में कुलीन परिवार के प्रत्येक सदस्य को राजा व उसके पुत्र को उपराजा कहते थे, वह न्यायिक एवं सैन्य सबंधी कार्य करता था।[4]

केन्द्रीय सभायें अपने अधिकारों का प्रयोग प्रशासनिक सदस्यों का चुनाव एवं सेना के मुखिया को चुनने में करती थी[5] गणराज्यों में प्रशासनिक अधिकारियों को मुखिया कहा जाता था।[6] मुखिया विदेशी मामलों पर नियंत्रण रखता था, विदेश राजाओं एवं राजदूतों का स्वागत करता था, उनके प्रस्तावों पर विचार करता था, एवं शांति व युद्ध जैसे विषयों पर निर्णय करता था। कभी-कभी जटिल अवसरों पर यह अधिकार मुखिया के अतिरिक्त छोटे निकायों को प्रदान कर दिया जाता था।[7] ऐसे भी कुछ उदाहरण मिलते है, जब सभा की सहमति से राजाध्यक्ष ने लोगों को उनके पदों से हटा दिया।[8] इससे सभा के असीमित अधिकारों के विषय में पता चलता है। सभा नये नियम बना सकती थी, व पुराने नियमों को समाप्त कर सकती थी।[9] परंतु इस विषय पर कोई बहुत अधिक साक्ष्य उपलब्ध नहीं होते है।

---

1. *अल्टेकर अनंत सदाशिव, स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एन्शियन्ट इंडिया, पृ0 136.*
2. *रायचौधरी, एच0सी0, पोलिटिकल हिस्ट्री आफ एन्शियन्ट इंडिया, पृ0 195-96.*
3. *जायसवाल के0पी0, हिंदू पोलिटी, 1. पृ0 84.*
4. *रीजडेविड्स टी0डब्लू0, बुद्धिस्ट इंडिया, पृ0 21.*
5. *मजूमदार आर0सी0, द एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी, पृ0 332.*
6. *वही, पृ0 332-33*
7. *मैकक्रिंडल जे0डब्लू0, इनवेशन ऑफ अलेक्जेंडर द ग्रेट पृ0 154.*
8. *मुकर्जी आर0के0, हिंदू सिवलाईजेशन, पृ0 210.*
9. *मजूमदार आर0सी0, द ऐज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी, पृ0 332.*

सामान्यतः केन्द्रीय सभा प्रशासनिक व्यवस्था को अपने हाथों में रखती थी।[1] अगर प्रशासनिक परिषद का अध्यक्ष या संघ का अध्यक्ष कोई अपराध करता था, तो उनको राज्य प्राधिकरणों द्वारा पदच्युत कर दण्ड दिया जाता था।[2]

सभा के कार्य कलापों के लिए भी कुछ नियमों का निर्माण किया गया था। लोगों को संथागार तक लाने के लिए सभापाल द्वारा नगाड़े का प्रयोग किया जाता था।[3] और सभा कक्ष में आसन बिछाने का कार्य आसन प्रज्ञापन[4] नामक अधिकारी द्वारा किया जाता था। जब गणपूरक[5] गणपूर्ति सुनिश्चित कर लेता था, और गणतिथ[6] सभा के सदस्यों की उपस्थिति पूरी कर लेता था, तब सभा की कारवाही प्रारंभ होती थी।[7]

सभा की अध्यक्षता संघ मुख्य द्वारा की जाती थी। ज्ञाप्ति[8] का प्रस्ताव प्रस्तावक द्वारा लाया जाता था। तदोपरांत लाये गये प्रस्ताव पर वाद-विवाद होता था, जो सभासद प्रस्ताव के पक्ष में होते थे, वे शांत रहते थे[9] जो इसके विपक्ष में रहते थे, वे लाए गए प्रस्ताव पर अपनी असहमति दर्शाते थे। अगर दोनों ही तरीकों से निष्कर्ष न निकले ते सभा के सदस्यों से वोट डलवाये जाते थे, और बहुमत के मतों की विजय होती थी। कुछ मामलों में गुप्त मतदान भी होता था, और एक विशेष

---

1. *महाभारत शांतिपर्व, 81.5. दास्यमैश्वर्यभावेन ज्ञातीनां वै करोम्यहम्।*
   अर्धमोक्तास्मि भोगानां वाग्दुरूक्तानि च क्षमे।।
2. *मुकर्जी आर0के0 हिंदू सिवलाईजेशन, पृ0 210.*
3. *रायचौधरी एच0सी0, पोलिटिकल हिस्ट्री आफ एन्शियन्ट इंडिया. 195-96*
4. *चुल्लवग्ग, 12.2.8.*
5. *महावग्ग, 3.6.6.*
6. *अल्टेकर अनंत सदाशिव, स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एन्शियन्ट इंडिया, पृ0 131.*
7. *मजूमदार आर0सी0, द ऐज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी, पृ0 331*
8. *रायचौधरी एच0सी0, पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्शियन्ट इंडिया, पृ0 196*
9. *मुकर्जी आर0के0, हिंदू सिवलाईजेशन पृ0 211.*

अधिकारी[1] को मतो के निरीक्षण का कार्य सौंपा जाता था। कुछ अवसरों पर मतदान सकर्णजपमक या विवतकम विधि द्वारा होता था।[2] यदि कभी कोई विवाद उत्पन्न होता था, तो वह पंचों की परिषद के पास भेज दिया जाता था।[3] ऐसा प्रतीत होता है, कि सभा में कुछ लिपिक भी होते थे, जो सभा में होने वाली प्रक्रियाओं के अभिलेखों को रखते थे। जिस मामलों पर उचित निर्णय हो जाता था, उनको फिर से उठाने की अनुमति नहीं थी।[4]

कुछ कुलों के पास पुलिस बल होता था, जो अपनी विशिष्ट पोशाक द्वारा अलग पहचान रखता था।[5] कुछ ऐसे भी कुल थे, जिनकी अपनी न्यायिक प्रक्रिया थी, व उस प्रक्रिया को सम्पादित करने वाले अधिकारियों के भिन्न पद थे। किसी व्यक्ति के अपराध में दोषी पाये जाने पर उसे सबसे पहले विनिच्छ महामात्र नामक अधिकारी के पास ले जाया जाता था, जो उससे पूँछ-तॉछ करता था।[6] अगर ये चाहे तो उस अपराधी को छोड़ सकता था व्यवहारिक[7] नामक उच्च्च अधिकारी के पास इस अपराधी को भेज सकता था। व्यवहारिक नामक अधिकारी को भी अपराधी को छोड़ने या दण्ड देने का अधिकार था, सूत्रधार के पास भेजता था, इसको भी उल्लखित अधिकारियों के सामान अधिकार प्राप्त थे, परंतु वह भी इस विवाद को अष्टकुल के पास, अष्टकुल सेनापति के पास, उपराजा एवं राजा के न्यायालय में क्रम से अग्रसारित कर देता था।[8] इससे हमें पता चलता है, कि एक व्यक्ति को न्याय पाने के लिए सात न्यायालयों के समक्ष उपस्थित होना पड़ता था।

---

1. *चुल्लवग्ग, 4.14.24.*
2. *वही*
3. *मुकर्जी आर०के०, हिंदू सिवलाईजेशन, पृ० 213.*
4. *रैप्सन ई०जे०, कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया, I. 176.*
5. *मजूमदार आर०सी०, द ऐज आफ इम्पीरियल यूनिटी, पृ० 16-17.*
6. *सरकार डी०सी०, पोलिटिकल एण्ड एडमिनि स्ट्रेटिव सिस्टम्स ऑफ एन्शियन्ट एण्ड मेडिवल इंडिया 115,239.*
7. *वही, पृ० 115, 240-241.*
8. *वही*

गणराज्यों की बहुत सी सभायें दलों की गुटबाजी, भ्रष्टाचार, आपसी प्रतिदोषारोपण आदि समस्याओं के कारण छिन्न-भिन्न हो गई[1] जो कुशल संगठन संचालक, कुशल वक्ता, आदि गुणों से युक्त होते थे, वे ही अपने हाथों में अधिकार रख पाने में सफल रहे थे।[2] दलबंदी के कारण सभाओं के टूटनें से[3] अध्यक्ष के कार्य बहुत कठिन हो गये।

महावग्ग से हमें पांच प्रकार के संघो के विषय में पता चलता है, उदाहरणार्थ एक वो संघ जिसमें कि चार, पॉच, दस, बीस या इससे अधिक प्रशासक (वग्ग) होते थे।[4] हमें यह पहले ही ज्ञात है, कि प्रशासनिक परिषद के सदस्यों का चुनाव केंद्रीय सभा द्वारा होता था, परंतु हम यह नही जानते कि यह चुनाव कुछ विशिष्ट परिवारों के सदस्यों में से होता था, या कोई व्यक्ति अपने आपको स्वयं ही उम्मीदवार के रूप में प्रस्तुत कर देता था। हम यह अनुमान लगा सकते है कार्यकारिणी के अधिकांश सदस्य सैनिक रहे होगे, इस अनुमान का प्रमुख कारण गणराज्यों का अपनी सैनिक परम्परा के लिए प्रसिद्ध होना था। हम यह अनुमान लगा सकते हैं, कि वैदशिक मामले, कोशागार, न्याय, राजस्व, पुलिस उद्योग एवं व्यापार ये कुछ ऐसे विभाग थे जो कि कार्यकारिणी के सदस्यों को सौपें जाते थे।[6] गणराज्यों और कार्यक्रलापों से सम्बन्धित बहुत से अभिलेख लेखागार नामक कार्यालय में संभाल कर रखे जाते थे।[7]

---

1. *रीज डेविड्स, 1. डायलाग्स आफ द बुद्ध, 2 पृ0 80*
2. *महा0 शांतिपर्व, 107. 20-21*
3. *पाणिनी, 8.1.15.*
4. *मजूमदार आर0सी0, द एज आफ इम्पीरियल यूनिटी, पृ0 23.*
5. *महा0 शांतिपर्व, 107. 20-21*
6. *वही, 107.17*
7. *मुकर्जी आर0के0 हिंदू सिवलाईजेशन. पृ0 232, 245.*

इन गणराज्यों का विनास इनके अंदर की कुछ खतरनाक कमियों के कारण हुआ, जैसे इनके आपस के झगड़े, नियमों का पालन न करना, एवं एक उचित निर्णय कर अनियमित प्रक्रिया को अपनाना ही, इनके पतन के प्रमुख कारण बने।[1]

उपर्युक्त विवेचन के आलोक में निष्कर्षतः हम यह कह सकते है कि राजपद जातीय थे और राजा को गोपतिजनस्य कहा जाता था। इस समय वंशानुगत राजपद[2] के विषय में भी प्रकाश पड़ता है क्योंकि ज्येष्ठ पुत्र को गद्दी प्रदान करने का सिद्धांत बहुत स्पष्ट नहीं किया गया है, इसलिए यह महत्वहीन एवं चलन में नहीं था।[3] इस समय राजा की शक्तियां समिति थी इसका प्रमुख कारण राजपद का वंशानुगत न होना था। राजा के अधिकारों पर सभा-समिति एवं पुरोहितों द्वारा भी रोक लगाई जाती थी। एक वृहद प्रशासनिक तंत्र के उत्पन्न न होने का कारण, लोगों से कृषि से प्राप्त आय के अधिकारियों के रखरखाव का निर्भर होना था, जो कि अपर्याप्त थी। राजा एवं उसके अधिकारी बलि[4] के रूप में दी गई भेट से अपना निर्वाह करते थे।

इसी प्रकार हम सेनानी नामक एक अधिकारी के विषय में सुनते है, परंतु हमें इस प्रकार का कोई साक्ष्य नहीं मिलता कि सेना या इसके रखरखाव के लिए राज्य के राजस्व से धन प्राप्त होता था। पुलिस अधिकारी सम्पत्ति की रक्षा करते थे, स्पश गुप्तचर होते थे, व अपराधियों पर नियंत्रण रखने

---

1. *महा0, शांति पर्व, 107. 27-32,भेदमूलो विनाशो हि गणनामपलक्षये।*
   मंत्रसंवरण दुःख बहूनामिति में मातिः।।
   कुलस्य कलहा जाता मंत्रवृद्धैरूपेक्षिताः। गोत्रस्य नांशं कुर्वन्ति गणभेदस्य कारकम्।।
   भेदाच्चैव प्रदानाच्च भिद्यन्ते रिपुभिर्गणाः।।
2. *बंदोपाध्याय एन0सी0, डिवलेपमेन्ट ऑफ हिंदू पोलिटी एण्ड पोलिटिकल आइडियाज,पृ0 85.*
3. *वही, पृ0 86.*
4. *ऋगवेद, 1.70.9.*

के लिए उग्र व जीवगृभ[1] नामक अधिकारियों को रखा जाता था। मध्यमशी झगड़ों में मध्यस्थ की भूमिका अदा करता था।

उपलब्ध साक्ष्यों द्वारा राजनैतिक संगठन के विषय एक अस्पष्ट सा चित्र मिलता है जो लोगों की मौलिक प्रशासनिक आवश्यकताओं को पूरा करता था।

ऋगवैदिक काल के राज्य जातीय प्रधान थे। और प्रांतीय राजतंत्र जैसी व्यवस्था नहीं थी। परंतु फिर भी जातीय राज्य कर व्यवस्था संगठित सेना आदि प्रशासनिक व्यवस्था के आवश्यक अंगों की स्थापना की लिए प्रयत्नशील थे।

उ०वै० काल में कृषि प्रमुख व्यवसाय बन गया था, इसका प्रमुख कारण लोहे का कुशलता से अत्यधिक प्रयोग होना था। राजा किसी एक निश्चित क्षेत्र में नही बंधा था जहॉ से वह नियमित कर प्राप्त कर सके। समाज में अब बहुविवाह का प्रचलन हो गया था, जिससे स्त्रियों की स्थिति में गिरावट आई। जो राज्य पहले जातीय थे, वे अब क्षेत्रीय राज्यों[2] की ओर अग्रसर होने लगें।

राजपद की जिम्मेदारी अब क्षत्रिय वर्ग पर आ गई। परंतु शांसन संचालन के लिए उन्हे ब्राह्मणों की भी आवश्यकता पड़ी। धीरे-धीरे वंशानुगत राज प्रणाली प्रचलित हो गई[3] तथा अब राजा की उत्पत्ति दैवीय मानी जाने लगी।

जब राज्य जातीय से प्रांतीय हो गये, तथा भूमि एक निश्चित आमदनी प्राप्त करने का साधन बन गई, तब शासन में बहुत से अधिकारियों का उद्‌भव हुआ। कर एकत्रित करने कार्य भागदुध के पास था, परंतु उस एकत्रित कर को कहां और कैसे व्यय किया जाता था, यह स्पष्ट नहीं है।

---

1. *वही, 7. 38.6.2,*
2. *मैकडोनल एण्ड कीथ, वैदिक इन्डेक्स, 1,371*
3. *शतपथ ब्राह्मण 12.9.3.1.*

हमने रत्निन के विषय में भी जाना है, जो अब ऋगवैदिक कालीन प्रचलित सभाओं का कार्य करते थे। उ०वै० काल का सेनानी बाद में एक महत्वपूर्ण अधिकारी हो गया। स्थाई सेना को अब राज्य का एक आवश्यक अंग माना जाने लगा।

चूंकि अब राज्य बड़े-बड़े एवं दूरियों के होते थे, इसलिए अब सभाओं को कठिनाई का सामना करना पड़ता था। अब इसके पास इतने अधिकार भी नहीं रह गये थे, जिससे इसकी शक्ति में कमी आई थी।

मौर्या के राजनीति में आगमन के समय प्रांतीय राज्यों में नगर राजनीतिक व्यवस्था के केन्द्र बन गये थे। सामाजिक एवं आर्थिक आवश्यकताओं ने सशस्त्र बलों एवं कर विभाग को आगे बढ़ाया।

राजपद अब भी वंशानुगत था और क्षत्रिय वर्ग ही इसकी शक्ति को अपने हाथों में सीमित रखता था। परंतु कुछ ऐसे भी उदाहरण मिलते है, जिसमें राजा को चुना गया, जाना पद्च्युत किया एवं निर्वासित किया गया।

महामात्र या मंत्री को उच्चाधिकारियों के रूप में जाना जाता था। सामान्यतः पुरोहित वर्ग के व्यक्ति ही मंत्री पद पर नियुक्त किये जाते थे। हम पहली बार राजा के सलाहकार या सभासदों के विषय में सुनते है ग्राम का मुखिया ग्रामणी कहलाता था, जो राजा से प्रत्यक्ष सबंध रखता था।

सेना अब राजा की बढ़ती हुई शक्ति का साधन बन गई थी। करों की व्यवस्था के विषय में हमें कोई विस्तृत जानकारी नहीं प्राप्त होती है। परंतु वे दृढ़ता से स्थापित हो चुके थे करों का भार वेश्य, किसानों शिल्पकारों के वर्ग पर आ गया था, क्योंकि ब्राह्मण एवं क्षत्रिय वर्ग करों के बोझ से मुक्त था।

सामाजिक विभाजन की दृढ़ता विवादों की ओर ले गई, और वर्ण धर्म के आधार पर एक कानूनी संहिता बनाने की आवश्यकता हुई, क्यों कि जातीय कानून अपर्याप्त थे। न्याय प्रदान करने के लिए वोघरिक महामात्र जैसे अधिकारी नियुक्त किए गए थे। सभा समिति जैसी संस्थाए प्रारंभ में राजा के अधिकारों को नियंत्रण में रखती थी, परंतु जब राज्य क्षेत्रीय हो गए, तो प्रशासन में इसका स्थान कम होने लगा। परन्तु वर्ण व्यवस्था ने इस व्यवस्था को आगे बढ़ाए रखा। उ०वै० काल में विघटी करण प्रारंभ हो चुका था, धर्मसूत्रों की परिषदों ने उनका स्थान ले लिया था, जो कि पूर्ण रूपेण ब्राह्मणों द्वारा निर्मित थी।

ऐसा प्रतीत होता है, कि गणतंत्रात्मक राज्य ऋगवैदिक जातीय व्यवस्था के अवशेष थे, जिनका कि राजतंत्र ने अनुसरण किया, जो कि पुनः गणतंत्रीय हो गये, और इनके गणतंत्रीय हो जाने से जातीय संगठनों को समानता का अवसर मिल।

लिच्छवी एवं शाक्य गणराज्यों का प्रशासनिक तंत बहुत साधारण था, जिसमें केवल राजा, उपराजा, सेनापति, भांडागारिक, एवं न्यायपालिका के लिए सात पद थे।

राजतंत्रात्मक राज्यों में भूमि प्राप्त करने का अधिकारी मात्र राजा होता था, परंतु गणतंत्रात्मक राज्यों में अल्पंत्रीय शासन कर रहे वर्ग के प्रत्येक सदस्य ने इसका लाभ उठाया। राजतंत्रात्मक राज्यों में स्थाई सेना होती थी, जबकि गणतंत्र राज्यों में सेना अल्पतंत्रीय मुखियों की छोटी-छोटी दुकड़ियों से बनी थी और यह अपने ही सेनापति द्वारा संचालित थी। गणराज्यों में सभायें अब भी उचित ढंग से कार्य कर रहीं थी।

तृतीय अध्याय

मौर्यकालीन प्रशासनिक व्यवस्था

अध्याय-तृतीय

मौर्यकालीन प्रशासनिक व्यवस्था

राज्य की धारणा :-

राजा राज्य का एक अंग था। राज्य को एक सुत्यवस्थित समूह माना गया है, और उसके संघटकों को अंग कहा गया है। इन्हें राज्य का सत्तांग भी माना गया है, जिनको राजा, मंत्री, जनपद, दुर्ग, कोश, मित्र और सेना कहा गया है। [1]

राज्य के प्रशासनिक संचालन के लिए कोई निश्चित सीमायें निर्धारित नहीं की गई थी। यह केवल पुलिस कार्यो या न्याय व्यवस्था की सीमाओं तक नहीं बांधे गये थे। यही कारण है, कि राज्य के कर्तव्य को केवल सुरक्षा के लिए ही केंद्रित कर दिया गया था। सुरक्षा केवल एक अच्छे जीवन के लिए अवरोध नही थी बल्कि ये आध्यात्मिक, सांस्कृतिक और आर्थिक हितों तक फैली थी।[2]

---

(1) *अर्थशास्त्र, 6.1 स्वाम्यामात्यजनपददुर्ग कोश दण्ड मित्राणि प्रकृतयः।*

(2) *मजूमदार आर0सी0, द एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी, पृ0 308.*

केन्द्रीय प्रशासन

मौर्यकाल में प्रथम बार एक विशाल साम्राज्य की स्थापना हुई, जिसके पूर्व का भारत वर्ष कई छोटे-छोटे खण्डों में विभाजित था। मौर्य शासन व्यवस्था का जनक चन्द्रगुप्त व शासन की राजधानी पाटिलपुत्र को बहुत गौरव प्राप्त हुआ। चन्द्रगुप्त के नेतृत्व में सर्वप्रथम राजनीतिक केन्द्रीकरण के दर्शन किए तथा चक्रवर्ती सम्राट की अवधारणा को व्यवहारिक रूप प्रदान कया गया।

राजा-

मौर्यकाल में राजतंत्रात्मक शासन प्रणाली अधिक प्रचलित थी. तथा अब तक वो वंशानुगत रूप में पूर्णतः प्रचलित हो गई थी। मौर्यकालीन अभिलेखों से राजा के चुनाव की प्रक्रिया के संदर्भ में जानकारी प्राप्त नहीं होती है, परन्तु अर्थशास्त्र से इतना अवश्य पता चलता है, कि अगर राजा के अनेक पुत्र हो तो वो राजसिंहासन के लिए अपने ज्येष्ठ पुत्र का वरण करे।[1] कौटिल्य ने कहा है, कि वर्ण व्यवस्था के आधार पर इनके कर्तव्यों का ध्यान रखते हुए क्षत्रिय वर्ग से ही राजा नियुक्त होना चाहिए।[2] कौटिल्य ने राजकुमारों के सुविधा सम्पन्न जीवन को ध्यान में रखकर उनके लिए कठोर नियम बनायें। उसने राजपुत्रों को केकड़े के समान बताया जो समय आने पर अपने पिता को किसी भी प्रकार का कष्ट पहुँचा सकते थे।[3] कौटिल्य के अनुसार एक अल्प शिक्षित राजकुमार राजा के लिए सदैव कष्टकारी एवं विनाशकारी होता है।[4] यह सभी समस्याएं एक राजा के लिए अपने राजपद को

---

(1) *अर्थशास्त्र .1.16. बहूनामेकसंरोधः पिता पुत्रहितो भवेत।*
अन्यत्रापद ऐश्वर्य ज्येष्ठभागि तु पूज्यते।।

(2) *अर्थशास्त्र 1.2. क्षत्रियस्याध्ययनं यजनं दानं शास्त्रजीवो भूतरक्षणं च।*

(3) *वही .1.16. पुत्ररक्षणं जन्मप्रभृति राजपुत्रान् रक्षेत्। कर्कट कसधर्माणो हि जनकभक्षा राजपुत्राः।*

(4) *वही .1.16. कास्ठमिव हि धुणजग्ध राजकुल भविनीति पुत्र भभियुक्तमात्रं भज्येत।*

ध्यान में रखते हुए बहुत गंभीर थी। युवराज के पद पर आसीन होने वाले व्यक्ति को राजकीय एवं प्रशासनिक व्यवस्थाओं के संदर्भ में पूर्ण जानकारी प्रदान की जाती थी। वो वैदिक त्रयी के पारम्पारिक संस्कारों की पूर्ण जानकारी रखता था। लेकिन अर्थशास्त्र इस बात को बहुत महत्व देता है उसको आर्थिक (वर्त) और शासकीय कलातंत्र (दण्डनीति) में भी बहुत कुशल होना चाहिए।[1] इनमें कुशन बनाने के लिए उसे विभिन्न कार्यो के लिए प्रशिक्षण दिया जाता था। उसके लिए यह भी आवश्यक था, कि वह अपने अनुभवी राजनीतिज्ञों से विचार विमर्श करता रहे।[2]

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में राजा को निर्देश दिया है कि उसका प्रथम कर्तव्य प्रजा को सुखी रखना है। वस्तुतः राजा नाम की कोई हस्ती ही कौटिल्य के सामने नहीं दिखाई देती है, प्रजा ही सर्वोपरि है। राजा का स्वयं का कोई अभीष्ट नहीं होना चाहिए। वह तो मात्र प्रजा की सुख-सुविधाओं एवं उसके अभीष्टों की व्यवस्था करने वाला एक व्यवस्थापक मात्र है। अपनी प्रजा की कुशलता के लिए किन साधनों की आवश्यकता इसका सम्पूर्ण उत्तरदायित्व राजा के ऊपर निर्भर है।[3]

कौटिल्य का मत है, कि राजा के आचरण पर ही उसके कर्मचारियों का आचरण निर्भर है। यदि राजा प्रमादी होगा तो उसके कर्मचारी भी प्रमादी होंगे और यह भी असंभव नहीं कि प्रमादी राजा कर्मचारी उसके शत्रु से संधि करके उसका नाश कर डालें। परन्तु अगर राजा उदार परिश्रमी और विवेकशील होगा तो उसके कर्मचारी भी उसके इन गुणों से प्रभावित होगें। इसलिए कौटिल्य का यह कथन है कि निम्न बातों को ध्यान में रखकर राजा को चाहिए कि यत्नपूर्वक सावधानी से वह अपनी उन्नति की ओर ध्यान दे।[4]

---

(1) *वही. 1.1 आन्वीक्षकी त्रयी वार्ता दण्डनीति श्चेति विद्याः।*
चत्रस्य एव विद्या इति कौटिल्यः। ताभिधर्माथौ यद्धिद्यानां विद्यात्वम्।

(2) *वही .1.4. अस्यनित्यश्च विद्यावृद्ध संयोगो विनयवृद्ध र्थ तन्मूलत्वा द्धिनयस्य।*

(3) *अर्थशास्त्र 1.18. प्रजा सुखे सुखं राज्ञः प्रजानां तु हिते हितम्।*
नात्मप्रिय हितं राज्ञः प्रजानां तु हिते हितम्।।

(4) *वही .1.18.*

यह तभी संभव हो सकता है जब उसकी कार्य व्यवस्था का ढंग निश्चित रूप से विचारपूर्वक सम्पन्न होता रहे। राजा की कार्य व्यवस्था नियम से संचालित होती रहे, इसके लिए कौटिल्य ने रात और दिन को दो भागों और प्रत्येक भाग को आठ-आठ उपभागों में बांट दिया है।[1] अपने इस समय से कुछ क्षण स्नान, भोजन व विश्राम के लिए छोड़कर जो समय शेष रहता हो उसे वह प्रशासनिक कार्यो में लगावें। ब्रह्म मुहुर्त में उठने के बाद रात्रि में शयन पर्यन्त राजा को किस समय क्या कार्य करना चाहिए इसका कौटिल्य ने सम्पूर्ण विवरण दिया है।[2] अशोक के अभिलेख से पता चलता है कि उसने कर्मचारियों को यह आदेश दे रखा था, कि प्रजा के संबध में किसी भी समय पर आकर राजा को सूचित कर सकते हैं।[3] मौर्य राजाओं की प्रशासनिक सफलता का मूलतंत्र उनका अधिकारिक मामलों में कार्य करना था।

मौर्य काल में राजा प्रशासनिक व्यवस्था का उत्तरदायी था। हालांकि राजा मात्र एक मानव था, परन्तु उसको भगवान की ओर से सभी प्रकार आर्शीवाद दिये गये। वो राज्य के अंतर्गत सभी संसाधनों का रक्षक था। इन सभी व्यवस्थाओं ने उसकी शक्ति में बढ़ोत्तरी की। परन्तु राजा के लिए भी प्राचीन कानून के अनुसार ही कार्य करना आवश्यक था। राजा की यह जिम्मेदारी थी, कि वह अपनी प्रजा कर हर संभव हित करे। परन्तु यह करने के लिए राजा को अपने लिए एक सुदृढ़ प्रशासनिक तंत्र की आवश्यकता थी। राजा को सैन्य, न्यायिक, संसदीय और प्रशासनिक कार्य सम्पादित

---

(1) *वही.*

(2) *वही.*

(3) *भण्डारकर डी०आर० अशोक, पृ० - 253-54*

करने पड़ते थे। राजा रणक्षेत्र में सैन्य अगुवाई करता था।[1] एवं युद्ध सबंधी गंभीर विषयों पर वह सेनापति से विचार-विमर्श करता था।[2]

न्यायिक कार्यो को सम्पादित करते समय वह अपने सम्पूर्ण दायित्व का निवहि करता था। एवं अपना निर्णय देने से पूर्व वह अन्य लोगों की राय भी सुनता था। उसे संसदीय कर्तव्यों का पालन अर्थशास्त्र के धर्म प्रवर्तक के रूप में करना पड़ता था।[3]

उसके प्रशासनिक कार्यो में राज्य के समस्त आय-व्यय की देखभाल करना, सुरक्षाकर्मियों मंत्रियों पुरोहितों एवं गुप्तचरों की नियुक्त करना था। वो अपनी मंत्री परिषद से इन विषयों में विचार विमर्श करता था, एवं अन्य राज्यों से आये हुए दूतो का स्वागत करता था।[4]

मौर्य शासक चन्द्रगुप्त सम्पूर्ण प्रशासनिक अधिपत्य अपने द्वारा नियुक्त गुप्तचरों एवं संदेशवाहकों द्वारा रखता था।

मौर्यकाल से पूर्व राजा के कर्तव्यों के सम्बन्ध में इतना विवरण नहीं प्राप्त होता है, जितना इस काल के ग्रन्थों से प्राप्त होता है। इस काल तक आते-आते राजा पूर्णतया सर्वप्रधान हो गया था, तथा उसकी शक्तियों में बहुत बढ़ोत्तरी हुई थी। इस काल में समस्त प्रशासनिक शक्तियों का वह स्वामी बन गया था। पूर्व काल के समान राजा को प्रजा के समक्ष अपने पद के लिए शपथ ग्रहण नहीं करना पड़ती थी।

---

(1) *अर्थशास्त्र . 10.3.*

(2) *वही .1.18. अष्टमे सेनापति सखो विक्रम चिन्तयेत्।*

(3) *वही . 3.1. चतुर्वर्णा श्रमस्यायं लोकस्या चाररक्षणात्*

(4) *भण्डारकर डी0आर0, अशोक, पृ0 241, 248-49, 253-54, 264-66*

हमे ऐसा कोई साक्ष्य नहीं मिलता है जिससे हम यह कह सके कि मौर्य काल के प्रशासन में स्त्रियों की कोई भागीदारी थी या नहीं। मौर्य राजा अपने समय के सबसे प्रभावशाली राजा थे। उनका राजमहल वैभव और शान-शौकत से परिपूर्ण था। उसकी रक्षा के लिए उनके पास शक्तिशाली अंगरक्षक थे।[1] राजा के वस्त्र महीन मलमल के होते थे व अनेक सोने का काम किया जाता था। राजा की सुरक्षा का विशेष ध्यान रखा जाता था। राजा जब राजमहल से अंदर या बाहर जाता था, तो उसके साथ उसकी रक्षा के लिए अंगरक्षको का एक दस्ता रहता था।[2] राजा की रक्षा का पूर्ण प्रबंध राजमहल के अंदर ही होता था।[3]

इस प्रकार हम यह देखते है कि राज्यों के विस्तार ने राजाओं की शक्तियों में बढ़ोत्तरी की। सभा और समिति नामक प्रचलित संस्थाओं के पतन ने भी राजाओं की शक्तियों को बढ़ाया।

प्रागैतिहासिक काल में राजा का आसन अस्थिर था व उसकी सत्ता अनियन्त्रित थी उस समय राजा सभा का केवल अध्यक्ष था। औपचारिक या अनौपचारिक निर्वाचन से ही उसे अध्यक्ष-पद प्राप्त होता था और समिति राज्य शासन पर काफी नियंत्रण रखती थी। जब तक राज्य का क्षेत्र छोटी रहा, तब तक सभा या समिति आसानी से राजधानी में बैठकर राज्य संचालन कर सकती थीं, किन्तु जब राज्य का विस्तार विशाल हुआ, तब समिति का बार-बार मिलना कठिन होने लगा और विशपतियों व कुलपतियों के अधिकार भी कम होने लगे। फलस्वरूप राजा के अधिकार व ऐश्वर्य बढ़ने लगे। 400 ई० पू० से आगे बड़े विस्तार वाले राज्य अस्तित्व में आने लगे और फलस्वरूप राजा की प्रतिष्ठा बढ़ने लगी।

---

(1) अल्टेकर अनंत सदाशिव, स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एन्शियन्ट इंडिया, पृ० 318

(2) अर्थशास्त्र 1.20. निर्याणेडभिमाने च राजमार्गमुभयतः कृतारक्षं दण्डिभिर पास्तशस्त्र हस्तप्रवजित व्यड्ग गच्छेत्।

(3) वही, शयनादुत्थितः स्त्रीगणैर्धान्विभिः परिगुहयेतः दृितीयष्यां कक्ष्यायां कन्चुकोष्णीषिभिर्वर्ष पराभ्यागारिकः तृतीयष्यां कुष्जवामन किरातैः चतुर्थ्या मन्त्रिभिः सम्बन्धिभिदौवारिकैश्र प्रासपाणिभिः।

केंद्रीय सभा

हम पहले ही प्रशासनिक तंत्र में मौर्य राजाओं के विषयों में चर्चा कर चुके है अब हम केंद्रीय सभा के विषय में विचार करेंगे। वैदिक काल में राजा पर अधिपत्य रखने के लिए सभा एवं समिति जैसी संस्थायें प्रचलित थी। जयसवाल महोदय के अनुसार सभा और समिति ने अपने उत्तराधिकारी पौर जनपद के राजनैतिक क्षेत्र में छोड़े।[1] कौटिल्य के मतानुसार राजतंत्रीय शासन ही सबसे उपयुक्त था। परन्तु वह इस बात से भी सहमत थे, कि प्रशासनिक कार्य कलापों में प्रजा की सलाह लेना उचित है।[2] पौर और पौर जनपद केवल स्थानीय संस्थाओं का प्रतिनिधत्व करते थे एवं विभिन्न सामाजिक स्थलों का निर्वाह करते थे।[3]

क्यों कि मौर्य समाज्य उन अवशेषित गणराज्यों पर स्थापित हुआ था जो बहुत पूर्व नहीं थें इसलिए ये आश्चर्य जनवक नही लगता कि पौर जनपद की उत्पत्ति में मौर्य राजा सभा एवं समिति जैसी प्रजातांत्रिक व्यवस्था से प्रभावित नहीं हुए थे और जनपदों ने केन्द्रीय एवं प्रान्तीय स्तर पर राज्यपालों को उचित सलाह देने का कार्य किया।[4]

पूग सम निकाय आदि इसी संस्थाओं के भिन्न-भिन्न नाम थे।[5]

---

(1) *जायसवाल के०पी० हिंदू पोलिटी भाग 2.27.28*

(2) *अर्थशास्त्र 1.4.9,2.14.*

(3) *अल्टेकर अनंत सदाशिव स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एन्शियन्ट इंडिया पृ० 146-54*

(4) *महाभारत शांतिपर्व 57-58*

(5) *जायसवाल, के०पी० हिंदू पोलिटी, 22-31, 38-39, 236*

मंत्रि परिषद-

मौर्यकाल से पूर्व हमें मंत्रि परिषद के संदर्भ में स्पष्ट जानकारी नहीं प्राप्त होती है। परन्तु इस काल तक आते-आते सम्राट चन्द्रगुप्त के अधिपत्य में एक विशाल साम्राज्य की स्थापना हुई, जिसका प्रशासन सुचारू रूप से संचालित करने के लिए एक विशाल मंत्रिमण्डल का गठन किया गया। इसका वर्णन हम उपरोक्त शीर्षक में करेंगे।

उच्च स्तरीय प्रशासन के राजा व उसके सहायक मंत्रीगण दो प्रमुख अंग माने गये हैं। अर्थशास्त्र में कहा गया है जिस प्रकार एक पहिये से गाड़ी नहीं खीची जा सकती उसी प्रकार बिना सुयोग्य मंत्रियों के राजा अकेले राज्य कार्य सम्पादित नहीं कर सकता है।[1] संहिताओं, एवं ब्राह्मण साहित्य में हमें रत्निन का उल्लेख मिलता है, जो प्रशासन के महत्वपूर्ण कार्यो में राजा के सहायक होते थे।[2] आगे आने वाले समय में रत्निनों का स्थान मंत्रिपरिषद ने ग्रहण किया[3] मौर्य काल में भी एक स्थाई मंत्रिपरिषद था।[4] मंत्रिपरिषद की श्रेष्ठता इसी बात से सिद्ध होती है, प्रतिनिधि शासक एवं युवराज अपनी राजसभा में स्वयं की सहायता के लिए मंत्री रखते थे। प्रतिनिधि सामंती एवं युवराजों के लिए यह इस कारण से भी आवश्यक था, क्योंकि उनका पद सामंती शासक के समान था। इस प्रकार मौर्यकाल में निचले स्तर के संगठन में विघटीकरण का प्रारंभ हुआ।

मंत्रिपरिषद के सदस्यों की संख्या को लेकर राजनैतिक विचारकों में बहुत मतभेद था।[5] कौटिल्य का यह कथन है, कि मंत्रियों की उचित संख्या भिन्न-भिन्न राज्यों की आवश्यकता पर निर्भर करती थी।[6] कौटिल्य इसके लिए किसी निश्चित निमय को बनाना उचित नहीं समझते थे। उनका यह मानना था, कि आवश्यकतानुसार ही मंत्री नियुक्त करने चाहिए। अर्थशास्त्र में एक स्थान पर इन्द्र को सहस्त्राक्ष (हजार आंखों वाला) कहा गया है।[7] यह इसलिए कहा गया है कि उसके मंत्रिपरिषद में

---

(1) *अर्थशास्त्र 1.6. सहायसाध्यं राजत्वं चक्रमेकं न वर्तते। कुर्वीत सचिवांस्तस्मात्तेषां च श्रृणुयान्मतम्।।*

(2) *तैत्तरीय संहिता 1.8.9. मैत्रायणी संहिता 2.6.5. काठक संहिता 15.4. तैत्तरीय ब्राहम्ण 1.7.3. शतपथ ब्राहम्ण 5.3.1.*

(3) *रामायण .1.7.2.3.* (4) *भण्डारकर डी०आर० अशोक पृ० 241, 253-54*

(5) *वही.*

(6) *अर्थशास्त्र, 1.7. सर्वमुपपन्नमिति कौटिल्यः। कार्यसामर्थ्याद्धि पुरूष सामर्थ्य कल्पयते सामर्थ्यतश्च।*

(7) *वही 1.14. इन्द्रस्य हि मन्त्रिपरिषदृषीणां सहस्त्रम्। स तच्चक्षुः। तस्मादिमं द्वक्षं सहस्त्राक्षमाहुः*

उसको सलाह देने वालों की संख्या हजार थी। इससे पता चलता है कि कौटिल्य भी एक विशाल मंत्रिमंडल को रखने के पक्ष में थे ताकि प्रशासनिक कार्यो में राजा को कठिनाइयों का सामना न करना पड़े।

मंत्रिपरिषद के गठन में सहायक मंत्रियों को अमात्य कहा जाता था।[1] अर्थशास्त्र से पता चलता है कि अमात्यों का स्तर मंत्रियों की तुलना में कम होता था। जिसे हम उनको मिलने वाले वार्षिक वेतन (अमात्य वार्षिक वेतन 12000 पण मंत्री वार्षिक वेतन 48000 पण) से समझ सकते हैं।[2] यह कतई आवश्यक नही था, कि जो व्यक्ति अमात्य बनने योग्य हो, वह मंत्री बनने की भी योग्यता रखता हो। राजा को प्रशासन के गुप्त कार्यो के लिए 4 या 5 महत्वपूर्ण मंत्रियों के परिषद की आवश्यकता थी।[3] जिसमें युवराज प्रधानमंत्री पुरोहित, सेनाध्यक्ष एवं कोषाधिकारी सम्मलित हों। कौटिल्य का कथन है कि राजा को विभागीय मंत्रियों से ही परामर्श करना चाहिए।[4] महत्वपूर्ण कार्य के आ जाने पर राजा को मंत्रिपरिषद की बैठक बुलाकर उससे परामर्श करके ही कार्य करना चाहिए।[5]

---

(1) अल्टेकर अनंत सदाशिव, स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एन्शियन्ट इंडिया, पृ0 167.

(2) राय चौधरी एच0सी0, पोलिटिकल हिस्ट्री आफ एन्शियन्ट इंडिया, पृ0. 282

(3) अर्थशास्त्र. 1.14. त्रिषु चतुर्षुवा नैकान्तं कृच्छ्रेणोपपद्यते महादोषम् उपपन्नं तु भवति। ततः परेषु कृच्छ्रेणार्थ निश्चयो गम्यते, मन्त्रो वा रक्ष्यते।

(4) वही.

(5) वही

जब मंत्रिमंडल की सभाओं का आयोजन किया जाता था, तो मंत्रियों को व्यक्तिगत रूप से इन सभाओं की बैठकों में भाग लेना पड़ता था, परन्तु अगर किसी कारण कोई मंत्री अनुपस्थित रहता था, तो विषय पर उसकी राय पत्र द्वारा ली जाती थी।[1] अगर कोई अतिमहत्वपूर्ण विषय नही होता था, तो परिषद की बैठक निश्चित समय पर ही होती थी अगर किसी विषय पर एकराय नही हो पाती हो तो बहुमत के आधार पर निर्णय किया जाता था। कौटिल्य का यह मत है कि कठिन मामलों में भी राजा को साधारणतयः मंत्रियों की सलाह या इसके बहुमत के विचार को मानना चाहिए। यह उसके ऊपर निर्भर करता है कि वह किस रास्ते का चुनाव करता था।[2] वह राज्य के हित में उचित अल्पमत के निर्णय को भी मान सकता था।[3] इससे पता चलता है कि अंतिम निर्णय राजा का ही होता था।

अशोक के 3और6 वे शिलालेख से हमें मंत्रिपरिषद के कार्यो के विषय में पता चलता है। तृतीय शिलालेख से पता चलता है कि अशोक के समय में परिषद के आदेशों के सुचारू रूप से लिखा जाता था एवं स्थानीय अधिकारियों द्वारा जनता को इसके विषय में सम्पूर्ण जानकारी दी जाती थी। अभिलेख 6 बताता है, कि मंत्रिपरिषद के द्वारा सम्राट द्वारा दिये गये मौखिक आदेशों एवं विभागीय अध्यक्षों के आवश्यक निर्णयों पर पुनः विचार किया जा सकता था। ऐसा प्रतीत होता है, कि जब राजा राज्य से बाहर होता था, तो भी मंत्रिपरिषद की सामान्य सभायें चलती रहती थी। परन्तु अत्यावश्यक मामलों में निर्णय देने का अधिकार अशोक ने मंत्रिपरिषद के हाथों में न रखकर स्वयं अपने हाथो में रखा था।

---

1. *अर्थशास्त्र. 1.14., अनासन्नैः सह पत्र सम्प्रेषणेन मन्त्रयेत।*
2. *वही।*
3. *वही।*

इस प्रकार प्रशासन में हमें मंत्रियों के महत्व के विषय में पता चलता है। हम यह विचार कर सकते है, कि मौर्य प्रशासन में परिषद जो कि एक संगठित संस्था थी उसने महत्वपूर्ण प्रभाव डाला। मंत्रियों का प्रमुख कर्तव्य था, कि वह राजा को उचित परामर्श द्वारा अनुचित कदम उढ़ाने से रोके।[1] वे एक निश्चित सीमा तक युवराज पर भी नियंत्रण रखते थे[2] व युद्ध भूमि में सेना का उत्साह बर्द्धन करते थे।[3]

मंत्रिपरिषद के कार्य क्षेत्र में सम्पूर्ण प्रशासन की देखरेख करना आता था। इसमें नई नीतियों का प्रारंभ एवं उनकी सफलता, कठिनाईयों को दूर करना राज्य को कर नीति के सबंध में निर्देश देना, राजकुमारों को उचित दिशा प्रदान करना राजा को विदेश नीति के सबंध में निर्देशित करना धन संसाधनों पर विचार आदि उसके कार्य क्षेत्र में सम्मिलित थे। इसके अतिरिक्त मंत्रियों द्वारा राजा को शत्रु राजा एवं उसके राज्य के विषय में विचार प्रदान करना चाहिये, नवीन कार्यो का आरंभ करवाना चाहिये व लम्वित कार्यो को पूर्ण कराना चाहिये।

ब्राह्मण काल के अंत तक प्रबुद्ध वर्ग ने राजा के ऊपर प्रभाव डालने का प्रयत्न किया। परन्तु लगभग चतुर्थ शताब्दी ई0पू0 तक राज्य के ऊपर धीरे-धीरे धर्मशास्त्र का प्रभाव क्षीण होता गया। धीरे-धीरे धर्म की अपेक्षा अर्थ को ज्यादा महत्व प्राप्त होने लगा।[4]

मौर्यकाल से पूर्व राजा की सहायता के लिए हमें कई मंत्रियों के नाम प्राप्त होते हैं, जिनका वर्णन ब्राह्मण ग्रन्थों आदि से प्राप्त होता है। इस काल तक आते-आते एक विशाल मंत्रिपरिषद का गठन हुआ, जिसका वर्णन कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में किया है। इस काल के मंत्रियों के नाम में अपने पूर्ववर्ती मंत्रियों के नामों व कार्यो में काफी विभिन्नताएं है।

---

1. *राय चौधरी एच0सी0, पोलिटकल हिस्ट्री ऑफ एन्शियन्ट इंडिया, पृ0 281-82.*
2. *अर्थशास्त्र. 1.17*
3. *राय चौधरी एच0सी0, पोलिटकल हिस्ट्री ऑफ एन्शियन्ट इंडिया, पृ0 281.*
4. *अर्थशास्त्र-1.6, अर्थ एवं प्रधान इति कोटिल्यः, अर्थमूलौहि धर्मकामाविति।*

मौर्य काल में मंत्रिपरिषद व राजा के द्वारा नीति निर्धारण का कार्य किया जाता था, परन्तु उन नीतियों को कार्यान्वित करने का प्रमुख कार्य नौकरशाही के द्वारा होता था। मौर्य काल में प्रशासन की सुविधा के लिए अढारह विभागों की स्थापना की गई थी। प्रत्येक विभाग को संचालित करने के लिए एक अध्यक्ष की नियुक्ति की जाती थी। यह अध्यक्ष अपने विभाग का सर्वोच्च अधिकारी होता था। प्रत्येक विभाग के अनेक उप-विभाग होते थे, जिनके अध्यक्ष इनके आधीन कार्य करते थे। अर्थशास्त्र ने जिन विभागीय अध्यक्षों का उल्लेख किया है वे इस प्रकार है।[1]

1.	मंत्री	2.	पुरोहित
3.	सेनापति- सेना विभाग का मंत्री	4.	युवराज
5.	दौवारिक	6.	अंतर्वशिक
7.	प्रशास्ता	8.	समाहर्ता- माल विभाग का मंत्री
9.	सन्निधाता- राजकोष का मंत्री	10.	प्रदेष्टा
11.	नायक	12.	पौर- नागरक
13.	व्यावहारिक	14.	कार्मांतिक
15.	सभ्य	16.	दण्डपाल
17.	अंतपाल	18.	दुर्गपाल

मंत्रियों को वेतन प्राप्ति व वेतन के आधार पर निर्धारित पदसोपान के सम्बन्ध में प्रथम साक्ष्य हमें मौर्यकाल से प्राप्त होते है। इसके पूर्व हमें इस सम्बन्ध में कोई विशेष जानकारी नहीं प्राप्त होती है।

इन अठारह अधिकारियों को कौटिल्य ने वेतन के आधार पर तीन श्रेणियों में विभाजित किया है। प्रथम श्रेणी के अधिकारियों में मंत्री, पुरोहित, सेनापति और युवराज आते थे, जिनका कि वार्षिक

---

1. वही, 1.11 — मन्त्रिपुरोहित सेनापति युवराज दौवारिकान्तर्वशिका प्रशास्तृसमाहर्तृ सन्निधातृप्रदेष्द्दनायक पौर व्यावहारिककार्मान्तिक मंत्रि परिषदध्यक्ष दण्ड दुर्गान्तपालाटविकेषु।

वेतन 48000 पण था द्वितीय श्रेणी के अधिकारियों में दौवारिक अंतर्वांशिक, प्रशास्त्र सन्निधाता और समाहार्ता आते थे जिनका कि वार्षिक वेतन 24000 पण था तृतीय श्रेणी के अधिकारी प्रदेस्टा नायक पौर व्यावहारिक कार्मातिक सभ्य दण्डपाल, दुर्गपाल व अंतपाल थे जिनका कि वार्षिक वेतन 12000 पण था।[1]

मौर्य काल में मंत्री और पुरोहित दो अलग-अलग पद थे। मंत्रियों के विषय में हम पहले ही बता चुके है। मौर्य काल में पुरोहित की स्थिति एक आध्यात्मिक उपदेशक की थी। उसे बौद्धिक ज्ञान के आधार पर ही इस पद के योग्य समझा जाता था। इस लिए कौटिल्य ने राजा को पुरोहित का उसी प्रकार अनुगामी होने को कहा है, जैसे शिष्य-गुरू का सेवक-स्वामी का पुत्र-पिता का होता है।[2]

सेनापति युद्ध विभाग का महामात्य होता था। चाणक्य के मतानुसार, सेनापति को युद्ध-विद्या तथा अस्त्र-शस्त्र में पूर्ण रूप से पारंगत होना चाहिए। उसे अश्व रथ और हाथी के संचालन में समर्थ होना चाहिये। उसे पदति अश्व, रथ, हस्ति अर्थात अपनी चतुंरगिणी सेना के कार्यो तथा स्थान का निरीक्षण करना चाहिये। उसे अपनी भूमि युद्ध का समय शत्रु की सेना, सुदृढ़ व्यूह का भेदन, टूटे हुए व्यूह का फिर से निर्माण एकत्रित सेना को तितर-बितर करना तितर-बितर हुई सेना का संहार करना किले को तोड़ना, युद्ध यात्रा का समय आदि बातो का हर समय ध्यान रखना आवश्यक था।[3]

---

1. वही, 3. मंन्त्रि पुरोहित सेनापति युवराज......ऽष्टचत्वरिंशत्साहस्त्राः। दौवारिकान्तर्वशिक प्रशास्तृसमाहर्तृसन्निधातारञ्चतुर्विशतिसाहस्त्राः।।
2. अर्थ० (वा०गै०) 1.10 तमाचार्यशिष्यः पितरं पुत्रो भृत्यस्स्वमिनमिव चानुवर्तेत।
3. वहीं. 2.33. सेनापतिस्सर्व युद्ध प्रहरण विद्या विनीतो हस्त्यश्वरथचर्या सम्पुष्ट श्चतुरङ्गस्य बलस्यामुष्ढानाधि दानं विद्यात्। स्वभूमि युद्धकालं प्रत्यनीक भिन्न भेदनं भिन्न संधानं संहतभेदनं भिन्नवधं दुर्गमेदं यात्रा कालं च पश्चेत।

चाणक्य के अनुसार 'राजकीय आज्ञाओं पर शासन आश्रित होता है। संधि और विग्रह का मूल राजकीय आदेश ही है। [1] इन सब आज्ञाओं (राजशासन) को लिपिबद्ध करने के लिए एक पृथक विभाग था, जिसके प्रधान अधिकारी को 'प्रशास्ता' कहते थे। राज्य के अन्य सभी विभागों के अभिलेखों को सुरक्षित रखना इसी का कार्य था। उसके आधीन जो विशाल कार्यालय होता था उसे 'अक्षपटल' कहते थे। राजकीय कर्मचारियों के वेतन नौकरी की शर्तें, विविध देशों जनपदों, ग्रामों, श्रेणियों आदि के धर्म तथा चरित्र आदि का उल्लेख और खानों कारखानों आदि के कार्य का हिसाब ये सब अक्षपटल में भली भांति 'पुस्तकस्थ' किये जाते थे।[2]

मौर्य काल का एक अन्य महत्वपूर्ण मंत्री समाहर्ता था। वैदिक काल में जिसे भागदुध कहा जाता था उसे ही मौर्यकाल मे समाहर्ता के नाम से जाना गया वह राज्य का राजस्व मंत्री था। इसका प्रमुख कार्य राज्य के लिए विविध प्रयासों से कर संग्रहित करना एवं आय-व्यय का लाभ-हानि का सम्पूर्ण विवरण रखना भी था।[3] समाहर्ता के आधीन अनेक अध्यक्ष होते थे, जो अपने-अपने विभाग के राजकीय करों को एकत्रित करते थे। ये कुछ अध्यक्ष निम्नलिखित थे :-

(क) <u>शुल्काध्यक्ष</u> :- विविध प्रकार के व्यापार से सबंध रखले वाले अनेक करों को एकत्र करना इसका कार्य था।[4]

---

1. *वही. 2.10 शासने शासन मित्याचक्षते। शासनप्रधाना हि राजानः, तन्मूलत्वात् संधि विग्रहयोः।*
2. *वही, 2.7*
3. *वही, 2.6 एवं कुर्यात्समुदयं वृद्धि चायस्य दर्शयेत्। ह्रासं व्ययस्यं च प्राज्ञः साधयेच्च विपर्ययम्।।*
4. *वही. 2.21.*

(ख) पौतावाध्यक्ष [1] :- माप-तोल के परिणामों को नियंत्रण में रखने वाले अधिकारी को पौतवाध्यक्ष कहते थे। परिणामों के ठीक न होने पर अर्थदंड दिया जाता था।

(ग) मानाध्यक्ष[2] :- देश और काल को मापने के लिए विविध साधनों का नियंत्रण राज्य के आधीन था। यह कार्य मानाध्यक्ष के अधिकार में था।

(घ) सूत्राध्यक्ष[3] :- राज्य की ओर से असहाय लोगों के लिए अनेक व्यवसाय जैसे-सूत काटना, रस्सी बनाना, कपड़ा बुनना आदि उनके भरण-पोषण के लिए चलाये जाते थे। इन सब कार्यो का संचालन सूत्राध्यक्ष की देखरेख में होता था।

सीताध्यक्ष[4] :- कृषि विभाग के अध्यक्ष को सीताध्यक्ष कहते थे। वह देश में कृषि की उन्नति का समुचित ध्यान रखता था तथा देश की भूमि पर दास मजदूर आदि से खेती भी करवाता था।

सुराध्यक्ष[5] :- शराब का निर्माण तथा प्रयोग राज्य द्वारा नियंत्रित था। सुराध्यक्ष शराब बनवाता था उसकी बिक्री का प्रबंध करता था तथा उसके प्रयोग पर नियंत्रण रखता था।

---

1. *वही, 2.19*
2. *वही, 2.20*
3. *वही, 2.23*
4. *अर्थशास्त्र, (वा०गै०) 2.24.*
5. *वही., 2.25*

<u>सूनाध्यक्ष</u>[1] :- इसका कार्य बूचड़ खाने पर नियंत्रण रखना था। बूचड़ खानों में अनेक पशुओं और पक्षियों की हत्या निषिद्ध थी अतः सूनाध्यक्ष इस पर नियंत्रण रखता था।

<u>गणिकाध्यक्ष</u>[2]:- मौर्य काल में गणिकाओं (वेश्याओं) का प्रयोग राजनीतिक दृष्टि से भी किया जाता था। अनेक बड़े अधिकारियों को वश में रखने के लिए गणिकाओं का प्रयोग किया जाता था। बहुत सी वेश्याओं को इस कार्य के लिए राज्य की ओर से नियुक्त किया जाता था।

<u>मुद्राध्यक्ष</u>[3] :- देश से बाहर जाने या देश में आने के लिए राजकीय मुद्रा प्राप्त करना आवश्यक था यह कार्य मुद्राध्यक्ष के आधीन था।

<u>विवीताध्यक्षः</u>[4]- गोचर भूमियों का प्रबंध इस विभाग का कार्य था। चोर तथा हिंसक जंतु चारागाहों को नुकसान न पहुँचायें यह प्रबंध करना, जहाँ पशुओं के पीने का जल न उपलब्ध हो, वहाँ उसका प्रबंध करना और तालाब तथा कुएँ बनवाना इसी विभाग के कार्य थे। जंगल की सड़को को ठीक रखना, व्यापारियों के माल की रक्षा करना काफिलों को डाकुओं से बचाना तथा शत्रुओं के आक्रमणों की सूचना राजा को देना, यह सब कार्य विवीताध्यक्ष के आधीन थे।

---

1. *वही, 2.26*
2. *वही, 2.27*
3. *वही, 2.34*
4. *वही.*

<u>नावध्यक्ष</u>[1] :- जलमार्गो का सम्पूर्ण प्रबंध करना नावध्यक्ष के आधीन था। छोटी-बड़ी नदियों, समुद्रतटों तथा महासमुद्रो को पार करने वाली नौकाओं और जहाजों का यही प्रबंध करता था। जलमार्ग से यात्रा करने पर क्या किराया होना चाहिये यह सब नावाध्यक्ष द्वारा ही तय होता था।

<u>गोडध्यक्ष</u>[2] :- राजकीय आय तथा सैन्य दृष्टि से राज्य की ओर से गौओं तथा अन्य उपयोगी पशुओं की उन्नति का विशेष प्रयत्न होता था। राज्य की ओर से बड़ी-बड़ी गोशालाएँ का सम्पूर्ण प्रबंध गोडध्यक्ष के आधीन था।

<u>अश्वाध्यक्ष</u>[3] :-सैन्य दृष्टि से मौर्य काल में अश्वों का बहुत महत्व था। अश्वों के पालन उसकी नस्लों आदि की उन्नति पर राज्य की ओर से बहुत ध्यान दिया जाता था। घोड़ों को युद्ध के लिए तैयार करने के लिए अनेक कार्य किये जाते थे। यह सभी कार्य अश्वाध्यक्ष के आधीन था।

<u>हस्त्यध्यक्ष</u>[4] :- यह जंगलों से हाथियों को पकड़वानें, हस्तिवनों की रक्षा करने ताा हाथियों के पालन और सैनिक दृष्टि से उन्हे तैयार करने का कार्य करता था। इसी तरह ऊँट, खच्चर, भैंस, बकरी आदि के लिए भी पृथक उपविभाग थे।

---

1. *वही, 2.28.*
2. *वही 2.29.*
3. *अर्थशास्त्र, 2/30*
4. *वही, 2/31*

कुप्याध्यक्ष[1] :- कुप्य पदार्थो का अभिप्राय शाक महुआ, तिल, शीशम खैर, शिरीष देवदार कत्थाराल औषधि आदि से है। ये सब पदार्थ जंगल में पैदा होते थे। कुप्याध्यक्ष का कार्य यह था, कि जंगलों में उत्पन्न होने वाले विविध पदार्थो को एकत्र कराके उन्हे कारखानों में भेज दें ताकि वहाँ कच्चे माल को तैयार माल के रूप में परिवर्तित किया जा सके। कुप्याध्यक्ष के आधीन द्रब्यपाल और बनपाल नाम के कर्मचारी होते थे, जो जंगलों से कुप्यद्रव्यों को एकत्र कराने तथा जंगलों की रक्षा का कार्य करते थे।

पण्याध्यक्ष[2] :- यह न केवल स्वदेशी और विदेशी व्यापार का नियंत्रण करता था, अपितु राज्य द्वारा अधिकृत व निमित पदार्थो को बचने का भी प्रबंध करता था।

लक्षणाध्यक्ष[3]:- सम्पूर्ण मुद्रापद्धति इसके आधीन थी। मौर्यकाल का प्रधान सिक्का पण कहलाता था जो चाँदी से निर्मित होता था। इस सिक्के के अतिरिक्त अर्धपण, पादपण तथा अष्ट भागपण नाम के भी सिक्के प्रचलित थे।

आकाराध्यक्ष[4]:- मौर्यकाल में खानों (आकरों) से धातुओं और अन्य बहुमूल्य पदार्थो को निकालने का कार्य बहुत उन्नत था, यह सब कार्य आकाराध्यक्ष के आधीन था। आकाराध्यक्ष के आधीन अनेक

---

1. *वही, 2.17*
2. *वही, 2/16*
3. *वही, 2.12*
4. *वही, 2.12*

उपाध्यक्ष होते थे जिनमें लोहाध्यक्ष, लवणाध्यक्ष रवन्यध्यक्ष और सुवर्णाध्यक्ष[1] विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये अध्यक्ष समाहर्ता के विभाग के आधीन होते थे। समाहर्ता राज्य का महत्वपूर्ण अधिकारी होता था।

मौर्यकाल में राजकीय कोश का अध्यक्ष सन्निधाता था। राज्य में होने वाले आय-व्यय का सम्पूर्ण आकलन और उसके सबंध में नीति निर्धारण का कार्य सन्निधाता का ही कार्य था। चाणक्य के अनुसार सन्निधाता को सैकड़ों वर्ष की बाह्य व आंतरिक आय-व्यय का सम्पूर्ण परिज्ञान होना चाहिये ताकि वह आवश्यकता पड़ने पर सम्पूर्ण जानकारी बिना किसी संकोच के तुरंत बता सके।[2] जिस प्रकार समाहर्ता के आधीन अनेक विभाग थे उसी प्रकार अनेक उपविभाग जैसे- कोशगृह पण्यगृह, कोष्ढागार, कुप्यगृह शस्त्रागार और कारागार[3] उसके आधीन थे। कोशगृह के अध्यक्ष को कोशाध्यक्ष कहा जाता था। उसका कार्य कोशगृह में बहुमूल्य पदार्थो व रत्नों को संग्रहित करना था। अर्थशास्त्र में यह लिखित है, कि कोशाध्यक्ष को यह कर्तव्य है कि वह रत्नों के मूल्य, प्रमाण, लक्षण व जाति रूप प्रयोग, संसोधन देश व काल के अनुसार उसका घिसना व नष्ट होना मिलावट हानि का प्रत्युपाय आदि बातों की जानकारी रखे।[4] पण्य गृह में राजकीय पण्य एकत्र किये जाते थे। राज्य की तरफ से संचालित अनेक व्यवसायों से तैयार किये गये पदार्थ सन्निधाता के आधीन पण्यगृह में भेज दिये जाते थे।[5] राजकीय

---

1. *वही, 2.13*
2. *अर्थशास्त्र (वा०गै०), 2.5, बाह्यमाभ्यन्तरं चायं विद्याद्वर्षशतादपि।*
   यथा पुष्टो न सज्येत व्ययशेषं च दर्शयेत्।।
3. *वही, सन्निधाता कोशगृहं पण्यगृहं कोष्ठागारं,*
   कृष्यगृहमायुधागारं बन्धनागारं च कारयेत्।
4. *वही, 2.11, अतः परेषां रत्नानां प्रमाणं मूल्य लक्षणमं।*
   जातिं रूपं च जानीयान्निधनं नव कर्म च'।।
5. *वही, 2.16*

विक्रेय पदार्थ (पण्य) की बिक्री के अतिरिक्त पण्याध्यक्ष का यह कार्य भी था कि वह अन्य पण्य की बिक्री को नियंत्रित करे। इस सबंध में अर्थशास्त्र में कहा गया है, कि पण्य को जनता की भलाई की दृष्टि से बेचा जाय।[1] कोष्ठागार में राज्य की आवश्यकतानुसार माल को संग्रहित किया जाता था। सेना राज पुरूष आदि के खर्चे के लिए राज्य की ओर से जो माल खरीदा जाता था या स्वयं उत्पादन किया जाता था या बदले में प्राप्त किया जाता था वह सब कोष्ठागार में रखा जाता था[2] कुप्य गृह में कुप्य पदार्थ एकत्र किये जाते थे।[3] आयुधागार में सभी प्रकार के अस्त्र शस्त्रों को रखा जाता था।[4] बंधनागार के लिए चाणक्य का यह कथन है, कि उसके सब कमरे सभी और से सुरक्षित बनाये जाने चाहिये, और स्त्री-पुरूषो के लिये अलग-अलग कमरों का निर्माण होना चाहिये।[5]

मौर्यकाल में कंटशोधन न्यायालय के न्यायधीश को 'प्रदेष्टा'[6] कहते थे। विविध अध्यक्षों और राजपुरूषों पर नियंत्रण रखना व उन्हें अपराधों से पृथक रखना प्रदेष्टा का कार्य था।

सेना के प्रमुख संचालन को 'नायक'[7] कहते थे। सैन्य विभाग का महामात्य सेनापति होता था, परन्तु नायक का कार्य युद्ध क्षेत्र में सैन्य संचालन करना होता था। स्कंधावार (छावनी) बनाने का कार्य

---

1. *वही, 2.16* *उभयं च प्रजानामनुग्रहेण विक्रापयेत।*
   स्थूलमापि लाभंप्रजानामैपघातिकम् वारयेत्।।
2. *वही, 2.14*
3. *वही, 2.17*
4. *वही, 2.18*
5. *वही, 2.5* *विभक्त स्त्री पुरुष स्थानपसारतः सुगुप्तकक्ष्यं बन्धनागारं कारयेत्।।"*
6. *अर्थ० (वा०गै०) 4.1 'प्रदेष्टारस्त्रयस्त्रयोऽमात्याः कंटकशोधनं कुर्युः*
7. *वही, 10.1*

इसी के आधीन था। युद्ध के अवसर पर सैनिकों को दिये जाने वाले कार्यो त्यूह-रचना तैयार करने का कार्य नायक ही करता था। युद्ध के समय वह सैन्य अगुवाई करता था।[1]

इस काल में जिस प्रकार कंटकशोधन न्यायालय के प्रधान न्यायधीश को प्रदेष्टा करते थे। उसी प्रकार धर्मस्थीय न्यायालय के प्रधान न्यायधीश को 'व्यावहारिक' या धर्मस्थ' कहते थे।[2]

मौर्यकाल में राज्य की ओर से अनेक कराखाने चलाये जाते थे। खानों, जंगलो, खेतों आदि से एकत्र कच्चे-माल को अनेक उपयोगों के लिये तैयार करने के लिए राज्य की ओर से अनेक कराखाने थे, उनका संचालन कार्मातिक के आधीन था।[3]

मगध साम्राज्य में सीमांत प्रदेशों का बहुत महत्व था। उस समय सीमा की रक्षा के लिए विशाल दुर्गो का निर्माण कराया जाता था। विदेशी आक्रमणों से देश की रक्षा के लिए ये दुर्ग अत्यंत उपयोगी सिद्ध होते थे। सीमा प्रदेशों के मार्गो पर अनेक छावनियाँ डाली जाती थी, जिसकी व्यवस्था अंतपाल के हाथों में होती थी। सीमा प्रांत में उन जातियों को विशेष रूप से बसाया जाता था जिनका पेशा ही युद्ध करना था। इन सब की व्यवस्था भी 'अंतपाल' के द्वारा होती थी।[4]

जिस प्रकार सीमा प्रदेशों के दुर्ग अंतपाल के आधीन थे, उसी प्रकार साम्रज्य के अंतर्वर्ती दुर्ग 'दुर्गपाल' के अधिकार में थे। मौर्यकाल में चार प्रकार के दुर्ग औदक, पार्वत, धान्वन और वनदुर्गो का निर्माण कराया जाता था।[5]

---

1. *वही, 10.2 पुरस्तान्नायकः।*
2. *वही, 3.1.*
3. *वही, 2.12.*
4. *वही, 2.1, अन्तेष्यन्तपाल दुर्गाणि जनपद द्वाराण्यन्त पालाधिष्ठितानि स्थापयेत्।*
   तेषामन्तराणि वागुरिकशबर पुलिंद चण्डालारण्यचरा रक्षेयुः।।
5. *अर्थशास्त्र (वा०गै०) 2.3 (वाचस्पति गैरोला, चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी, 4 सं०)*

जिस प्रकार जनपद के शासन संचालन का कार्य समाहर्ता के आधीन था, उसी प्रकार पुरो या नगरों के शासन संचालन का दायित्व 'नागरक' [1] पर होता था। मौर्यकाल में पाटलिपुत्र एक विशाल नगर था। इस लिये इस विशाल नगर का प्रबंध एक पृथक महामात्य के आधीन होना ही उचित था।

ब्राह्मण ग्रन्थों एवं संहिताओं के अध्ययन से ज्ञात होता है, कि उ० वैदिक काल में प्रशासन में महिलाएं भी अपना सहयोग प्रदान करती थी। इन ग्रन्थों मे महिषी, परिवृक्ति तथा बवात का उल्लेख प्राप्त होता है, जो रत्नियों की सूची में गिनी जाती थीं। परन्तु इस काल के प्राप्त स्त्रोतों से प्रशासन में महिलाओं की भागीदारी के सम्बन्ध में जानकारी नहीं प्राप्त होती है। जिससे ज्ञात होता है कि इस काल में प्रशासन में अब महिलाओं का स्थान नहीं रहा।

सम्राट अशोक ने अपनी प्रजा के नैतिक उत्थान के लिए धर्ममहामात्र नामक एक नये अधिकारी की नियुक्ति की थी। इसका प्रमुख कार्य प्रजा को धर्म की शिक्षा देना और राजा द्वारा प्रदान की गई दान-दक्षिणा के सही प्रयोग के लिए निर्देश देना था। मौर्यकाल में सभी धर्मो की उन्नति हुई। धर्ममहामात्र का एक अन्य प्रमुख कार्य सभी धर्मो जिन्हें राज्य में संरक्षण प्राप्त हुआ था उनको बढ़ावा देना था। धर्ममहामात्र को यह अधिकार भी प्राप्त था, कि वह निर्णीत मामलों की पुनः सुनवाई कर सकता था एवं वह किसी भी व्यक्ति को प्राप्त मृत्यु दंड को भी कम कर सकता था। धर्ममहामात्र राजधानी (पाटलिपुत्र) एवं दूरस्थ स्थानों में उपस्थित रहते थे।[2]

---

2. *वही, 2.36 सहाहर्तृवन्नागरिको नगरं चिन्तयेत्।*

3. Hultzch. Ashok, पृष्ठ 100 Fn. 7.

अर्थशास्त्र में अमात्य व मंत्री पद के लिए अलग-अलग योग्यताये निर्धारित की गई हैं।[1] भारद्वाज का कथन है, कि राजा को अपने साथ अध्ययन करने वाले व्यक्तियों को ही अमात्य पर पर आसीन करना चाहिये, क्योकि वह उसकी कार्य क्षमता आदि गुणों को जानता है।[2] परन्तु आचार्य विशालाक्ष ऐसा करने के पक्ष में नही है वो इसे राष्ट्र के लिए हानिकारक मानते है।[3] पाराशर का मत निष्ठावान व्यक्ति को ही अमात्य बनाने से है।[4] आचार्य कौणदन्त वंश परम्परा को ही अमात्य पद के लिए श्रेष्ठ मानते है। उनका कहना है कि जिनके पूर्वज पहले इस पद पर रह चुके हो उन्हें ही इस पद के लिए योग्य समझना चाहिये।[5] परन्तु आचार्य वातब्यधि आचार्य कौणदंत के मत से सहमत नही हैं इनके अनुसार नये व्यक्ति को ही अमात्य पद पर नियुक्त करना चाहियें क्योकि नये अमात्य राजा से भय रखते हुए उसके प्रति आज्ञाकारी रहेगें।[6] कौटिल्य अधिक से अधिक योग्यताओं वाले व्यक्ति को ही अमात्य पद के योग्य समझते है।[7] अर्थशास्त्र में मंत्रियों की योग्यताओं के विषय में भी प्रकाश पड़ता है। इसके अनुसार एक आदर्श मंत्री को उसी देश निवासी होना चाहिय, कुलीन, गुणवान,

---

1. *अर्थशास्त्र 1.7.*
2. *वही, सहाध्यायिनोऽमात्यान् कुर्वीत, दृष्टशौचसामर्थ्यत्वादिति भारद्वाजः।*
   ते ह्यस्य विश्वास्या भवन्तीति।
3. *वही, सहक्रीडितत्वात् परिभवन्त्येनम्। ये ह्यस्य गुह्यसधर्माणस्ता नमात्यान् कर्वीत,*
   समानशील व्यसनत्वात। ते ह्यस्य मर्मज्ञ भयान्नपराध्यन्तीति।
4. *वही, साधारण एष दोष इति पाराशरः। तेषामपि मर्मज्ञभयाकृता कृतान्यनुवर्तेत।*
5. *वही,*
6. *वही,*
7. *वही, कार्यसामर्थ्याद्धि पुरुष सामर्थ्य कल्प्यते सामर्थ्यश्च।*
   विभज्यामात्याविभवं देश कालौ च कर्म च। अमात्याः सर्व एवैते कार्याः स्युर्नतु मन्त्रिणः।

विभिन्न कलाओ का ज्ञाता, बुद्धिमान, चतुर साहसी, होशियार, अच्छा वक्ता, दृढ़ सहिष्णु पवित्र, मिलनसार, विश्वासनीय, आदि योग्यताओं वाला व्यक्ति ही मंत्रीपद के योग्य है।[1]

अर्थशास्त्र से पता चला है, कि राजा मंत्री एवं पुरोहित के माध्यम से सामान्य पदों पर नियुक्त अमात्यों के चरित्र की परीक्षा लेता था। यह परीक्षा चार विधियों धर्मोपधा, अर्थोपधा कामोपधा भयोपधा से ली जाती थी। धर्मोपधा विधि से उसके हृदय की पवित्रता को परखा जाता था। जो अमात्य इस परीक्षा में पास हो जाता है। उसे न्यायालय से सबंधित कार्यो में लगा दिया जाता था अर्थोपधा विधि में गुप्त प्रयासों से धन के प्रलोमन द्वारा उसको जाँचा जाता था तथा जो इस परीक्षा को पास कर लेता था उसे समाहर्ता एवं सन्निधाता के पदों के योग्य समझा जाता था। कामोपधा परीक्षण में उत्तीर्ण व्यक्ति को राजकुमारों राजकुमारियों, राजा के सबंधियों एवं उसके निवास की देख-रेख की जिम्मेदारी सौंपी जाती थी। जो अमात्य भयोपधा विधि में उत्तीर्ण हो उसे राजा अपना अंगरक्षक नियुक्त करता था।[2]

राजा मंत्रीपद पर उसी व्यक्ति को नियुक्त करता था, जो उपर्युक्त चारों परीक्षाओं में पास हो जाता था।[3]

साक्ष्यों से ऐसा पता चलता है, कि कुमारों और प्रादेशिक राज्यपालों का स्थानान्तरण होता था। इससे मौर्यकाल में स्थानान्तरण के विषय में हमें पता चलता हैं, इससे हम यह अनुमान लगा सकते है, कि स्थानान्तरण चलन का अनुसरण अन्य प्रशासनिक सेवाओं में भी किया गया।[4] परन्तु कुछ विभाग ऐसे भी थे जिनके मंत्रियों के स्थानान्तरण एक विभाग से दूसरे विभाग में नहीं किये जाते थें,

---

1. *वही, 1.8.*
2. *वही, 1.9.*
3. *अर्थशास्त्र, 1.9, सर्वोपधा बशुद्धान्मन्त्रिणः कुर्यात।*
4. *मुकर्जी, आर०के०, अशोक, पृ० 51.*

क्योंकि वे साम्राज्य की रक्षा एवं बचाव के लिए जिम्मेदार थे। ऐसे मंत्रियों का स्थानान्तरण मात्र राजा की आज्ञा पर ही होता था।[1]

जब राजा शक्ति सम्पन्न होता था तो उनके हाथों में प्रशासन और शक्ति होती थी। परन्तु अगर राजा कमजोर व अयोग्य होता था तो मंत्री प्रशासन को पूर्णयता अपने हाथों में लेकर वास्तविक शासक बन जाते थे।[2] जब कमजोर व पुष्ट प्रकृति के राजा सिंहासन पर बैठते थे तो उसके द्वारा गुणहीन मंत्रियों का ही चयन होता था। राजा की अयोग्यता के कारण से मंत्री अवैध रूप से राजगद्दी पर अपना अधिकार कर लेते थे।

सामान्यतः राजा व मंत्री के सबंध मंत्रीपूर्ण होते थे। राजा मंत्रियों का सम्मान व विश्वास करता था। मंत्री भी राज्य के प्रति राजभक्ति रखते थे और प्रजा के हितों के लिए प्रयत्नशील रहते थे। राजा और मंत्री पर प्रशासन समान रूप से निर्भर था।

---

1. *राय चौधरी एच०सी०, पोलिटिकल हिस्ट्री आफ एन्शियन्ट इंडिया, पृ० 379.*
2. *अल्टेकर अनंत सदाशिव, स्टेट गवर्नमेन्ट इन एन्शियन्ट इंडिया, पृ० 184.*

राजदूत :-

वर्तमान राजनीति के क्षेत्र में राजदूत को जो महत्वपूर्ण स्थान मिलता है, प्राचीन भारत में भी उसका वही महत्वपूर्ण स्थान था। रामायण, महाभारत और कौटिल्य द्वारा उद्धत प्राचीन अर्थशास्त्रकारों की दृष्टि में राजदूत को एक समान प्रतिष्ठित स्थान प्रदान किया है। अर्थशास्त्र में दूत को राजा का मुख माना गया है। [1] दूत को राजा का मुख इस लिये कहा गया है कि अपने राष्ट्र में राजा जैसी व्यवस्था और जैसे नीति नियम निर्धारित करता है, दूसरे राष्ट्र में राजा का वही कार्य राजदूत करता है। परराष्ट्र मामलों में वह राजा का प्रतिनिधि माना जाता है। राजदूतों को किस ढंग से प्रस्थान करना चाहिये एवं दूतों को किस प्रकार का आचार व्यवहार करना चाहिये इस सबंध में भी कैटिल्य ने विस्तार से बताया है। इस विषय पर कौटिल्य का यह कथन है कि अगर दूत के सामने प्राणों का संकट भी उपस्थित हो जाये तो उसे अपने राजा के संदेश को अविकल रूप में दूसरे राजा के सम्मुख प्रस्तुत करना चाहिये।[2] राजदूत पर जहाँ एक साथ इतनी जिम्मदारियाँ और प्राणभय तक की भीषण विपत्तियाँ हैं, वहाँ उसकी सुरक्षा तथा उसके महत्वपूर्ण कार्यो को ध्यान में रखकर उसे कुछ विशेषाधिकार भी प्रदान किये गये थे। उसको सबसे पहला अधिकार अपनी आत्मरक्षा का दिया गया है। सभी राजनीति के आचार्यो ने एकमत होकर यह बात कही है, कि राजदूत की हत्या नही की जा सकती। कौटिल्य ने तो यहाँ तक कहा है, कि राजदूत भले ही चांडाल हो, उसकी हत्या नहीं की जा सकती। क्यों कि दूत का धर्म अपने स्वामी का संदेश दूसरे राजा तक पहुँचाना मात्र है।[3]

---

1. *कौटिल्य (वा०गै०) 1.15, दूतमुखा वै राजामस्त्वं चान्ये च।*
2. *वही,*
3. *वही,*

कौटिल्य ने दूतों की तीन श्रेणियों बतायी है। (क) निसृष्टार्थ (ख) परिमितार्थ (ग) शासनहार।[1] पहली श्रेणी के दूतों का कार्य अपने राजा का संदेश ले जाना और अपने राजा के लिए संदेश लाना था। उन्हे यह भी अधिकार प्राप्त था, कि वह स्थिति को देखते हुये स्वयं भी अपनी ओर से बात-चीत कर सकते है। इस श्रेणी के दूतो में अमात्य की सारी योग्यतायें होनी चाहिये। दूसरी श्रेणी के दूतों के लिये अमात्य की तीन चौथाई योग्यता निर्धारित की गई है। तीसरे शासनहार दूतों का एक मात्र कार्य संदेशों का आदान प्रदान करना था।

गुप्तचरः-

प्रशासन के सुदृढ़ संचालन के लिए गुप्तचर त्यवस्था का सुदृढ़ होना बहुत आवश्यक था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में गुप्तचरों को बहुत उच्चस्थान प्रदान किया गया है। जिस प्रकार वर्तमान में खुफिया विभाग (गुप्तचर) का एक मात्र उद्देश्य अपराधों का पता लगाना है, उसी प्रकार मौर्यकाट में भी शासक की प्रजा के कष्टों आदि का पता लग सके, इसलिये गुप्तचर व्यवस्था की जाती थी।[1] प्रजा की सुख-शांति में बाधा उत्पन्न करने वालो और राजकीय नियमों का दमन किस प्रकार हो, इसकी सूचना पहुँचाना, गुप्तचरों का प्रमुख कार्य था।

मौर्य काल में समाज अनेक वर्गो तथा उपवर्गो में वंटा था, इसलिये समाज में घटित होने वाली हर बात का पता लगाने वाले गुप्तचरों के तौर-तरीकों में भी विविधता होना स्वाभाविक सा था। इस बात को ध्यान में रखते हुऐ कौटिल्य ने कार्य भेद से गुप्तचरों के नौ विभाग किये है, जिनके नाम है- (1) कापटिक, (2) उदास्थित, (3) गृहपतिक, (4) वैदेहक, (5) तापस,

---

1. *वही, अमात्यसम्पदो पेतो निसृष्टार्थः, पारगुणहीनः परिमितार्थः, अर्धगुणहीनः शासनहरः।*
2. *अर्थशास्त्र (वा०गै०) 1.12, पौरजानपदानपसर्पयेत्।*

(6) सत्री, (7) तीक्ष्ण, (8) रसद, (9) भिक्षुकी।[1] इसमें प्रथम पाँच स्थायी गुप्तचर[2] कहलाते थे, इनको 'संस्था' भी कहते थे, क्यों कि ये एक ही स्थान में रहकर कार्य करते थे। बाकी बचे हुऐ गुप्तचर 'संचार'[3] कहलाते थे क्यों थे घूम-घूम कर हर बात का पता लगाते थे।

इन गुप्तचरों में कापटिक, अदास्थित, गृहपतिक वैदहेक और तापस वेश धारण करने वाले गुप्तचरों को वेतन हजार पण प्रतिवर्ष, सत्री, तीक्ष्ण, भिक्षुकी आदि भेष में रहने वाले गुप्तचरो को पाँच सौ पण वेतन प्राप्त होता था।[4]

इस प्रकार यह ज्ञात होता है, कि पूर्ववर्ती मौर्यकाल की अपेक्षा इस काल में गुप्तचर व्यवस्था पूर्णरूपेण फलीफूली। इसका कारण संभवतः इस काल में विशाल साम्राज्य के उचित संचालन के लिए एक ऐसी संस्था की आवश्यकता थी, जो राज्य में घटित होने वाली प्रत्येक घटना पर अपनी दृष्टि रख सके। इसलिए इस काल में गुप्तचर व्यवस्थाओं को महत्व प्राप्त हुआ।

केंद्रीय सचिवालय और उसके विभाग :-

मौर्य साम्राज्य का प्रशासनिक ढांचा नौकर शाही के विशाल तंत्र द्वारा संचालित होता था। अर्थशास्त्र से हमें यह पता चलता है, कि मौर्य काल में सचिवालय व्यवस्था पूर्ण रूप में फली-फूली। कौटिल्य मैगस्थनीज आदि प्रशासनिक अधिकारियों की नियुक्ति किस प्रकार की जाती थी, इस विषय में लिखते है। परंतु इस विषय की जानकारी का प्रमुख साधन अशोक के शिला-लेख है।[5] मौर्य काल में लिखित आदेश दिये जाते थे, जिन्हें शासन कहा जाता था।[6]

---

1. *अर्थशास्त्र (वा०गै०) 1.10, कापटिकोदास्थित गृहपति वैदेह कतापसव्यञ्जनाम् सत्रितीक्ष्ण रसद भिक्षुकीश्च।*
2. *वही, 1.10*
3. *वही, 1.11*
4. *वही, 5.3 कापटिकोदास्थितिगृह पतिकवैदेह कतापसव्यञ्जनाः साहस्त्राः सत्रितीक्ष्ण रसदभिक्षुक्यः पञ्चशतः*
5. *भण्डारकर डी०आर०, अशोक, पृ० 301.*
6. *अर्थशास्त्र, (वा०गै०) 2.10, शासनेशासनामित्या चक्षते।*

राजकीय आदेशों को लिखने वाले लेखका के लिए अमात्य जैसी योग्यता होना आवश्यक था। एवं उसको लिपियों का ज्ञाता होना भी आवश्यक था।[1] केंद्रीय शासन एवं सचिवालय का प्रमुख कर्तत्य, प्रांतीय जिला एवं स्थानीय प्रशासन का निरीक्षण एवं मियंत्रण रखना था। सचिवालय का प्रमुख कार्य अपने संदेशवाहकों ह्वारा केंद्र शासन द्वारा दिये गये आदेशों को स्थानीय अधिकारियों तंक पहुँचाना था। कौटिल्य का यह कथन है, कि राजा को यह जानने का भी प्रयत्न करना चाहिये, कि उसके प्रशासन से उसकी प्रजा को काई कस्ट नहीं। केन्द्रीय शासन मे प्रशासन के[2] महव्वपूर्ण अंगों, संदेशवाहकों तथा गुप्तचरों का महत्वपूर्ण स्थान था। अर्थशास्त्र में इनके लिए प्रदेस्टा,[3] संस्था और संचार [4] शल्दों का प्रयोग किया गया है। अशोक के शिला लेख में इल्हें प्रतिवेदक,[5] एरियन इन्हें 'ओवरसियर,[6] और स्ट्रैबो ने इन्स्पैक्टर[7] के रूप में उल्लेख किया है। ये सभी उल्लखित अधिकार केंद्रीय प्रशासन को प्रांतो के विकास और वहाँ के सरकारी या गैरसरकारी लोगों के कार्यो के विषय में बताते रहते थे। अर्थशास्त्र मौर्य प्रशासन के जिस पहलू की ओर हमे ध्यान दिलाता है, उसकी निश्चित जानकारी हमें अभिलेखों से होती है।[8] मौयकाल में विभाग के प्रधान को अध्यक्ष कहते थे। इस काल विभागों की संख्या कितनी होनी चाहिये, इस विषय को लेकर विद्धानों में मतभेद है।[9]

---

1. *वही, 2.10, तस्मादमात्यसम्पदोपेतः सर्वसमयविदाशुग्रन्थश्चार्वक्षरो लेख-वाचनसमर्थो लेखकःस्यात्।।*
2. *वही, 1.12. कृतमहामात्यापसर्पः पौरजानपदान पसर्पयेत्।*
3. *वही, 2.35.*
4. *वही, 1.10-11*
5. *मजूमदार आर0सी0, द एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी, पृ0 81.*
6. *चिनौक, एरियन्स एनाबेसिस, पृ0 413.*
7. *एच0 एण्ड एफ0 स्ट्रैबो, 3. पृ0 103.*
8. *भण्डारकर डी0आर0, अशोक, पृ0 301.*
9. *त्रिपाठी, आर0एस0, प्राचीन, भारत का राजनैतिक इतिहास, पृ0 117.*

अर्थशास्त्र और अशोक के अभिलेखों में मंत्री सबंधी विभागों का उल्लेख न मिलने के कारण विभगीय अध्यक्षों एवं मंत्रियों के मध्य बहुत स्पष्ट अंतर नहीं पता चलता है।[1] अध्यक्ष अपने मंत्रियों के लिए उत्तरदाई थे। अगर किसी विभाग में एक मंत्री और एक अध्यक्ष होता था, तो वे अपने विभाग के प्रमुख के रूप में कार्य करते थे।

अमात्यों के वर्ग से ही अध्यक्षों का चयन होता था। इसके विपरीत निचले स्तर के अधिकारी अगर समय-समय पर किये गये आकलन के परीक्षणों में अपनी योग्यताओं और निष्ठता को सिद्ध कर देते थे, तो वे अध्यक्ष, अमात्य आदि उच्च पदों तक पहुँच सकते थे।[2]

हमको प्रशासनिक अधिकारियों एवं मंत्रियों को किस प्रकार पर पदोन्नति प्राप्त थी, इस विषय में वृहद जानकारी मिलती है। अध्यक्षों के पदों पर नई नियुक्तियों किस प्रकार की जाती थीं, इस विषय में जानकारी अस्पष्ट है। कनिष्ठ अधिकारियों की नियुक्ति के सबंध में भी हमें अधिक जानकारी नहीं प्राप्त है। हम ऐसा विचार कर सकते है, कि निचले पदों के अधिकारियों की नियुक्तियों एवं चयन के कोई बहुत कठोर नियम नहीं थे, परन्तु आपत्ति काल में उनकी सेवायें सेना में ली जा सकती थीं, इसलिए उनसे शारीरिक रूप से स्वस्थ्य रहने की आशा की जाती थी।[3] कौटिल्य के अनुसार कुछ अति संवेदनशील विभागों के अधिकारियों को छोड़कर अन्य सभी का स्थानन्तंरण किया जा सकता था।[4]

अर्थशास्त्र में विभिन्न वर्गो को प्राप्त होने वाले वेतन के सबंध में भी प्रकाश पड़ता है। इसमें सभी पदों अर्थात् आचार्य, मंत्री, पुरोहित, सेनापति, युवाराज, राजमाता, पटरानी द्वारपाल, अन्तर्वशिक,

---

1. *अल्टेकर अनंत सदाशिव, स्टेट गवर्नमेन्ट इन एन्शियन्ट इंडिया, पृ0 192, 319.*
2. *अर्थशास्त्र (वा0गै0) 1. 7-9.*
3. *मजूमदार आर0सी0, क्लासिकल एज, पृ0 349.*
4. *मजूमदार आर0सी0, द एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी, पृ0 73, 79, 81*

प्रशास्ता समाहर्ता, श्रेणीमुख्यों, सेनाध्यक्षों गुप्तचरों आदि को प्रदान किये जाने वाले वेतन का उल्लेख मिलता है।[1]

ऐसा प्रतीत होता है, कि प्रांतीय और सहायक संवर्ग स्तर के अधिकारियों का चुनाव स्थानीय क्षेत्रों से हो जाता था, उस समय यातायात के उपयुक्त साधन नहीं थे, इस कारण उनके स्थानांतरण आसानी से नहीं होते थे।

प्रांतीय प्रशासन :-

वर्तमान भारत वर्ष के समान ही मौर्य प्रशासनिक व्यवस्था, प्रांतों में विभाजित थी। मौर्य साम्राज्य बहुत से प्रांतों में, विभाजित था जिन्हें चक्र नाम से सम्बोधित किया जाता था।[2] अशोक के अभिलेख से हमें तीन प्रतिनिधि शासकों का उल्लेख मिलता है, जिनकी नियुक्ति तक्षशिला (उत्तरापथ), तोपाली (कलिंग) ब्रह्मगिरि (मैसूर) में थी। वौद्ध स्त्रोत से एक चौथे प्रतिनिधि शासक जो कि उज्जैनी (अवंतिराष्ट्र) में नियुक्त था, का पता चलता है। एक शक अभिलेख से हमें पाँच वें प्रतिनिधि शासक (वायसराय) जो कि गिरनार (काढियाबाड़) में नियुक्त था, का उल्लेख मिलता है।[3] ऐसा प्रतीत होता है, कि पूर्वी पंजाब और उत्तरांचल में भी प्रतिनिधि शासक की नियुक्त की गई थी, जिसकी राजधानी अहिछत्र थी, और एक अन्य वायससाराय (प्रतिनिधि शासक) की नियुक्ति मस्की के समीप दक्षिणी उ०प्र० और कोशल में हुई थी। ऐसा प्रतीत होता है, कि अन्य प्रदेश (बंगाल, सुवर्णगिरि, महाराष्ट्र)

---

1. *अर्थशास्त्र, (वा०गै०) 5.3*
2. *विद्यालंकार सत्यकेतु, प्राचीन भारत, पृ० 271*
3. *अल्टेकर अनंत सदाशिव, स्टेट गवर्नमेन्ट इन एन्शियन्ट इंडिया, पृ० 320.*

भी प्रतिनिधि शासकों के अधिकार में थे। मध्य देश और प्राच्य में राजा प्रयत्क्ष रूप से उच्च अधिकारियों की सहायता से शासन करता था।[1] इस काल में प्रतिनिधि शासकों को वृहद शक्तियों प्राप्त थी, इस लिए ये बहुत उच्च स्तर के अधिकारी हो जाते थे। अधिकांशतः युवराज को ही, किसी प्रांत का प्रतिनिधि शासक नियुक्त किया जाता था। इसका कारण संभवत, यह था, कि युवराज सही प्रशासन संचालित करने के विषय में ज्ञान सकें। इसलिए बिंदुसार ने तक्षशिला और उज्जैनी में अपने युवराजों को प्रतिनिधि शासक के रूप में नियुक्त किया था।[2]

प्रातों में प्रशासन के लिए राजकुमारों की ही नियुक्ति होती थी, इसकी जानकारी हमें अशोक के शिलालेख से भी होती थी।[3] इससे यह स्पष्ट होता है, कि कुछ प्रमुख प्रांतों में राज परिवार से ही प्रतिनिधि शासक नियुक्त किया जाते थे।

चन्द्रगुप्त मौर्य ने गुजरात के कढियावाड़ में वैश्य जाति के एक व्यक्ति पुष्यगुप्त को प्रतिनिधि शासक नियुक्त किया था।[4]

इस नियुक्ति से हमारे सामने कई प्रकार के प्रश्न आते है। प्रथम-पुष्यगुप्त वैश्य राजपरिवार का व्यक्ति नहीं था, द्वितीय-पुष्यगुप्त की नियुक्ति साम्रज्य के एक प्रमुख प्रांत में हुई थी, जबकि वह किसी भी प्रकार से राजपरिवार से संबधित नहीं था। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है, कि कोई व्यक्ति अपनी विलक्षण योग्यता से भी राजपरिवार के लिए आरक्षित पदों को प्राप्त कर सकता था।

---

1. *वही, पृ0 210, 320-21*
2. *दिव्यावदान, पृ0 371.*
3. *अल्टेकर अनंत सदाशिव, स्टेट गवर्नमेन्ट इन एन्शियन्ट इंडिया, पृ0 321.*
4. *स्मिथ बी0ए0, द अर्ली हिस्ट्री ऑफ इंडिया, पृ0 139, 159*

अशोक ने भी एक यवन जिसका नाम तुषास्फ था, को काढियावाड़ का प्रतिनिधि शासक नियुक्ति किया था।[1] यद्यपि कौटिल्य यह नहीं चाहता था, कि किसी विदेशी व्यक्ति की नियुक्ति राज्य के महत्वपूर्ण प्रशासनिक पद पर की जाये, परन्तु हमको ऐसे उदाहरण प्राप्त होते है, जिससे पता चलता है, कि विलक्षण प्रतिभाओं से युक्त होने पर विदेशी को राज्य की प्रशासनिक सेवा में ले लिया जाता था।[2] शिलालेख से पता चलता है, कि चन्द्रगुप्त मौर्य ने विदेशी तुषस्फ की नियुक्ति सौराष्ट और काढियावाड़ में गवर्नर के पद के लिए थी।[3] अभिलेख से पता चलता है, कि चन्द्रगुप्त मौर्य काल में उसके प्रांतीय राज्यपाल पुष्यगुप्त वैश्य ने एक झील (सुदर्शन) बनवाने का कार्य प्रांरभ किया, जिसे अशोक के काल में सौराष्ट और काढियावाड़ के राज्यपाल ने जो कि एक वदिशा था, (तुषास्फ) ने पूर्ण करवाया था।[4] इससे पता चलता है, कि परवर्ती मौर्यकाल में राजाओं ने प्रशासनिक सेवाओं में विदेशियों की नियुक्ति के सबंध में नियमों का बहुत अनुरक्षण नहीं किया। स्मिथ महोदय का यह मानना है, कि अशोक ने यवन तुषाष्फ की नियुक्ति प्रांतीय राज्यपाल के रूप में यूनानियों और मौर्यो के मधुर सबंधों जो कि अशोक के पितामह चन्द्रगुप्त मौर्य और सेल्यूकस की पुत्री के वैवाहिक सबंधों से बने थे,[5] को ध्यान में रखकर की थी। परन्तु हमारे पास इस विषय की कोई निश्चित जानकारी नहीं है, कि चन्द्रगुप्त और सेल्यूकस की पुत्री के मध्य वैवाहिक सबंध हुआ था।

---

1. *राय चौधरी एच0सी0, पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्शियन्ट इंडिया, पृ0 263, 289, 508.*
2. *मजूमदार आर0सी0, द एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी, पृ0 61-62.*
3. *राय चौधरी एच0सी0, पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्शियन्ट इंडिया, पृ0 263, 289, 508.*
4. *स्थिम बी0ए0, अर्ली, हिस्ट्री ऑफ इंडिया, पृ0 139, 159.*
5. *स्मिथ बी0ए0 अर्ली, हिस्ट्री ऑफ इंडिया, पृ0 125-26.*

प्रतिनिधि शासकों (वायसराय) के लिए आंतरिक सुरक्षा व्यवस्था को बनाये रखने के लिए सैन्य नेतृत्व की योग्यता रखना आवश्यक था। प्रतिनिधि शासक प्रायः राजकुमार होते थे। प्रशासनिक व्यवस्था को बनाये रखने के लिए इनके पास केन्द्र की तरह ही अपने न्यायालय एवं मंत्री होते थे। जिस प्रकार राजा के पास मंत्रियों की परिषद होती थी, जिसकी सहायता से वो राजकार्य संचालित करता था, वैसी ही परिषद प्रांतीय प्रतिनिधि शासकों को भी पास होती थी, जिनका पद महामात्र के समान था।[1] ये मंत्री कभी-कभी जनता पर बहुत अत्याचार भी करते थे। तक्षशिला की प्रजा द्वारा किया गया विद्रोह इस बात का उदाहरण है।[2]

प्रतिनिधि शासकों द्वारा केन्द्रीय शासन की उन्ही नीतियों का पालन किया जाना आवश्यक था, जिनकी उन्हें राजाज्ञा दी जाती थी, या वे विशेष दूतों के द्वारा सूचित की जाती थी। चूंकि उस समय संचार व्यवस्था का बहुत विकास नहीं हुआ था, इसलिए ऐसा प्रतीत होता है, प्रांतों के प्रतिनिधि शासकों ने स्वायत्ता का काफी लाभ उठाया होगा।

प्रांतीय सरकारों और प्रतिनिधि शासकों का प्रांत के नागरिक एवं राजस्व कार्यो में कितना हस्तक्षेप था, इस विषय की विस्तृत जानकारी हमें किसी मौर्यकालीन स्त्रोत से नहीं मिलती है। केन्द्रीय शासन के आदेश पर ही वे कर वसूलते रहे होंगे, एवं अन्य विभागीय कार्यो में सहयोग देते होगे और प्रोत में संसाधनो जैसे सिचाई के टैंक, नहरे[3] आदि का निर्माण करवाना था मरम्मत करवाना इसके कार्य थे। वे समय-समय पर केन्द्र को प्रांत के विषय में समुचित जानकारी भेजते रहते थे। सुवणीगिरि के वायसराय द्वारा इसी प्रकार का कार्य किया गया था।[4]

---

1. *अल्टेकर अनंत सदाशिव, स्टेट गवर्नमेन्ट इन एन्शियन्ट इंडिया, पृ0 321.*
2. *राय चौधरी एच0सी0, पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्शियन्ट इंडिया, 363.*
3. *स्मिथ बी0ए0, अर्ली हिस्ट्री ऑफ इंडिया, पृ0 139, 159.*
4. *अल्टेकर अनंत सदाशिव, स्टेट गर्वनमेन्ट इन एन्शियन्ट इंडिया, पृ0 322.*

अशोक का बड़ा भाई सुसीम तक्षशिला में प्रतिनिधि शासक था।[1] एक बार उसके प्रांत में विद्रोह हुआ, जिसे शांत कर सकने में वह असमर्थ रहा। उसके स्थान पर उसके छोटे भाई अशोक को भेजा गया। इससे पता चलता है, कि उस काल में राज्यपालों के स्थानान्तरण का भी चलन था। अशोक वह विद्रोह शांत करने में सफल रहा। अपने तक्षशिला में किये गये कार्यो के कारण ही मौर्य राजसिंहासन के लिए मंत्रियों द्वारा अशोक को अन्य भाइयों की अपेक्षा सबसे योग्य माना गया।[2] अशोक के अभिलेखों से भी स्थानान्तरण प्रक्रिया के विषय में जानकारी मिलती है।[3]

मंडलीय प्रशासन :-

मौर्यकाल में साम्राज्य को प्रांतो, मंडलों और जिलों में विभाजित किया गया था। मंडल के अधिकारी को प्रादेशिक कहा जाता था। ऐसा प्रतीत होता है, कि अशोक के लेखों में जिस प्रादेशिक का संदर्भ आया है, वह अर्थशास्त्र में उल्लखित प्रदेष्टा के समान था, जो समाहर्ता के प्रति पूर्ण रूप से उत्तरदायी था।[4] मौर्यकाल के प्रादेशिक की तुलना हम वर्तमान समय के मंडलाधीशों से कर सकते है। उनको अपने अधीनस्थ अधीक्षकों जो कि उनके क्षेत्र में आते थे, उनके कार्यो पर निगरानी रखना पड़ती थी।[5] इनको न्यायिक कार्यकारी एवं राजस्व से सबंधित कार्य भी करने पड़ते थे। वे यह भी ध्यान रखते थे, कि दानियों को दी गई भूमियों या राजस्व के प्रयोग पर अन्य कोई हस्तक्षेप न कर

---

1. *मजूमदार आर0सी0 द एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी, पृ0 73, 79.*
2. *वही,*
3. *भंडारकर, डी0आर0, अशोक, पृ0 241.*
4. *राय चौधरी एच0सी0, पोलिटिकल हिस्ट्री आफ एन्शियन्ट इंडिया पृ0 319.*
5. *कौ0 अर्थ0 (वा0गै0) 4.9. समाहर्तृ प्रदेष्तारः पूर्वमध्यक्षाण मध्यक्षपुरुषाणां च नियमनं कुर्युः।*

सके। संभवतः मण्डल स्तर पर यह अपील करने के लिए उच्चतम न्यायालय के रूप में स्थित था। इस विषय में हमको कोई विशेष जानकारी नहीं हैं, कि प्रादेशिकों की सहायता के लिए कोई शासकीय सलाहकारी समिति होती थी। वे अपने अधीनस्थ कर्मचारियों के ऊपर वृहद शक्तियाँ रखते थे। यदि ये अधिकारी राजद्रोही हो जाते थे, तो इनको पकड़कर अग्रिम कार्यवाही के लिए ऊपर भेज दिया जाता था।[1]

मौर्य शासन काल में राजुक हजारों लोगों के ऊपर शासन करते थे। राजुकों के ऊपर 'आहार' कहे जाने वाले क्षेत्रीय मंडल का दायित्व था।[2] इसका आकार जिले के समान था। अशोक के शिलालेख (तृतीय) में प्रादेशिक और राजुक को उच्च्व पद पर दर्शाया गया है। ऐसा प्रतीत होता है, इन दोनों के पदों की तुलना की जाये तो प्रादेशिक का पद राजुक के पद से बड़ा रहा हो। इनको सहायता युक्त[3] नामक अधीनस्थ कर्मचारियों से प्राप्त होती थी। राजुक की स्थिति वर्तमान समय के कलेक्टर के समान थी।

---

1. *मजूमदार आर0सी0, द एज आफ इम्पीरियल यूनिटी, पृ0 324.*
2. *भण्डारकर डी0आर0, अशोक, पृ0 241-42, 289-90, 294.*
3. *इण्डियन हिस्ट्री क्वाटरर्ली, 1933, पृ0 117.*

अशोक की विकेन्द्रीकरण की नीति के कारण राजुको की शक्तियों में काफी बढ़ात्तरी हुई। इसकी जानकारी हमें स्तम्भ लेख से होती है, जिसमें इसके कर्तव्यों का स्पष्ट विवरण दिया गया है। राजुकों को दीवानी, राजस्व और फौजदारी के सभी मामलों में सम्पूर्ण प्रशासनिक अधिकार प्राप्त थे। मूलतः वे राजस्व अधिकारी थे और राजुक शब्द का अर्थ भूमि की नाप और उसका मूल्याकंन से सबंधित था।[1] हालांकि ये राजस्व अधिकारी थे, लेकिन प्रारंभ में इन्होनें न्यायिक कार्य भी किये। अशोक की राजुकों को दण्ड पर एक समान नीति अपनाने की प्रेरणा यह दर्शाती है, कि उसके पास न्यायिक शक्तियां भी थी। अशोक द्वारा अपराध की विवेचना और उसकी सजा पर राजुकों को और अधिक स्वतंत्रता दे रखी थी। उचित मामलों में वह सजा को कम या क्षमादान भी कर सकता था। कुल मिलकार राजुको को भू-राजस्व वसूलना, सड़कों की उचित देखभाल करना व्यापार और उद्योग को बढ़ाना, एवं सिंचाई व्यवस्था का उचित प्रबंध करना पड़ता था।

मौर्य शासन काल का विषय वर्तमान समय के जिले के समान था। विषय के प्रधान को विषय पति या विषयाध्यक्ष[2] कहा जाता था। अशोक के लेखों में इनका उल्लेख राजुक के बाद मिलता है, जो राजुक के समान दौरों पर जाता था।[3] ये जिले के अधिकारी अपने जिले में कानून-व्यवस्था को बनायें रखने के लिए जिम्मेदार थे। इनके ऊपर शासकीय करों एवं राजस्व की वसूली पर भी ध्यान देना पडता है। विषय में में शांति व्यवस्था बनाये रखने के लिए इनके आधीन एक छोटा सैन्य बल होता था।

---

1. *अल्टेकर अनंत सदाशिव, स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एन्शियन्ट इंडिया, पृ० 213.*
2. *वही, पृ० 215.*
3. *वही,*

ग्राम प्रशासन -:

प्रारंभिक काल में ग्राम प्रशासन के केन्द्र-बिन्दु थे। उस काल में जब संचार व्यवस्था और उद्योगों का विकास पूर्ण रूप से नहीं, हुआ था तब गॉवों का अत्यधिक महत्व था। प्राचीन भारतीय जीवन में नगरों का अधिक महत्व नहीं था। वैदिक स्त्रोतों से हमें कदाचित ही नगरों की उन्नति की प्रार्थनायें प्राप्त होती है। बाद के कालों में जब राज्यों के आकार मे बढ़ोत्तरी हुई तब भी गॉव की स्थिति में कोई खास परिवर्तन नहीं हुआ, क्यो कि ग्राम ग्रामीण समाज के प्रशासन में केन्द्र-बिन्दु थे। इस बात में कोई संदेह नहीं है, कि मौर्यकाल में ग्राम सामाजिक स्थिति और देश की आर्थिक स्थिति के लिए वास्तविक केन्द्र-बिन्दु थे।

गॉव का प्रशासन ग्रामिक[1] की देखरेख में या ग्राम वृद्धों [2] के द्वारा संचालित होता था। राजा ग्राम प्रशासन में सहायता के लिए ग्राम भृत्यों की नियुक्ति करता था।[3] ग्रामिक-ग्रामभृत्य, गोप, स्थानिक समाहर्ता या प्रदेष्टा के आदेशों के अनुसार ही कार्य करते थे। अशोक के समय में इन्हें महामात्र की विशेष श्रेणी जिसे कि राजुक और पुलिस[4] के नाम से जाना जाता था, के नेतृत्व में कार्य करना पड़ता था। ग्राम प्रशासन में ग्रामिक गॉव का सबसे प्रभाकारी व सबसे महत्वपूर्ण अधिकारी होता था। परन्तु कौटिल्य द्वारा उन अधिकारियों की सूची में जिन्हे वेतन प्राप्त होता था, इसका नाम नही मिलता है।[5] मजूमदार महोदय का यह मत है कि यह वह अधिकारी था, जिसे वेतन नही प्राप्त होता था, परन्तु यह वह राजकीय अधिकारी था, जिसे गॉव की जनता चुनती थी।[6]

---

1. *अर्थशास्त्र, 3.10.*
2. *वही, 2.10.*
3. *वही 5.3.*
4. *भण्डारकर डी0आर0, अशोक, पृ0 271-72.*
5. *अर्थशास्त्र, 5.3*
6. *मजूमदार, आर0सी0, द एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी, पृ0 323-24.*

ग्राम की सुरक्षा करना ग्राम मुखिया प्रमुख कर्तव्य था। प्राचीन काल में जीवन पूर्णतया सुव्यवस्थित नहीं हो पाया था। उस समय संचार प्रणाली का पूर्णरूपेण विकास न हो पाने से जब लुटेरों के आक्रमण होते थे तो उचित समय पर केन्द्र से सहायता नहीं प्राप्त हो पाती थी। इस स्थिति को देखते हुये गॉव वालों ने स्वयं अपनी सुरक्षा करना प्रारंभ कर दिया।[1] ग्रामिक का अन्य महत्वपूर्ण कार्य राजस्व की वसूली करना था। गॉव के शासन प्रबंध के विषय में काफी जानकारी हमें अर्थशास्त्र से मिलती है।[2] ग्राम मुखिया के लिए भी निमयों का निर्माण किया गया था, अगर वह उन नियमों के अनुसार कार्य नहीं करता था, तो वह भी दण्ड का भागी होता था।[3] ग्रामिक अपराधों के लिए अर्थ-दण्ड लगाता था जिससे केन्द्र को आय प्राप्ति होती थी।[4]

प्रत्येक जनपद की सबसे छोटी प्रशासनिक इकाई ग्राम होती है। दस ग्रामों के समूह को संग्रहण, दो सौ ग्रामों के समूह को खार्वाटिक, चार सौ ग्रामों के समूह को द्रोणमुख, व ८०० ग्रामों के समूह को स्थानीय कहते थे।[5] पॉच अथवा सात गॉवों के ऊपर राज्य द्वारा नियुक्त 'गोप' नामक कर्मचारी होता था।[6] गोप समाहर्ता के आदेशानुसार कार्य करता था। गोप का कार्य दस्तावेजों को सुरक्षित रखना था,

---

1. *अर्थशास्त्र (वा0गै0) 2.1.*
2. *अर्थशास्त्र, 3.10*
3. *वही, ग्रामिकस्य ग्रामादस्तेनपार दारिकं निरस्यतश्चतुर्विंशति पणो दण्डः। ग्रामस्योत्तमः। निरस्तस्य प्रवेशो ह्यधिगमेन व्याख्यातः।*
4. *वही.*
5. *अर्थ0 2.1 अष्टशतग्राम्या मध्ये स्थानीयं, चतुश्शतग्राम्या द्रोणमुखं द्विशत ग्राम्याः खार्वटिकं, दशग्रामीसङ् ग्रहेण सङ्ग्रहणं स्थापयेत्।*
6. *वही, 2.35.*

तथा वह जमीन, चैत्य, देवालय, श्मशान, तालाब, तीर्थस्थान, प्याऊ, चारागाह, अन्नक्षेत्र आदि के विषय में भी दस्तावेजों में जानकारी रखता था।[1]

नगरीय प्रशासन :-

मौर्य काल से पूर्व हमको नगरों एवं उनकी प्रशासनिक व्यवस्था के विषय में विस्तृत जानकारी नहीं प्राप्त होती है। वैदिक काल में ग्राम का जीवन में सर्वाधिक महत्व था, तथा नगरों का वैदिक काल में महत्वपूर्ण परिदृश्य नहीं प्राप्त होता है। वै० काल में भी नगरीय जीवन के विषय में बहुत कम जानकारी प्राप्त होती है।

सिंकदर के अभियान के समय पंजाब में बहुत से नगर थे।[2] इनमें से ज्यादातर नगरों में स्वायत्त शासन प्रचलित था। यूनानी इतिहासकारों के संदर्भो से पता चलता है, कि ये नगर अपनी स्वयं की परिषदों एवं अधिकारियों द्वारा संचालित किये जाते थे।[3] इस सबंध में हमें कोई निश्चित जानकारी नहीं है, कि इन परिषदों का गठन किस प्रकार होता था। अर्थशास्त्र में कहा गया है, कि जिस प्रकार समाहर्ता सम्पूर्ण राष्ट्र के प्रबंध का विचार करता है उसी प्रकार नगर के अध्यक्ष नगररिक को नगर प्रबंध का ध्यान रखना चाहिये।[4] कौटिल्य ने राज्य के दो भाग दुर्ग और जनपद माने है। उनके अनुसार

---

1. *वही, 2.35*

    सीमावरोधेन ग्रामाग्रं कृष्टाकृष्ट स्थल केदारारामषण्डवाटवन वास्तु चैत्य देवगृह सेतुबन्धश्मशान सत्रप्रपापुण्यस्थान विवीत पथिसंख्यानेन क्षेत्रांग, तेन सीम्नां क्षेत्राणां च मर्यादारण्य पथिप्रमाण सम्प्रदान विक्रयानुग्रह परिहार निबन्धान् कारयेत्। गृहाणां च करदाकर द संख्यानेन।

2. *अल्टेकर अनंत सदाशि, स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एन्शियन्ट इंडिया, पृ० 220.*
3. *चिनॉक, एरियन्स एनाबेसिस, पृ० 413.*
4. *अर्थ० 2.36. समहर्तृवन्नागरिको नगरं चिन्तयेत्।*

दुर्ग पुर या नगर का ही पर्यावाची है। कौटिल्य के अनुसार दुर्ग (राजधानी) को चार मुख्य भागों में विभक्त करना चाहिये, और प्रत्येक भाग के लिए एक स्थानिक नाम का कर्मचारी नियुक्त करना चाहिए। जो कर्तव्य सम्पूर्ण नगर के लिए 'नागरिक' के हैं, वही नगर के चौथाई भाग के लिए स्थानिक के है। प्रत्येक स्थानिक के अधीन गोप नाम के कर्मचारी होने चाहिये। इन गोपों को अपने आधीन कुटुम्बों के व्यक्तियों की आय-व्यय आदि का ब्यौरा रखना पड़ता था एवं स्थानिक नामक अधिकारी को भी अवगत कराना पड़ता था। इस सम्पूर्ण ब्यौरे को स्थानिक द्वारा नागरिक तक पहुँचाया जाता था। नागरिक का प्रमुख कर्तव्य अपने आधीन नगर में शांति और सुरक्षा व्यवस्था को बनाये रखना था। इस उद्देश्य के लिए अनेक प्रकार नियमों को बनाया गया था जैसे रात्रि में पाथिकों के ठहरने के नियम, रात्रि के समय नगर में आवागामन सबंधी नियम एवं नगर की स्वच्छता एवं नगरवासियों के स्वास्थ्य लाभ हेतु अनेक नियम थे।[1] प्रशासनिक व्यवस्था को सुचारू रूप से संचालित करने के लिए नगरों को कई खण्डों में विभाजित किया जाता था। नगर की स्वयं की एक अदालत होती थी, जहाँ कई न्यायपंचों की सहायता से न्यायधीश न्याय करता था। नगरीय शासन व्यवस्था के विषय में हमें कई महत्वपूर्ण जानकारियाँ मेगस्थनीज द्वारा प्राप्त होती है।[2] मेगस्थनीज ने हमको मौर्यकालीन राजधानी पाटलिपुत्र के विषय में पर्याप्त जानकारी प्रदान की है, परन्तु नगरीय प्रशासन का यह क्षेत्र हमारे आगे अध्ययन करने के लिए बहुत उपयोगी नहीं है। परोक्ष रूप से इसमें मात्र केवल इतना ही दर्शाया गया है, कि राजा एवं उच्च अधिकारियों का इस क्षेत्र में काफी हद तक नियंत्रण था। अर्थशास्त्र से हमको यह भी ज्ञात होता है, कि कई विशेष परिस्थितियों में नागरिक को यह अधिकार भी प्राप्त था, कि वह बंदीगृह से कैदियों को मुक्त कर सके।[3]

---

1. *अर्थ0 2.36.*
2. *स्मिथ बी0ए0, अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ0 135*
3. *अर्थ0 2.36. अपूर्वदेशाधिगमे युवराजाभिषेचने। पुत्रजन्मनि वा मोक्षो बन्धनस्य विधीयते।*

इस काल में साम्राज्य की राजधानी का विभाजन 30 खण्डों में किया गया था, और नगर सभा में प्रत्येक खण्ड से एक सदस्य ही प्रतिनिधित्व करता था।[1] इस प्रकार पाटलिपुत्र के नगर प्रशासन के लिए 30 सदस्यों की एक नगर सभा होती थी, जो पॉच-पॉच सदस्यों की छः समितियों में विभक्त थी।[2]

इन उपसमितियों में वैदेशिक समिति बड़े नगरों एवं व्यस्त बंदरगाहों में थीं, जहाँ पर विदेशी बहुसंख्या में निवास करते थे। इस समिति का कार्य विदेशी यात्रियों की समस्त सुविधाओं का ध्यान रखना व उनकी गतिविधियों पर निगरानी रखना था।[3] दूसरी समिति जनसंख्या समिति थी, यह समिति जन्म व मृत्यु का विवरण तैयार करती थी। ऐसा प्रतीत होता है, कि यह समिति मौर्यो की अपनी परिकल्पना थी, जो उत्तरकाल में प्रचलित नहीं थी। तीसरी समिति शिल्प कला समिति थी। यह समिति उद्योग-धंधों का निरीक्षण करती थी। समान की शुद्धता का निरीक्षण, कारीगरों के वेतन का निर्णय, व कारीगरों के हितों की रक्षा करना इसका प्रमुख कार्य था। चौथी समिति वाणिज्य समिति थी। इस समिति का कार्य अत्यंत महत्वपूर्ण था। इसका कार्य माप और तौल का निरीक्षण करना व यह देखना था, कि व्यापारी किसी प्रकार से प्रजा को ढग तो नहीं रहे है। ऐसा करने वाले व्यापारी को दण्डित किया जाता था। पॉचवी उद्योग समिति थी। इसका कार्य कारखानों व वस्तु निर्माण का निरीक्षण करना था। यह समिति यह भी देखती थी, कि उद्योगपति उत्पादन में मिलावट तो नहीं कर रहे है।

---

1. *स्मिथ बी0ए0, अर्ली हिस्ट्री, ऑफ इण्डिया, पृ0 133-35*
2. *मजूमदार आर0सी0, द एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी, पृ0 63-64.*
3. *अर्थ, 2-34.*

तथा नई व पुरानी वस्तु मिलकार न बचने पाएं। छठी समिति कर समिति थी। यह समिति बिक्री-कर व चुंगी वसूली करती थी। राजस्व न चुकाने पर मृत्युदण्ड तक दिया जा सकता था।[1] इस काल के अध्ययन में हमें लोक निर्माण सभा का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। इसका कारण संभवतः यह था कि साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र में होने के कारण इससे सबंधित इसकी सभी आवश्यकतायें केन्द्र सरकार के अधिकारियों और विभागों द्वारा पूरी कर ली जाती थी। यूनानी इतिहासकारों वृत्तांत से भी हमको इन संस्थाओं और इसकी विभिन्न उपसमितियों की बनावट के विषय में कुछ नहीं बताते हैं।

यह विचार करना हास्यास्पद होगा कि नगर संस्था जिनको कि ऐसे महत्वपूर्ण दायित्व सौपे गये थे, वे बिना राज्य की सहायता और नियंत्रण के सुचारू रूप से कार्य करती रही हो। कौटिल्य और मेगस्थनीज के विवरण से हमें यह ज्ञात नहीं होता कि अगर संस्थाओं के सदस्यों में मतभेद हो जाएं तो क्या होता था परन्तु इतना अवश्य है कि ऐसी स्थिति में राज्य प्रशासन हस्तक्षेप कर उसकी समस्या का निस्तारण करती थी। इससे हमें यह भी पता चलता है, कि नगरीय प्रशासन में राज्य का हस्तक्षेप था।[2]

न्याय व्यवस्था :-

विशाल मौर्य साम्राज्य में न्याय करने के लिए अनेक न्यायालय होते थे। सबसे नीचे (छोटा) का न्यायालय ग्राम संघ का होता था। इस न्यायालय में ग्राम के निवासी विवादित विषय का निपटारा स्वयं ही कर लेते थे। ग्राम संघ के ऊपर संग्रहण का तदुपरांत द्रोणमुख का और फिर जनपद संधि के न्यायालय होते थे।[3] इनके ऊपर धर्मस्थीय और कंटकशोधन न्यायालय थे। इन सबके ऊपर राजा होता

---

1. *अर्थ0, 2.21, स्मिथ, बी0ए0, अर्ली, हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ0 132, 135.*
2. *मुकर्जी आर0के0, चन्द्रगुप्त मौर्य एण्ड हिज टाइम्स, पृ0 133-147.*
3. *अर्थशास्त्र (वा0गै0 3/1 धर्मस्था स्त्रयस्त्रयो वाऽमात्याः जनपद-संधि संग्रहण द्रोणमुखं स्थानीययेषु व्यावहारिकान् अर्थान् कुर्यः*

था, जो नीचे से गये हुये मामलों पर अपनी इच्छानुसार न्यायधीशों की सहायता से अंतिम निर्णय देने का अधिकारी था। धर्मस्थनीय न्यायालयों के न्यायधीश धर्मस्थ या व्यावहारिक और कंटकशोधन न्यायालय के न्यायाधीश प्रदेष्टा कहलाते थे।[1]

कण्टकशोधन न्यायालय :-

कंटकशोधन न्यायालयों में उपरोक्त मामले पेश होते थे व्यापारियों की सुरक्षा तथा उनसे दूसरों की सुरक्षा,[2] नियम के विपरीत उपायों द्वारा आजीविका चलाने वाले लोगों की गिरफ्तारी,[3] अपनी गुप्तचर व्यवस्था द्वारा अपराधियों को पकड़ना[4] संदेह होने पर या अपराध होने पर गिरफ्तारी[5] शिल्पियों व कारीगरों की रक्षा तथा उनसे दूसरों की रक्षा,[6] मृतक की मृत्यु के कारण की जाँच करना[7] शासन के सम्पूर्ण विभागों की रक्षा[8] कन्या पर बलात्कार,[9] और न्याय का उल्लंघन करने पर उचित दण्ड देना[10] आदि।

---

1. *कौ० अर्थ० (वा०गै) 4/1, प्रदेष्टारस्त्रय स्त्रयो वाऽमात्याः कण्टक शोधनं कुर्युः''*
2. *वही, 4/2, वैदेहक रक्षणम्।*
3. *वही 4/4, गूढ़ा जीविनां रक्षा.*
4. *वही, 4/5. सिद्धव्यञ्जननैर्माणव प्रकाशनम्*
5. *वही 4/6, शंकारुपकर्माभिग्रहः*
6. *वही 4/1 कारुक रक्षणम्*
7. *वही, 4/7 आशुमृंतक परीक्षा*
8. *वही 4/9 सर्वाधिकरण रक्षणम्*
9. *वही 4/12 कन्याप्रकर्म*
10. *वही 4/13 अतिचारदण्डः*

धर्मस्थीय :-

धर्मस्थीय न्यायालयों में किस मामले का निर्णय किया जाता था, इसकी विस्तृत सूची कौटिल्य ने अपने ग्रन्थ अर्थशास्त्र में दी है- दो व्यक्तियों या व्याक्ति समूहों के आपस के व्यवहार के मामले,[1] आपस में जो समय हुआ हो उसके मामले[2] क्रय विक्रय सबंधी मामले[3] डकैती, चोरी या लूट के मामले[4] पति पत्नी सबंधी मुकदमें[5] स्त्री-धन सबंधी विवाद[6] सम्मत्ति के बंटवारे और उत्तरधिकार सबंधी झगड़े।[7] दी गई दोनों न्यायलयों की सूचियों से प्रकट होता है, कि धर्मस्थनीय न्यायालयों में व्यक्तियों के आपस के मुकदमें पेश होते थे। इसके विपरीत कंटकशोधन न्यायालयों में वे मुकदमें आते थे, जो राज्य से संबंधित होते थे।

मौर्य कालीन आय-व्यय :-

प्राचीन भारत में राजकीय आय और व्यय का विषय महत्वपूर्ण होने के साथ-साथ बहुत विस्तृत एवं जटिल भी है। इसका कारण देश का विशाल आकार और उसके विभिन्न प्रदेशों में भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रथाएं और आय के भिन्न-भिन्न स्त्रोत थे। मौर्यकाल तथा उसके बाद के काल में भारत में बड़े-बड़े साम्रज्यों का उदय हुआ और उनके अन्तर्गत प्रशासन के अन्य पक्षों की भॉति वित्तीय प्रशासन का भी बड़ा विकास हुआ।

कौटिल्य ने राजकीय आय प्राप्ति के निम्नलिखित साधन बताये हैं।

---

1. *वही 3/1 व्यवहार स्थापना।*
2. *वही 3/10 समयस्यानपाकर्म*
3. *वही 3/15, विक्रीत क्रीतानुशयः*
4. *वही 3/17 साहसम्*
5. *वही 3/2 विवाहधर्मः*
6. *वही 3/2 स्त्रीधन कल्पः*
7. *वही 3/5 दायविभागः दायक्रमः, अंश विभागः*

इस काल में नगरों से जो विभिन्न प्रकार की आय होती थी उसे दुर्ग[1] कहते थे। दुर्गो से आय प्राप्त करने के अनेक साधन थे, जो निम्नलिखित थे- शुल्क-चुंगी, पौतब, तौल, और माप के साधनों को प्रमाणित करने से प्राप्त कर, दण्ड-जुर्माना, नागरक-नगर शासक द्वारा प्राप्त जुरमानों से आय लक्षणाध्यक्ष-मुद्रा आय, सुरा-मदिरा के ठेकों से प्राप्त होने वाली आय, मुद्रा-नगर में प्रवेश कर, सूना-कसाइयों से प्राप्त आय, सूत्र राज्य की ओर से जो कार्य करवाया जाता था, उसकी आय, तौल तेलियों से प्राप्त कर घृत-घी बेचने वालों से प्राप्त कर, नमक-नमक उत्पादनों पर कर, सौवर्णिक सुनारों पर कर, पण्यसंस्था-राजकीय पण्य की बिक्री से होने वाली आय वेश्या-वेश्याओं से प्राप्त होने वाली आय, द्यूत-जूँए से प्राप्त-आय, वास्तुक-सम्पत्ति के हस्तान्तरण पर कर देवताध्यक्ष-मंदिरो से प्राप्त आय बारिकादेय-अत्यंत धनी व्यक्तियों पर अतिरिक्त कर।

जनपदों से होने वाली आय को राष्ट्र[2] कहा जाता था। भूमि के अतिरिक्त इस आय के निम्नलिखित स्त्रोत थे-सीता-राज्य की स्वयं के अधिकार में होने वाली भूमि से आय, भाग-वह भूमि जो राज्य के अधिकार में नहीं होती थी उससे प्राप्त होने वाली आय बलि-तीर्थ व देवाताओं से प्राप्त होने वाली आय वणिक-ग्राम में व्यापार पर लगा कर, नदीपालस्तर-नदियों के पुलों से प्राप्त होने वाली आय, नाव-नाव से नदी पार करने पर लिया जाने वाला कर पट्टन-कस्बों से प्राप्त कर विवीत-चारागाह कर, वर्तनी-यातायात कर, चोर रज्जु-चोरों की गिरफ्तारी से प्राप्त होने वाली आय।

मौर्य काल में खानों से भी राज्य का बहुत आय प्राप्त होती थी। सोना, चॉदी, हीरा, माणि, मुक्ता, शंख, लोहा, नमक, पत्थर तथा अन्य अनेक प्रकार की खानों से राज्यकोष को बहुत आमदनी

---

1. *अर्थशास्त्र (वा0गै0) 2.6 शुल्कं दण्डः पौतवं नागरिको लक्षणाध्यक्षो मुद्राध्यक्षः सुरा सूना सूत्रं तैलं क्षारं सौवर्णिकः पण्यसंस्था वेश्या द्यूतं वास्तुकं कारुशिल्पगणो देवताध्यक्षो द्वारवाहिरिकादेयं च दुर्गम्।*
2. *वही, सीता भागो बालिः करो वणिक् नदीपालस्तरो नावः पट्टनं विवीतं वर्तनी रज्जूश्चोररज्जूश्च राष्ट्रम।*

होती थी। खानों से प्राप्त होने वाली आय को 'खनिकर' कहते थे।[1]

पुष्पों और फूलों के उद्यान शाक के खेतों और मूलों के खेतों से प्राप्त आय को 'सेतु कहते थे।[2]

जंगलो से होने वाली आय को 'वन' कहते थे। जंगल मौर्य काल में राज्य के स्वामित्व में होते थें। जंगलों से राज्य को अनेक प्रकार की आय प्राप्त होती थी।[3]

इसके अतिरिक्त ब्रज[4] पशुओं से प्राप्त होने वाली आय एवं वणिकपथ[5] से भी राज्य को पर्याप्त आय प्राप्त होती थी।

इस प्रकार अर्थशास्त्र से हमे राज्य की आय प्राप्ति के ये निम्नलिखित सात प्रकार के साधनों का पता चलता है। हम मौर्यकालीन राज्य की आय का अनुशीलन इस प्रकार भी कर सकते है।

इस काल में राज्य को भूमि से दो प्रकार की आय होती थी वे थी सीता और भाग । राज्य की वह भूमि जो उसके स्वयं के अधिकार में होती थी उससे जो आय होती थी उसे सीता कहते थे। जिस भूमि पर राज्य का अधिकार नही था, उससे होने वाली आय को भाग कहते थे। जो किसान स्वतंत्र रूप से खेती करते थे तथा निजी रूप से सिंचाई का प्रबंध करते थे, उनसे भूमि के अनुसार कुल उपज का 1/4 या 1/5 भाग भूमिकर के रूप में शासन प्राप्त करता था।[6]

---

1. *अर्थशास्त्र, (वा०गै०) 2.6, सुवर्ण रजत वज्र मणि मुक्ता प्रवालशंखलोहल वणभूमि प्रस्तर सधातवः खनिः।*
2. *वही, पुष्पफल वाटषण्डकेदार मूलवापस्सेतुः*
3. *वही, पशुमृगद्रव्यहस्तिवन परिग्रहो वनम्।*
4. *वही, गोमहिषमजाविकं खरोष्ट्रमश्वाश्वतराश्च व्रजः.*
5. *वही, स्थलपथोवारिपथश्च वणिकपथः।*
6. *वही 2.24 स्ववीर्योपजीविनो वा चतुर्थपञ्चभागिकाः यथेष्टमनवसितं भागं दद्युः*

जिस भूमि की सिचांई कुओं से हाथों द्वारा होती थी उससे उपज का 1/5 भाग लिया जाता था। जिन लोगों को चरस, रहट आदि पानी खीचकर सीचनें के लिए दिया जाता था, उनसे उपज का 1/4 भाग लिया जाता था। 1/3 भाग उस उपज के लिए लिया जाता था, जहाँ सिंचाई व्यवस्था पम्प, वातयन्त्र द्वारा होती थी। यदि नदी या नहर द्वारा सिंचाई व्यवस्था की जाती थी तो भूमिकर उपज का चौथाई भाग ही होता था।[1]

इस काल में निस्क्राम्य और प्रवेश्य दो[2] प्रकार के तटकर लगाये जाते थे। निष्क्राम्य निर्यात कर होता था तथा प्रवेश्य आयात कर होता था। आयात किये जाने वाले समान पर कर की मात्रा 20% थी। सन के कपड़े रेशम, पारा आदि अनेक पदार्थो पर कर की दर 10% होती थी। कुछ पदार्थो पर कर की दर इससे भी कम होती थी। पर साधारण नियम 20% का ही था।[3] कौटिल्य के अर्थशास्त्र से यह भी पता चलता था, कि निर्यात माल पर भी कर लिया जाता था, परन्तु इसकी दर क्या थी यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है।

इस काल में बिक्री पर चुंगी लेने की व्यवस्था थी। चाणक्य ने लिखा है, कि जो पदार्थ जहाँ पैदा होता है, वहॉ नही बेंचा जा सकता है।[4] उसने यह नियम इसलिए बनाया था, ताकि उत्पादित

---

1. *अर्थ० (वा०गै०) 2.24. हस्तप्रावर्तिमुदकभागं पञ्चमं दद्युः। स्कन्धप्रावर्तिमं चतुर्थं नदी सरस्तडाक कूपोद्घाटम्।*
2. *वही, 2.22, निष्क्रिाम्यं प्रवेश्यं च शुल्कं।*
3. *वही, 2.22*
4. *वही, जातिभूमिषु च पण्यानामविक्रयः।*

वस्तु दूसरी जगहों पर जाये जिससे उस पर चुंगी ली जा सके। जो व्यक्ति इस नियम का उल्लंघन करता था उस पर वस्तुओं के अनुसार जुर्माना वसूल किया जाता था।[1] अर्थशास्त्र से यह भी पता चलता है, कि नाप कर बेचे जाने वाले पदार्थो पर, तोलकर बेचे जाने वाले पदार्थो पर और गिनकर बेचे जाने वाले पदार्थो पर शुल्क लिया जाता था।[2]

मूल्यांकन :-

मगध राज्य के समय और मौर्य शासकों के आधीन राजतंत्रीय शक्ति का और अधिक सुदृढ़ीकरण हुआ और गण संस्थाओं की भूमिका का महत्व धीरे-धीरे घटता गया। राजशक्ति मौर्य शासकों के काल में आकर विशेषकर सार्थक हो गयी। इसकी जानकारी हमें अशोक के राजा देशों तथा अर्थशास्त्र से होती है। राजा को राज्य का मूलाधार माना जाता था। अर्थशास्त्र में लिखा है, कि ''राजा ही राज्य है'', जो उस समय प्रचलित राजस्व की धारणा का सार प्रकट करता है।

आनुवांशिकता के सिद्धांत का अत्यंत कठोरता पूर्वक पालन किया जाता था। राजा की मृत्यु से पूर्व ही उसके पुत्र को सिंहासन का उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया जाता था।

मौर्य शासकों के मंच पर आने के समय तक चक्रवर्ती सम्राट की धारणा उदित हो चुकी थी, जिसकी सत्ता का प्रसार पश्चिमी महासागर से लेकर पूर्वी महासागर तक और हिमालय से लेकर

---

1. *वही, 2.22*
2. *वही, 2.16*

दक्षिणी सागर तक के प्रदेशों पर माना जाता था। 'अर्थशास्त्र' में इस धारणा का विशेषकर विस्तार के साथ निरूपण किया गया है। संक्षेप में यह धारणा भारतीय राज्य के विकास में एक विशाल साम्राज्य के निर्माण से संबद्ध नये चरण की परिचायक थी।

अशोक के शिलालेखों से यह निष्कर्ष निकलता है, कि राजा राजतंत्र का प्रधान था और विधायी शक्तियाँ अपने हाथों में रखता था। अशोक के राजादेश राजा के आदेश से और उसके नाम पर जारी कियें गये थे। राजा स्वयं मुख्य राजाधिकारियों को नियुक्त करता था। राजा वित्त प्रशासन का प्रमुख था और वही सर्वोच्च न्यायधीश था। 'अर्थशास्त्र' में राजा के कृत्यों एवं उसकी सुरक्षा के विषय में हमें व्यापक वर्णन मिलता है। राजा अंगरक्षकों की तरफ विशेष ध्यान दिया जाता था, क्यों कि राजदरबार में राजा के विरूद्ध षड्यंत्रों का रचा जाना आम बात थी।

इस काल में मुख्य राजपुरोहित की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण थी, जो सदैव प्रभावशाली ब्राह्मण वर्ग का ही होता था। राजा अपने विश्वस्त सहायकों का चयन स्वयं ही करता था, यद्यपि उन पर भी गुप्त निगरानी रखी जाती थी। राजा अनुचरों की विशेष परीक्षायें लेता था। उत्तीर्ण होने वाले अनुचर को ही उसके समान योग्य पद के लिए नियुक्त किया जाता था। इस काल में गुप्त निगरानी व्यवस्था को बहुत महत्व दिया गया था।

राज्य प्रशासन में राजा की मंत्रिपरिषद-परिषद का कार्य बहुत महत्वपूर्ण था। इस संस्था का आरंभ मौर्यो ने नही किया था (वह पूर्ववर्ती युगों में भी थी), यद्यपि मौर्य शासकों के आधीन ही परिषद ने राजनीतिक परिषद के कृत्यों का निष्पादन करना प्रारंभ कर दिया था। परिषद का सम्राट के राजा देशों में उल्लेख है और उसके कार्यो का 'अर्थशास्त्र' में विस्तार से वर्णन किया गया है जिसमें उसे

मंत्रिपरिषद का नाम दिया गया है। परिषद को सम्पूर्ण प्रशासनिक व्यवस्था और राजा के आदेशों की पूर्ति करवाने का ध्यान रखना होता था। परिषद के अलावा एक पूर्णतया गुप्त अंतरंग परिषद भी होती थी जिसमें राजा के विशेष विश्वास पात्र बहुत थोड़े से लोग ही होते थे। अत्यंत आवश्यक मामलों का निर्णय करने की आवश्यकता उत्पन्न होने पर दोनों परिषदों के सदस्य एक ही बैठक में शामिल हो जाते थे। 'अर्थशास्त्र में इस पर जोर दिया गया है, कि परिषद के सदस्यों की संख्या राज्य की तत्कालिक आवश्यकताओं के अनुसार बदलती रहती थी। 'अर्थशास्त्र' से हमें 18 तीर्थो तथा 27 अध्यक्षों के विषय में भी पर्याप्त जानकारी प्राप्त होती है। इनकी सहायता से ही राजा अपनी प्रशासनिक व्यवस्था को मजबूत रखता था। इनका वेतन इनके पदों की श्रेष्ठता के अनुसार अलग-अलग होता था।

राजनीतिक निकाय के रूप परिषद अभिजात क्षत्रियों तथा ब्राह्मण वर्णो से निर्मित थी। जो अपने विशेषाधिकारों की रक्षा करने और अपने शासक की निरपेक्ष शक्ति को समित करने का पूरा-पूरा प्रयास करती थी। प्राचीन समय में, उदाहरण के लिए वैदिक काल में परिषद की सदस्यता में अधिक व्यापकता थी और सत्ता के अभिकरण के नाते वह अधिक जनतांत्रिक स्वरूप की होने के कारण राजा और उसकी नीतियों पर ज्यादा कारगर प्रभाव डाल सकती थी। धीरे-धीरे उसके सदस्यों की संख्या घटती गई जिससे उसकी सदस्यता अभिजात वर्ग के प्रतिनिधियों तक ही समित हो गई और धीरे-धीरे परिषद की भूमिका मात्र परामर्शदायी कार्यो तक ही रह गयी तथा राजा ही अंतिम निर्णय लेने वाला बन गया। लेकिन मौर्यकाल में भी जब राजसत्ता विशेषकर प्रबल हो चुकी थी, परिषद का काफी प्रभाव था और मौर्य शासक उसकी उपेक्षा कदाचित ही कर पाते थे।

प्रांतों को पुरानी परम्पराओं तथा संस्थाओ को ध्यान में रखते हुए शासित किया जाता था, यद्यपि मौर्य शासकों ने अपने साम्राज्य के अस्तित्व में आने के पहले विद्यमान प्राचीन व्यवस्था को बदल

कर उसे नई व्यवस्थाओं के अनुकूल बना दिया था। साथ ही राज्य प्रशासन की नयी संस्थाओं की भी स्थापना की गयी। साम्राज्य का नाभिक विजित था, जिसमें सम्राट का वास्तविक अधिकार-क्षेत्र तथा केन्द्रीय प्रशासन के विशेषकर कठोर नियंत्रण में आने वाले कुछ प्रदेश सम्मिलित थे। साम्म्रज्य प्रांतों में विभाजित था, जिनमें से चार को विशेष हैसियत प्राप्त थी-उत्तर-पश्चिमी प्रांत, जिसकी राजधनी तक्षशिला थी पश्चिमी प्रांत जिसकी राजधानी उज्जैयनी थी, पूर्वीप्रांत (कलिंग) जिसकी राजधानी तोशाली थी और दक्षिणी प्रांत जिसकी राजधानी सुवर्णगिरि थी। इनमें से प्रत्येक प्रांत में राजा के पुत्र की नियुक्ति की जाती थी।

मुख्य प्रांतो को खासी स्वायत्तता प्राप्त थी। उसके शासक राजकुमार (कलिंग के शासक को छोड़कर) स्थानीय अधिकारियों के कार्यकलाप का अधीक्षण करने के लिए विशेष निरीक्षक भेजा करते थे। किन्तु कलिंग के शासक को यह अधिकार प्राप्त नहीं था उसके प्रदेशों की निरीक्षण यात्राओं की व्यवस्था सम्राट स्वयं करता था। अशोक कलिंग के अधिकारियों तक से स्वयं संबंध रखता था। कलिंग को मौर्य काल में ही साम्म्रज्य में मिलाया गया था और यद्यपि उसे मुख्य प्रांत का दरजा प्राप्त हो गया था, फिर भी उसे भी विजित ही माना जाता था और इसीलिए वह केन्द्रीय प्रशासन के प्रत्यक्ष नियंत्रण के आधीन था।

साम्म्रज्य को चार मुख्य प्रांतो में विभाजित करने के साथ-साथ प्रदेशों आहारों तथा जिलों में भी विभक्त किया गया था। प्रांतीय प्रशासन का निम्नतम एक ग्राम था। जनपदों के प्रधान राजुक कहलाते थे और वे महत्वपूर्ण राजाधिकारी होते थे।

मौर्य काल में नगर प्रशासन में भी स्वाशासन के कुछ लक्षणों को बने रहने दिया गया था। पाटलिपुत्र साम्राज्य की राजधानी थी। नगर का प्रधान अधिकारी नागरिक होता था जिसका प्रमुख कार्य

नगर की शांति एवं सुरक्षा को बनाये रखना था। इस काल में नगर की प्रशासनिक व्यवस्था को सुचारू रूप से संचालित करने के लिए छः परिषदें गठित होती थी, जिसमें प्रत्येक परिषद में पॉच सदस्य होते थे। इनमें से प्रत्येक परिषद नगर के जीवन के इन क्षेत्रों में से किसी एक की जैसे-शिल्पोद्योग, विदेशी नागरिक जन्म-मरण पंजीयन व्यापार, शिल्पियों द्वारा बिक्री के लिए निर्मित सामान पर मुद्राकंन और बिक्रीत माल पर कर संग्रहण की व्यवस्था करती थी।

प्राचीन भारत में कर प्रणाली के विकास की दृष्टि से मौर्य काल का भुगांतरकारी महत्व है। कौटिल्य ने ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्रों के किसानों एवं कारीगरों तथा व्यापारियों से वसूल किए जाने वाले अनेक नये करों का उल्लेख किया है। स्वभावतः ऐसी कर प्रणाली कराधान, करों की वसूली तथा वसूल की गई जिंसो को रखने के लिए एक बड़े और कार्य कुशल तंत्र की अपेक्षा रखती थी। मौर्य राजस्व व्यवस्था की विशेषता यह है कि वसूल किए गए करों की जिसों को रखने और राशियों को जमा करने की अपेक्षा कराधान को अधिक महत्व दिया गया है। राज्य को राजकोष तथा राजभंडार के मुख्य अधिकारी समाहर्ता से होने वाली हानि को अधिक गंभीर माना गया है। सच तो यह है, कि कराधान तंत्र की व्यवस्था सर्वप्रथम मौर्यकाल में ही देखने को मिलती है।

अर्थशास्त्र से हमें करों और शुल्कों की विशाल सूची प्राप्त होती है। यदि ये सम्पूर्ण कर वसूल किए जाते रहे हों, तो निस्संदेह करदाताओं पर बहुत आर्थिक बोझ रहा होगा। लेकिन इतने करों को भी राज्य की आवश्यकता की पूर्ति के लिए पर्याप्त नहीं माना जाता था। क्योंकि राजकोष को विशाल सैनिक तथा नौकरशाही संगठन का खर्च चलाना पड़ता था। इसलिए राजकोष को इन करों के अलावा अन्य उपायों भी भरा जाता था।

अर्थशास्त्र से पता चलता है कि पुलिस तथा दंड प्रशासन की कार्य कुशल प्रणाली का विकास सबसे पहले मौर्यो ने ही किया। इस प्रणाली के आधार का काम विस्तृत गुप्तचर व्यवस्था करती थी। शहरी परिवेश में सामान्यतः जिस प्रकार के आर्थिक अपराध होते है, वैसे बहुत से अपराधों के निवारण के लिए कंटकशोधन न्यायालय स्थापित किया गया था। इस संगठन की बहुत सी व्यवस्थाओं का उद्देश्य मापतौल के नये पैमानों का इस्तेमाल करने वाले और ऊँची कीमतें वसूल करने वाले कारीगरों तथा त्यापारियों के क्रियाकलापों पर अंकुश रखना था। दंड व्यवस्था का संगठन कौटिल्य की कृति की एक बड़ी विशेषता है। स्पष्ट ही, यह विशुद्ध भारतीय प्रतिभा की देन थी। यह बात लोगों की आपराधिक तथा सरकार विरोधी प्रवृत्तियों पर नजर रखने और उनकी सूचना देने का काम करने वाले गुप्चरों के साथ भी लागू होती है।

लेकिन जिन अधिकारियों को दंडविधान के प्रशासन तथा अपराधों की जॉच का दायित्व सौपा गया था वे आधुनिक अर्थो में विशुद्ध रूप से पुलिस अधिकारी नहीं थे। पुलिस तथा मजिस्ट्रेट दोनों के दायित्व निभाने वाले आधुनिक अधिकारी से सबसे अधिक साम्य हमें प्रदेष्टा में देखने को मिलता है, लेकिन इसके ऊपर भी कुछ राजस्विक जिम्मेदारियाँ थी। दूसरी ओर मुख्यतः राजस्विक कार्यो से सबंधित समाहर्ता, स्थानिक तथा गोप को किसी हद तक पुलिस और दंडाधिकारी से जुड़े कर्तव्य भी पूरे करने पड़ते थे।

मौर्य शासक अशोक ने अपने अधिकारियों को प्रजा की गलतियों को मानवता के आधार पर नजरअंदाज करने की सलाह दी थी।[1] यहाँ तक कि उसने दण्ड प्रक्रिया में सुधार करने का हर संभव

---

1. *भंडारकर डी०आर०, अशोक पृ० 271-72*

प्रयाय किया। एक समय ऐसा आया जब मौर्यों की आर्थिक व्यवस्था अपने लक्ष्य से हटकर बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए किये गये प्रयोगों में दबकर कराहने लगी।[1] अब तक लोग यह महसूस करने लगे थे कि अधिकारी गण देश के संसाधनों का बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए दुरूयोग कर रहे है। धीरे-धीरे राज्य का नियंत्रण अपने अधिकारियों पर ढ़ीला पड़ने लगा। इससे प्रांतीय राज्यपालों का स्वयं को स्वतंत्र करने का सुनहरा मौका मिल गया। प्रांतीय राज्यपालों को अपने इस प्रयास में प्रशासनिक अधिकारियों से पूरा समर्थन प्राप्त हुआ। राज्य के केन्द्रीय प्रशासनिक तंत्र के गलियारों में भ्रष्टाचार प्रबल हो गया और एक समय का स्वस्थ्य साम्राज्य लाइलाज हो गया। पुष्यमित्र जो मौर्य सेना का एक सेनापति था वो उस समय एक अवतार के रूप में प्रकट हुआ और लोगों को आशा की किरण दिखाई। मौर्य वंश का आकस्मिक और एक क्रूर अंत हो गया। सेना ने भी मौर्यवंश के अंतिम शासक वृहद्रथ[2] की हत्या में सहयोग दिया। मौर्य राज परिवारिक दुखद रूप से अंत हो गया जिसे इसके संस्थापक राजा चन्द्रगुप्त मौर्य ने स्थापित किया था।

---

1. *शास्त्री के०ए०एन०, एज ऑफ नंदाज एण्ड मौर्याज, पृ० 245.*
2. *राय चौधरी एच०सी०, पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्शिन्ट इंडिया, पृ० 353.*

अध्याय-चतुर्थ

शुंग से कुषाण काल तक प्रशासनिक व्यवस्था में परिवर्तन

अध्याय-चतुर्थ

मौर्योत्तर काल

शुंग से कुषाणकाल तक प्रशासनिक व्यवस्था में परिवर्तन

मौर्यो के पतन के प्रशासनिक कारण :-

मौर्य शासकों ने लगभग एक शताब्दी तक सम्मानजनक एवं विलासितपूर्ण तरीकों से मगध के राजसिंहासन पर अपना अधिपत्य जमाये रखा। तत्पश्चात अचानक ही इस वंश का पतन भी हो गया।[1] निश्चित तौर पर हम यह नहीं कह सकते कि किन कारणों से यह विशाल साम्राज्य इतनी त्वरित गति से छिन्न-भिन्न हो गया, परन्तु कुछ तथ्य इसके पतन में सहायक प्रशासनिक स्थिति को दर्शाते है। इस विषय में एम०एम०एच०पी० शास्त्री ने कहा है, कि सम्राट अशोक ने समाज, सुधार के लिए जिन पूर्व स्थापित प्रथाओं में परिवर्तन किया[2] उससे समाज के एक विशेष वर्ग (ब्राह्मण) ने इसके विरुद्ध विद्रोह का बिगुल बजा दिया। अशोक के लेखों में उन दोनों विरोधाभाषी शब्दों दण्ड समता और व्यवहार समता[3] जिनके आधार पर आरोप लगाया गया है- उनका उल्लेख प्राप्त होता है। शास्त्री के अनुसार अशोक ने दण्ड के कानूनों में व्यापक स्तर पर परिवर्तन किया और नई नीति के अनुसार कानून की दृष्टि में समाज के प्रत्येक वर्ग समान हो गये।[4] परन्तु मुकर्जी ने दण्ड समता की अपने तरीके से अलग

---

1. *राय चौधरी एच०सी०, पोलिकटकल हिस्ट्री ऑफ एन्शियन्ट इंडिया, पृ० 354-60.*
2. *वही पृ० 317-19.*
3. *भण्डारकर डी०आर०, अशोक, पृ० 75-76*
4. *राय चौधरी एच०सी०, पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ़ एन्शियन्ट इंडिया, प्र० 317-19*

व्याख्या की है। उनके अनुसार दण्ड समता का अर्थ एक विशेष अपराध के लिए लोगों को सम्पूर्ण साम्राज्य में समान दण्ड प्राप्त होना चाहिए।[1] इसे अन्य शब्दों में इस प्रकार भी कह सकते है, कि अशोक यह चाहता था, कि न्याय सम्पूर्ण साम्राज्य में अलग-अलग न करके एक ही नियम से सबको प्राप्त हो।

इसी प्रकार दूसरे शब्दों में व्यवहार समता को भी समझाया जा सकता है। अशोक द्वारा लागू व्यवहार समता में समानता का अर्थ उच्च्व और निम्न वर्ग को समाप्त करना नहीं था, अशोक के अनुसार मनुष्यों को अपने व्यवहार में समान नियमों का पालन करना चाहिए।[2] इस बात की पुष्टि उसके लेखों से भी होती है, जिसमें उसने कहा है, कि सभी को ब्राह्मणों, तपस्वियों, बुजुर्गो, संबंधियों, अध्यापकों, माता-पिता आदि का सम्मान करना चाहिए।[3] इस प्रकार वो किसी भी तरह ब्राह्मणों के प्रति असम्मान नहीं प्रकट करता था। अतः किसी प्रकार यह आशय नहीं निकाला जा सकता कि यह दो बड़े प्रशासनिक सुधार मौर्यो के पतन के लिए उत्तरदायी थे।

मौर्यो के पतन के लिए मौर्यो द्वारा निर्धारित कर नीति भी कुछ सीमा तक सहायक मानी गई। पातंजलि का यह कहना है, कि मौर्यशासकों ने मूर्तियों पर भी कर लगा दिया था।[4] मौर्यो के प्रशासनिक तंत्र में राजस्व प्राप्ति के लिए इन सभी कल्पनीय उपयोगी वस्तुओं पर कर लगा दिया गया था। मूर्तियों

---

1. *मुकर्जी आर०के०, अशोक, पृ० 175.*
2. *राय चौधरी एच०सी०, पोलिटकल हिस्ट्री ऑफ एन्शियन्ट इण्डिया, पृ० 318-19.*
3. *मजूमदार पी०के०, भारत के प्राचीन अभिलेख, पृ० 41-45, भण्डारकर डी० आर०, अशोक, पृ० 241, 245-46.*
4. *राय चौधरी एच०सी०, पोलिटकल हिस्ट्री ऑफ एन्शियन्ट इण्डिया, पृ० 294.*

और मूर्तिकारों पर लगे करों ने लोगों की धार्मिक भावना पर चोट पहुँचाई। यही कर नीति किसी हद तक मौर्यो के पतन में सहायक सिद्ध हुई।

यह अत्यधिक आश्चर्यजनक विषय है, कि वह आदर्श प्रशासनिक व्यवस्था जो अर्थशास्त्र के नियमों से संचालित होती थी, बहुत दिनों तक नहीं टिक सकी। इसकी संतोषजनक व्याख्या हम परवर्ती मौर्य शासकों की अकुशल राज्य संचालन नीति के रूप में कर सकते हैं, जो इस वंश को शक्ति एवं दूरदर्शिता से संचालित नहीं कर सके। तत्पश्चात हम पाते हैं, कि भारत में कई छोटे-छोटे राज्यों की उत्पत्ति हुई, जिससे इसका राजनैतिक इतिहास वास्तविक रूप से भ्रमित हो गया। हालॉकि समय के एक स्पष्ट दृष्य को देखने के लिए कुछ खास पहलुओं को लिया जा सकता है। कश्मीर में मौर्य प्रशासनिक व्यवस्था को संचालित करने का श्रेय अशोक के पुत्र जालौक को जाता है।[1] अन्त में शुगों ने मौर्यो से उनसे राज्य छीनकर करीब 50 वर्षो तक शासन किया। उनके उत्थान से मौर्यो के समय से चली आ रही प्रशासनिक नीति में परिवर्तन हो गया।

200 ई0पू0 से 300 ई0 तक भारत में जिन राज्यों का उदय हुआ उनके विषय में हमें पर्याप्त जानकारी नहीं प्राप्त होती है। इस कारण उनके प्रशासनिक संगठन के विषय में बहुत कम जानकारी प्राप्त होती है। उस समय देश में बहुत से देशी व विदेशी राजवंश अपना शासन संचालन कर रहे थे।

---

1. *जायसवाल के0पी0, हिन्दू पोलिटी, पृ0 290-91*

जैसे-शुंग, सातवाहन, कण्व, कुषाण, हिंद-पार्थियन, हिंद-यूनानी, हिंद-सीथियन। परन्तु पूर्व काल की कई प्रशासनिक व्यवस्थाओं को इन राजवंशों में उचित राज्य संचालन के लिए अपनाया गया। भारतीय राजनैतिक विचारों ने कई विदेशी राजाओं को भी प्रभावित किया। पश्चिमी भारत में सीथियन घराने के तृतीय राजा रुद्रदामन ने अर्थविद्या का गहन अध्यन किया था। वो यह दृढ़ता पूर्वक कहता था, कि उसके द्वारा नियुक्त अधिकारी अमात्य गुणों से युक्त हैं। वो यह भी कहता है, कि उसने परोकारिता (प्रणय) को लागू करने में अपने से दूर रखा और विष्टि[1] पर जोर दिया। इससे यह पता चलता है, कि अपने शासन को उचित प्रकार से संचालित करने के लिए विदेशी रुद्रदामन ने भारतीय राजनैतिक सिद्धान्तों का सहारा लिया। वो इस बात का इच्छुक था, कि भारतीय प्रशासनिक तंत्र की तरह ही उसका प्रशासनिक तंत्र हो।

1. *इपिग्राफिक इंडिका, 8, 36.*

केन्द्रीय प्रशासन

राजा :-

इस काल की प्रशासनिक व्यवस्था का स्वरूप काफी कुछ पूर्व काल के समान ही था। इस काल तक आते-आते साम्राज्यवाद पूर्णतया स्थापित हो गया था और शासन के सर्वोत्तम स्वरूप में इसे स्वीकार कर लिया गया था।[1] इस समय भी राजा शासन प्रमुख माना जाता था और उसके साम्राज्य को कई भागों में विभाजित किया जाता था। जिन्हें कई नामों से जाना जाता था।[2]

इस काल में राजा के उत्पत्ति की दैवीय भावना पूर्णतयः स्थापित हो चुकी थी। मनु का यह कथन है, कि राजा में सभी-महत्वपूर्ण देवताओं के अंश होते हैं, अतः राजा को मनुष्य समझकर, उसे कभी-अपमानित नहीं करना चाहिए।[3] राजा का देवत्व नागरिकों के उसके प्रति राजनैतिक महत्व को प्रकट करती है। ज्यदातर हिन्दू लेखकों ने व्यक्तिगत रूप से राजा को नहीं वरन उसके पद को उसके एवं देवों के कार्यकलापों की समनता को देखते हुए दैवीय बताया है। संभवतः ऐसा महसूस किया गया

---

1. *काणे पी0वी0, भाग, 3 पृ0 107,*
2. *वही*
3. *मनुस्मृति, 7.4-7*
   इन्द्रानिलयमार्काणमग्नेश्च वरुणस्य च।
   चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः।।4.
   स्यमादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः।
   तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा।।5.
   तपस्यादित्यवच्चैप चक्षूंषि च मनांसि च।
   न चैनं भुवि शक्नोति कश्चिदत्वंभिवीक्षितुम्।।6.
   सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोडर्कः सोमः स धर्मराट्।
   स कुबेरः स वरुणः स महेन्द्रः प्रभावतः।।7.

था कि राजा के दैवीय रूप के विभिन्न सिद्धान्त उसके कर्तव्यों के निर्वाहन में सहायक की भूमिका अदा करेंगे। ऐसा प्रतीत होता है, कि राज्य के मुखिया को दैवीय रूप प्रदान किया जायेगा तो राजा का स्तर और ऊँचा हो जायेगा और उनके आदेशों का पालन करने की प्रवृत्ति और मजबूत होगी। परन्तु राजा का दैवत्व उसे अपने कर्तव्यों से मुक्त होने की आज्ञा नहीं देता था। अपने अच्छे या बुरे आचरण के अनुसार ही उसे देवता या राक्षस की संज्ञा प्राप्त होती थी। स्मृतिकारों के अनुसार राजा की शक्तियों पर जो नियंत्रण था, वो सैद्धान्तिक था और व्यवहारिक रूप से कोई संवैधानिक नियंत्रण नहीं था।

मनुस्मृति के अध्ययन से हमें राजा के कर्तव्यों के विषय में उचित ज्ञान प्राप्त होता है। मनुस्मृति में यह कहा गया है, कि राजा को अष्टविध धर्म (आठ प्रकार के कार्य) पंचवर्ग एवं राजमण्डल पर ध्यान देना चाहिए।[1] अष्टविधधर्म क्या है स्वयं मनु ने इसे स्पष्ट नहीं किया है। मनुस्मृति के अनुसार राजा का प्रमुख कर्तव्य वर्णाश्रम धर्म की स्थापना एवं प्रजा की रक्षा करना था।[2] उसके लिए वेदों एवं शास्त्रों में दक्ष होना आवश्यक था।[3] उसके लिए यह भी आवश्यक था, कि जिस दण्ड प्रयोग का

---

1. मनु0 - 7-154 — कृत्सनं चाष्टविधं कर्म पञ्चवर्गं च तत्वतः।
   अनुरागापरागौ च प्रचारं मण्डलस्य च।।154.
2. वही, 7-17, 7-144- — स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः।
   चतुर्णामाश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः।।17.
   क्षत्रियस्य परोधर्मः प्रजानामेव पालनम्।
   निर्दिष्टफलभोक्ता हि राजा धर्मेण युज्यते।144.
3: मनु, 10.100 — सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च
   सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति।।

अधिकार उसे प्राप्त है उसका प्रयोग वो न्याय पूर्वक करें।[1] उसके लिए परिश्रमशील एवं विवेकी[2] होने के साथ-साथ इन्द्रियों को वश में रखना भी आवश्यक था।[3]

इस काल तक आते-आते क्षत्रियों को ही राजपद के लिए सर्वाधिक योग्य समझा जाता था।[4] हालांकि समय के साथ-साथ ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र, सीथियन, पार्थियन, हूणों ने भी अपने वंश स्थापित किये और राजन शब्द का प्रयोग उन अक्षित्रयों के ऊपर ही होने लगा जो वास्तविक रूप से साम्राज्य में शासन करते थे।

इस काल में राजा अपने लिए विभिन्न उपाधियां धारण करने लगे थे। मौर्यकालीन शासक अपने लिए राजा की उपाधि धारण करते थे। मौर्यकालीन रानियाँ (कारुवाकी) भी मात्र रानी की उपाधि से संबोधित थी। अशोक के समान पूर्व सातवाहन राजाओं ने भी अपने को राजा ही कहा परन्तु बाद के सातवाहन राजाओं ने स्वयं के लिए महाराज की उपाधि धारण की। कुषाण शासक कनिष्क ने महाराज-राजाधिराज-देवपुत्र की उपाधि धारण की।[5]

---

1. *मनु0, 7-19* — *समीक्ष्य च धृतः सम्यक सर्वा रज्जयति प्रजाः।*
   असमीक्ष्य प्रणीतस्तु विनोशयति सर्वतः।।
2. *वही 7.145-226*
3. *मनु 7-43.* — *इन्द्रियाणां जये योगं समातिष्ठेद्दिवानिशम्।*
   जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्यापयितुं प्रजाः।।43
4. *मनु0 1.89.* — *प्रजानं रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।*
   विषयेंष्वप्रशक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः।।
5. *अल्टेकर अनंत सदाशिव, स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एन्शियन्ट इण्डिया, पृ0 334-35.*

रानियों को अग्रमहिषी और महादेवी संबोधित किया जाने लगा। इस काल में हिन्दू राजाओं एवं रानियों ने इस विशाल उपाधियों को स्वीकार नहीं किया। देवपुत्र की उपाधि कुषाण शासकों के दैवत्व की भावना को दर्शाती थी। ऐसा प्रतीत होता है, कि कुषाण शासक विकेन्द्रीकरण की नीति के पक्षधर थे, इसीलिए उन्होंने दैवपुत्र की उपाधि को अपनाया। परन्तु वह भारतीय परम्परा से मेल नहीं खाती थी। इसलिए समकालीन शासकों द्वारा इसे स्वीकार नहीं किया गया। कुषाण शासकों ने अपने पूर्वजों के सम्मान के लिए मंदिरों का निर्माण कराया।[1] कुषाण शासकों ने अनेक उपाधियाँ जैसे-सर्वलोकेश्वर[2] देवपुत्र[3] शाहोनानोशाओ[4] कैसर[5] आदि धारण की। यह उपाधियां चीनी, यूनानी, रोमन, ईरानी थी। ये उपाधियॉ इन साम्राज्यों के अधिकारों को चुनौती देने के लिए नहीं अपितु उनके समकक्ष रखने के लिए अपनाई गई थीं।

मनुस्मृति में राजा के पद को ध्यान रखते हुए उसके लिए आवश्यक योग्यतायें भी निर्धारित की गई है।[6] जिस प्रकार की दिनचर्या अर्थशास्त्र[7] से राजा के लिए प्राप्त होती है, वैसी ही शुक्र ने भी निर्धारित की है।[8] राजा को यह अधिकार प्राप्त था कि वह प्रशासनिक आदेश दे सके। उसके उन

---

1. *साहनी, डी0आर0, जे0आर0ए0एस0, 1924, पृ0 402-403.*
2. *व्हाइट हेड, आर0बी0, कैट; आफ क्वाइन्स इन द पंजाब म्यूजियम, पृ0 183.*
3. *वही, पृ0 177,*
4. *वही, पृ0 187, 194.*
5. *पुरी बी0एन0, इण्डिया अण्डर द कुषाण, पृ0 80.*
6. *मनुस्मृति, 32-44.*
7. *अर्थशास्त्र, 1.19*
8. *शुक्र, 1. 275-83*

आदेशों का प्रजापालन करती थी और कानूनी अदालतों में भी उसके आदेशों को लागू किया जाता था।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि कुषाण सम्राटों के पास असीमित शक्तियां थी।[2] कुछ विद्वानों के अनुसार रुद्रदामन प्रजा द्वारा चयनित था।[3] परन्तु अभिलेख से यह पता चलता है, कि उसने अपनी शक्ति के द्वारा ही राजा सिंहासन प्राप्त किया था।[4] इस काल तक आते-आते राजा की शक्तियों में वृद्धि हुई थी। इसका कारण संभवतः पूर्व काल के समान प्रचलित सभा का अस्तित्व न होना था। के०पी० जायसवाल के अनुसार पूर्वकालीन सभा और समिति का स्थान पौर जानपदों ने ले लिया था। द्वितीय शताब्दी ई०पू० में कलिंग के खारवेल राजा के शासन में ऐसी ही एक निकाय कार्य करती थी।[5] परन्तु बहुत से साक्ष्य जायसवाल महोदय द्वारा मान्य केन्द्रीय सभा के अस्तित्व के विरुद्ध है।[6]

इस काल तक आते-आते राजप्रतिनिधि पद का एक अलग महत्व हो गया था जो अव्यवस्क शासकों के लिए आवश्यक था। इसका उदाहरण हम कलिंग के खारवेल शासक से ले सकते हैं। जिसकी आयु 24 वर्ष हो जाने पर ही उसे राज्यभिषेक के योग्य समझा गया।[7] तथा नयनिक ने अपने पुत्र के वयस्क होने तक सातवाहन साम्राज्य पर शासन किया।[8]

---

1. मनु०, 7-13, *तस्माद्धर्म यमिष्टेषु स व्यवस्येन्नराधिपः। अनिष्टंचाप्य निष्टेषु तं धर्म न विचालयेत्।।*
2. *पुरी बी०एन०, इण्डिया अण्डर द कुषाण, पृ० 80.*
3. *मजूमदार आर०सी०, कार्पोरेट लाइफ, पृ० 112.*
4. *इपि० ई०, 8.36.*
5. *इपि० इं०, 20, पृ० 79.*
6. *अल्टेकर अनंत सदाशिव, स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एन्शियन्ट इंडिया, पृ० 146-55.*
7. *इपि० इं०, 20, पृ० 79.*
8. *रायचौधरी एच०सी०, पोलिटिकल हिस्ट्री आफ एन्शियन्ट इंडिया, पृ० 417.*
   अल्टेकर अनंत सदाशिव, स्टेट गवर्नमेन्ट इन इन्शियन्ट इंडिया, पृ० 355.

एक अन्य महत्वपूर्ण प्रथा जो प्राचीन भारत के शासन में कठिनता से मिलती थी, वह द्वै राज्य शासन प्रणाली थी, इस प्रथा को सीथियन राजाओं ने अपने काल में अपनाया।[1] पार्थियनों और शक नामक राजवंशों में राजा और युवराज दोनों को यह अधिकार प्राप्त थे, कि वह समान रूप से शासन करें। द्वैराज्य शासन प्रणाली के उदाहरण को हम कनिष्क, हुविष्क आदि विदेशी शासकों के शासन से प्राप्त कर सकते हैं।[2] इसमें युवराज क्षत्रप तथा राजा महाक्षत्रप की स्थिति में शासन करता था। इस शासन पद्धति में कनिष्ठ सदस्य हिन्दू शासन व्यवस्था के युवराजों को प्राप्त अधिकारों से अधिक महत्व रखते थे।[3]

इस काल की एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता सातवाहन राज्यों में मातृक उत्तराधिकार की परम्परा थी। यद्यपि यह व्यवस्था उनके शासन की समाप्ति के बाद अधिक समय तक कायम नहीं रह सकी। इस परम्परा का उदाहरण सातवाहन राजाओं के मातृनामों और ऐसी ही कुछ अन्य बातों से मिलता है। गौतमी पुत्र शातकर्णिक को 'अविपन मातुसुसुक (अनवरत मातृ सेवा में रत) बताया गया है।[4] यह बात ध्यान देने की है, कि गौतमीपुत्र शातकर्णी, वशिष्ठ पुत्र पुलमावि,[5] वशिष्ठ पुत्र शातकर्णी आदि के नामों से उनके पिता के नाम नहीं जुड़े है। सातवाहन अधिकारियों एवं सामंतों की पत्नियों ने भी अपने पति का प्रशासकीय पदनाम महासेनापल्ली[6] और महातलवारी[7] उपाधियां धारण की थी, जो सातवाहन शासन प्रणाली में महिलाओं की महत्वपूर्ण भूमिका को स्पष्ट करती है।

---

1. *अल्टेकर अनंत सदाशिव, स्टेट गवर्नमेन्ट इन इन्शियन्ट इण्डिया, पृ0 335. अर्थ0 8.2*
2. *अल्टेकर अनंत सदाशिव, स्टेट गवर्नमेन्ट इन एन्शियन्ट इंडिया, पृ0 335.*
3. *वही.*
4. *से0इं0, 2,. सं0 86 पं0 4.*
5. *से0 इं0, 2, सं0 86, पंक्ति 2.*
6. *वही, 89, पंक्ति 2.*
7. *वही, सं0 98, पंक्ति 9.*

मंत्रिमंडल -

इस काल की प्रशासनिक व्यवस्था इसके पूर्ववर्ती शासन के समान थी। पूर्व काल के समान राजा और उसकी मंत्रिपरिषद ही प्रशासन में सर्वोच्च स्थान रखती थी। इस काल की शासन व्यवस्था में भी राजा के बाद मंत्रिपरिषद एक महत्वपूर्ण अंग माना जाता था। हम मंत्रिपरिषद के महत्व को इस बात से भी समझ सकते है, कि मंत्रिपरिषद से विचार-विमर्श किये बिना राजा किसी भी मत पर अपना निर्णय अकेले नहीं दे सकता था।[1] राजा अपनी मंत्रिपरिषद के बिना किसी योग्य नहीं होता था।[2] राज्य में शासन व्यवस्था के उचित संचालन के लिए उसे अपने मंत्रियों पर निर्भर रहना पड़ता था।[3] शुक्र के अनुसार मंत्रि राजा के नेत्र और कान होते है इनके बिना राजा बाहु, ऑख और कान से हीन होता है।[4]

मंत्रि परिषद का आकार -

रामायण (सर्ग 2) महाभारत में मंत्रियों की संख्या 8 तक निर्धारित की गई है।[5] अर्थशास्त्र इसमें परिस्थिति के अनुसार अलग-अलग मत देता है।[6] मनु के अनुसार मंत्रिमण्डल 7 या 8 सदस्यों वाला

---

1. *मालविक, एक्ट 5.*
2. *मनु, 7.30* — *सोऽसहायेन मूढेन लुब्धेनाकृत बुद्धिना।*
   न शक्यो न्यायतो नेतुं सक्तेन विषयेषु च।।30
3. *मनु, 7.55* — *अपि यत्सुकरं कर्म तदाप्येकेन दुष्करम्।*
   विशेषतो ऽसहायेन किंतु राज्यं महोदयम्।।55.
4. *शुक्र, 2.1, 12.3*
5. *महा० शांतिपर्व, 85.7.11*
6. *अर्थ० 1.15.*

होना चाहिए।[1] इसमें यह स्पष्ट होता है, कि राज्यों की अपनी पृथक परिस्थितियों के कारण ही विचारों में ये भिन्नता आई।[2] महाभारत के शांति पर्व में हमें एक श्लोक मिलता है, जिसमें समाज के विभिन्न वर्गो को राजा की सलाहकार समिति में शामिल किया गया था, जिसमें चार ब्राह्मण, आठ क्षत्रिय, 21 वैश्य, और 3 शूद्र थे।[3] शुक्र ने राजा की दस प्रकृतियां मानी है।[4]

मंत्रियों की योग्यतायें :-

इस काल तक आते-आते प्राचीन काल के समान ऐसी कोई संस्था कार्य नहीं करती थी, जो मंत्रियों के चयन में अपना हस्तकक्षेप रखती हो। अतः राजा ही अपनी इच्छा से मंत्रियों का चयन करता था। निष्ठावान एवं परम्परागत रूप से जो व्यक्ति राज परिवार की सेवा करते थे, उन्हें ही मंत्रिपरिषद के योग्य समझा जाता था। मनुस्मृति में इस विषय पर लिखा गया है, कि वही व्यक्ति जो जन्म से इसी क्षेत्र से सम्बन्धित थे, शास्त्रों के ज्ञाता थे, वे ही मंत्रिपरिषद के सदस्य होने के योग्य थे।[5] इससे स्पष्ट होता है, कि मंत्री बनने के लिए व्यक्तिगत योग्यतायें एवं मानसिक उपलब्धियां सर्वप्रमुख थी।[6] कौटिल्य

---

1. *मनु, 7.54* *मौत्राज्छाशस्त्रविदः शूराँल्लब्धलक्षान्कुलोदभ्वान्।*
   सचिवान्सप्त चाष्टौ वा प्रकुवीति परीक्षितान्।। 54.
2. *मनु, 7.61* *निर्वर्तेतास्य यावद्भिरि कर्तव्या नृभिः।*
   तावतो ऽतन्द्रितान्दक्षान्प्रकुर्वीत विचक्षंणान्।।61
3. *महा०शांतिपर्व 85.7.11*
4. *शुक्रनीति, 70-72.* *दशमांशधिकाः पूर्व दूतांताः क्रमशः स्मृताः।*
   अष्टप्रकृतिभिर्युक्तो नृपः कैश्चित्सस्मृतः सदा।।
   सुमन्त्रः पण्डितो मन्त्री प्रधानः सचिवस्तथा।
   अमात्यः प्राड्विवाकश्च तथा प्रतिनिधिः स्मृतः।।
5. *मनुस्मृति, 7.53-55,*
6. *स्मिथ बी०ए०, अर्ली हिस्ट्री ऑफ इंडिया, पृ० 209.*

भी ऐसे व्यक्ति को मंत्रिपरिषद के योग्य समझता था, जिसमें अधिक से अधिक गुण होते थे।[1] स्मृतियों के अध्ययन से हमें यह पता चलता है, कि राजा अपने किसी वाल्यावस्था के मित्र या अपने सहपाठी को इस पद नियुक्त कर सकता था।[2] इसका कारण संभवतः यह होगा कि बाल्यावस्था में वह अन्य अधिकारियों के बालकों के साथ रहा होगा। अतः उसे ऐसे अनेक अवसर प्राप्त हुये होंगे जब उसने उन बालकों की योग्यताओं को जाना होगा। अतः उनकी योग्यता के आधार पर ही वह उनका चयन करता होगा। विभिन्न कालों में एक आदर्श मंत्री को इसी प्रकार दिखाया गया है।[3]

---

1. *अर्थशास्त्र 1.8*
2. *मनु, 7.54* *मौलाञ्छास्त्रविदः शूराँल्लब्धलक्षान्कुलोद्भवान।*
   सचिवान्सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान्।। 54., अर्थ.1.8
3. *महा0 शांतिपर्व, 83.2.52, शुक्र 2.52-64.*

मंत्रि परिषद की रचना :-

महामंत्री पद पर एक बुद्धिमान ब्राह्मण की नियुक्ति की जाती थी, और उसे पुरोहित के रूप में कार्य करते हुए दायित्वों का पालन करना पड़ता था। एक ब्राह्मण के लिए कई विषयों में पारंगत होना अनिवार्य था।[1] उसके लिए यह भी आवश्यक था, कि वह एक संस्कारित परिवार से संबंध रखता हो।[2] उसे राजा और राज्य की ओर से सभी धार्मिक कार्य संपादित करने पड़ते थे।[3] सामान्य रूप से कहा जाये तो 200 ई० तक आते-आते पुरोहित मंत्रि परिषद में कोई विशेष महत्वपूर्ण स्थान नहीं रखते थे, परन्तु राजा के ऊपर वो अपना नैतिक प्रभाव अवश्य बनाये रखने में सफल रहे।[4] इसके विपरीत शुक्र ने राजा की दस प्रकृतियों में से पुरोहित को एक माना है। उसने पुरोहित को सर्वश्रेष्ठ स्थान प्रदान किया है, क्योंकि वह राजा और राष्ट्र दोनों का पालक है। पुरोहित की सम्मति के बिना राज्य का नाश होता है।[5]

खानों के लिए भी एक मंत्री की नियुक्ति की जाती थी, जिसके लिए सम्मानित परिवार का सदस्य, बुद्धिमान व साहसी होना आवश्यक था।[6] एक अन्य मंत्री सेनापति था, जब कि कोश की देखभाल स्वयं राजा करता था।[7] परन्तु बाद में साक्ष्यों में हमें इस कार्य के लिए कोष्ठागारिक था। भंडारिका का नाम प्राप्त होता है।[8] दूत को भी अत्यधिक महत्व दिया जाता था, क्योंकि वह सामाजिक

---

1. *विष्णु धर्मसूत्र, 3.70.*
2. *वही*
3. *मनुस्मृति 7.78. पुरोहितं च कुर्वीत वृणुयादेव चर्त्विजः।*
   तेऽस्य गृह्याणि कर्माणि कुर्युर्वैतानिकानि च।।
4. *अल्टेकर अनंत सदाशिव, स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एन्शियन्ट इंडिया, पृ० 169.*
5. *शुक्रनीति, 2.74, पुरोधाः प्रथमं श्रेष्ठः सर्वेभ्यो राजराष्ट्रभृत्।*
6. *मनुस्मृति 7.62*
7. *वही, 65*
8. *लूडर्स लिस्ट, नं० 1141.*

उथल-पुथल पर अपनी निगरानी रखने के अतिरिक्त युद्ध एवं शांति की जिम्मेदारी भी लेता था[1] इसके अतिरिक्त शुक्रनीति में भी हमें प्रशासनिक कार्यो के सहायतार्थ कुछ नाम मिलते हैं। जिनमें सुमन्त्र, पण्डित, मंत्री, प्रधान, सचिव, अमात्य, षाड्विवाक और प्रतिनिधि है।[2] जो कार्य एवं अकार्य का ज्ञाता होता था, उसे प्रतिनिधि कहते थे। प्रतिनिधि का यह प्रधान कर्तव्य होता था, कि वह राजा को सत्य, असत्य, हित और अहित कार्यो के विषय में बताता रहे। प्रधान वह व्यक्ति होता था, जो सभी कार्यो की देखभाल करता था। उसका कार्य सभी राज्य कार्यो पर विचार करना है। सचिव सेना की व्यवस्था करने वाला है। जो नीति में कुशल होता था, उसे मंत्री कहते थे। मंत्री राजा को समय-समय पर यह भी परामर्श देता था कि किसके साथ कैसा व्यवहार करना उचित है। प्राड्विवाक का कार्य यह जानना है, कि लिखा पढ़ी पर साक्षियों के हस्ताक्षर है अथवा नहीं। अगर मामला झूंठा पाया जाता था, तो उसे राजा के पास ले जाया जाता था। धर्म का ज्ञाता पण्डित कहलाता था। सुमन्त्र आय-व्यय पर निगरानी रखता था। देशकाल का ज्ञाता अमात्य था, वही राजा को निर्देशित करता था, कि राज्य में कितने पुर, ग्राम, जंगल, कृषि-भूमि है। दूत का कार्य आधुनिक समय के विदेश मंत्री के समान है।[3]

स्मृति से अनेक कार्यो के लिए कुशल अध्यक्ष नियुक्त करने के विषय में जानकारी प्राप्त होती है।[4] मनुस्मृति अपने कर्तव्यों का ठीक प्रकार से निर्वाहन न करने पर उच्च पदाधिकारियों को भी दण्डित

---

1. *मनु० 7.63-66.*
2. *शुक्रनीति, 2.71-72.*
3. *शुक्रनीति, 2.87-105.*
4. *मनु० 7-81-* *अध्यक्षान्विविधान्कुर्यात्तत्र तत्र विपश्चितः।*
   तेऽस्य सर्वाणयवेक्षेस्नृणां कर्याणि कुर्वताम्।।81

करने के लिए कहती है। राज्य प्रशासन के उचित संचालन के लिए राजा मंत्रियों से पूरी सहायता प्राप्त करता था। इस प्रकार प्रशासन के सात अंगों में मंत्रियों का महत्वपूर्ण स्थान था। मौर्यो, शुंगों आदि के काल में जब वे एक सामूहिक परिषद के रूप में कार्य करते थे तब वे प्रशासन में अत्यधिक प्रभावशील थे। शुंगों के शासन काल में युवराजों की सभाओं में मंत्रियों की परिषद की काफी प्रगति हुई थी। राजकुमार अग्निमित्र जो कि शुंग शासन काल में मालवा का प्रतिनिधि शासक था, उसके पास भी प्रांत की शासन व्यवस्था को उचित ढंग से चलाने के लिए एक परिषद थी। अगर किसी कारण-वश युवराज किसी विषय पर उपस्थित नहीं हो पाता था तो यह परिषद उस विषय पर अपना निर्णय दे देती थी, तथा अंतिम निर्णय के लिए वह विषय युवराज के पास भेज दिया जाता था।[1] शुंगकाल में मंत्रियों की परिषद को मंत्रि परिषद कहा जाता था।[2]

हमें शक शासकों के शासन के अंतर्गत कार्य करने वाले दो अधिकारियों मति सचिव एवं कर्म सचिव[3] के विषय में भी उल्लेख मिलता है। शक शासक इनकी सहायता से राज्य करते थे। मति सचिव का कार्य राजा को उचित सलाह देना था, जब कि कर्म सचिव का कार्य राजा द्वारा दी गई आज्ञाओं को पूर्णतया लागू करवाना था। रुद्रामन के जूनागढ़-अभिलेख से इनके विषय में जानकारी प्राप्त होती है।[4] हमकों इस काल के बौद्ध साहित्य से एक परिषद के विषय में जानकारी प्राप्त होती है।[5] एक अन्य शब्द तुलक[6] भी प्राप्त होता है, जो पार्षदों के लिए प्रयोग किया जाता था। कुषाण लेखों से इस प्रकार की किसी सलाहकार समिति के विषय में पता नहीं चलता है। सही अर्थो में अगर दृष्टि डाली जाये तो यह कहना उचित होगा कि मंत्री सामान्यतः राजा के प्रति उत्तरदायी होते थे, परन्तु उन्हें प्रजा के हितों का भी ध्यान रखना पड़ता था।

---

1. *अल्टेकर अनंत सदाशिव, स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एन्शियन्ट इंडिया, पृ० 176.*
2. *भण्डारकर डी०आर०, अशोक, पृ० 241, 253.*
3. *इपिग्राफिक इंडिया, 8, पृ० 36.*
4. *अस्मन्न्द्रे महाक्षत्रपस्य मतिसचिवैः कर्मसचिवैरमात्यगुण समुद्युक्तैरप्यतिमहत्वाद्‌भेदस्या नुत्साह विमुखमतिभिः प्रत्याख्यानारम्भम्। इपिग्राफिक इडिया 8 पृ० 36.*
5. *दिव्यावादन पृ० 359.*
6. *वही पृ० 291.*

जब किसी राज्य के अयोग्य राजा राजा सिंहासन पर आरुढ़ होता था, तो निः संदेह उसके द्वारा अयोग्य मंत्रियों की नियुक्ति की जाती थी। हम इसका उदाहरण शुंग शासक (देवभूमि) के शासन से ले सकते हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता था जब आयोग्य राजा के होने पर मंत्री सिंहासन पाने के लिए विभिन्न कुचक्र रचते थे।[1] ऐसे भी कई उदाहरण प्राप्त होते हैं, जब मंत्री राजा की इच्छाओं के विरुद्ध कार्य करते थे या राजा को ऐसी सलाह देते थे, कि वह अपनी इच्छा से उचित कार्य न कर सके।[2]

जब प्रशासन राजा एवं मंत्रियों की आपसी सहमति से संचालित होता था, तो उसे उभयतंत्र[3] के नाम से जाना जाता था। उभय-तंत्र की नीति के अनुसार राजा निरंकुश होकर राज्य कार्य सम्पादित नहीं कर सकता था। मंत्री भी राजा के सम्पूर्ण नियंत्रण में रहते थे। इस प्रकार राज्य पूर्ण रूप से समन्वयक रूप से चलाया जा सकता था, जब दोनों अपने क्षेत्रों और जिम्मेदारियों को महसूस करके उचित नीति से प्रजा के हित में कार्य कर सकते थे।

मंत्रि परिषद के कार्य -

मनु स्मृति ने ऐसे विषयों की तालिका दी है, जिनके बारे में मंत्रियों सें मंत्रणा करना आवश्यक है, यथा शांति एवं युद्ध, स्थान (सेना, कोश, राजधानी एवं राष्ट्र या देश), कर के उद्‌गम, रक्षा (राजा एवं देश की रक्षा), पाये हुए धन को रखना या उसका वितरण करना।[4] राजा प्रत्येक मंत्री की

---

1. *अल्टेकर अनंत सदाशिव, स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एन्शियन्ट इंड़िया, पृ0 182.*
2. *रामायण, 3.43, 9-10, 25.*
3. *मनु, 9.294-96.*
4. *मनु, 7-56*

   तैः सार्धं चिन्तयेन्नित्यं सामान्यं संधिवग्रहम्।

   स्थानंसमुचयं गुप्तिं लब्धप्रशमनानि च।।56.

अलग-अलग सलाह ले परन्तु उस पर निर्णय अपनी इच्छानुसार ही ले।[1] मंत्रि-परिषद से एकान्त में परामर्श करना उचित समझा जाता था।[2] शास्त्र के सम्मत विवादों के बाद लिया गया मंत्रि परिषद का निर्णय अत्यधिक महत्वपूर्ण समझा जाता था।[3]

केन्द्रीय सचिवालय और उसके विभाग :-

संभवतः छठीं शताब्दी ई० पू० में सचिवालयों एवं उसके कार्यालयों की आवश्यकता को महसूस किया गया।[4] हमें द्वितीय शताब्दी ई० में पश्चिम भारत में एक सचिवालय के बारे में जानकारी प्राप्त होती है।[5] सचिवालय कई अधिकारियों का समूह था, जो मंत्रियों के बाद महत्व रखते थे। उनका मुख्य कार्य मंत्रियों के अपने पद के कामों में सहायता करना था। जिस काल का हम अध्ययन कर रहे हैं, उसमें इसकी कार्यप्रणाली की बहुत कम जानकारी मिलती है।[6]

पूर्व काल के समान सचिवालय केन्द्रीय शासन के लिए प्रान्तीय एवं जिले के प्रशासनिक तंत्र के मध्य एक कड़ी के रूप में जुड़ा था। इसका कार्य जिले की प्रशासनिक व्यवस्था की रिपोर्ट लेना, तथा उसकी समीक्षा के बाद उसे केन्द्रीय प्रशासन के पास भेज देना था।[7] केन्द्रीय सचिवालय मौर्यकालीन प्रशासनिक व्यवस्था का एक प्रमुख अंग था, जो उच्च पदस्थ अधिकारियों द्वारा नियंत्रित था।[8] परवर्ती मौर्यकाल में अमात्य वर्ग विभिन्न प्रशासनिक विभागों में उच्च पदाधिकारियों के रूप में कार्य करता रहा।

---

1. *वही 57*
2. *वही 147, अर्थशास्त्र 1.14*
3. *अल्टेकर अनंत सदाशिव, स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एन्शियन्ट इंडिया, पृ० 175.*
4. *मुकर्जी, आर०के०, हिंदू सिवलाईजेशन, पृ० 232.*
5. *अल्टेकर अनंत सदाशिव स्टैट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एन्शियन्ट इंडिया, पृ० 192.*
6. *वही, पृ० 19-20.*
7. *वही, पृ० 336-37.*
8. *अर्थ० 1-9*

मौर्य शासक अशोक के काल में धर्म महामात्र का जो कर्तव्य था, वैसा ही कर्तव्य सातवाहन शासकों के आधीन अमात्यों का था।[1] ऐसा प्रतीत होता है, कि जो अशोक के काल में महामात्र कहलाते थे, वही बाद में सातवाहन काल में अमात्य कहलने लगे। वे प्रशासनिक तंत्र के एक महत्वपूर्ण अंग थे, यद्यपि उनका पद वंशानुगत नहीं था। हमें इस प्रकार का कोई भी साक्ष्य प्राप्त नहीं होता जिससे हम यह कह सकें कि वे सातवाहन शासकों के लिए सलाहकार था मंत्रियों के रूप में कार्य करते रहे हों। दृष्टिगत रूप से वे प्रांतीय राज्यपाल, भूमि-अनुदान के कार्यपालक, और भूमि अभिलेखों के निर्माता के रूप में कार्य करते थे। कभी-कभी हम यह पाते है, कि कुछ अधिकारी इसी प्रकार का कार्य देखते थे।[2] इन्हे वेतन भी प्रदान किया जाता था।[3] महाक्षत्रप नहपान का मंत्री एक अमात्य था,[4] जैसे कि कुप्लइया रूद्रदामन के आधीन गुजरात का राजप्रतिनिधि था।[5] सात वाहन शासकों के काल में उनके व्यक्ति गत सचिवों को भी अमात्य रूप में जाना जाता था।[6] गोवर्धन और मामल्ल जिले के प्रभारी भी इसी वर्ग में आते थे।[7] मौर्यकाल के समान ही इस काल में अमात्य प्रशासन में प्रभावशाली थे।

---

1. *सरकार डी०सी०, सिलेक्ट, इन्स्क्रिप्शन्स, 2, पृ० 75.*
2. *शर्मा आर०एस०, एसपेक्ट्स आफ पोलिटिकल आईडियाज एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स इन एन्शियन्ट इंडिया, पृ० 208.*
3. *वही, पृ० 208-209.*
4. *लूडर्स लिस्ट, नं० 1174.*
5. *वही, नं० 965.*
6. *वही, नं० 1141.*
7. *वही, नं० 1105, 1125.*

केंद्रीय सचिवालय बहुत से विभागों में विभाजित था। विभाग के उच्च अधिकारियों को लेखाकार या लेखक कहा जाता था।[1]मौर्यकाल में उनका पद एक अमात्य की तरह था। जिनकी स्थितिऔर वेतन मंत्रियों से थोड़ा कम था।[2] सात वाहनों के शासन काल में लेखाकार का पद थोड़ा उच्च स्तरीय था। उन्होने बौद्ध भिक्षुओं के निवास के लिए गुफाओं का निर्माण करवाया, और उन्हें खुलकर दान दिया।[3] इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है, कि लेखक उच्च पदीनस्थ अधिकारी थे, वह मात्र मंत्रियों के लिए ही उत्तरदाई थे। हालाँकि इस बारे में स्पष्ट जानकारी नही है, कि उन्हे कितना वेतन प्राप्त होता था, परन्तु इतना स्पष्ट है, कि वे अपने काल में अच्छे वेतन भोगी रहे होंगे।[4]

प्रशासनिक व्यवस्था का उचित ढंग से संचालन तभी हो पाता था जब सचिवालय के अधिकारी कुशलता से कार्य करते थे। ये केंद्रीय शासन के आदेशों को सही रूप में उल्लिखित करते थे। कौटिल्य का इस विषय में कथन है, कि सरकार ही शासनादेश है और शासनादेश ही सरकार है।[5] इन अधिकारियों के पदों को अधिकरण कहा जाता था।[6] सम्पूर्ण सचिवालय अभिलेखों के एक महानिरीक्षक जो कि एक उच्च पदीनस्थ अधिकारी था, उसके अंतर्गत आते थे।[7] ऐसा प्रतीत होता है, कि वो

---

1. *अर्थ० 2.10*
2. *वही, तस्मादमात्यसम्पदोपेतः सर्वसमय विदाशुग्रन्थश्चर्वक्षरो लेख वाचनसमर्थो लेखकः स्यात्।*
3. *सरकार डी०सी०, सिलेक्ट इन्स्क्रिप्सन्स, पृ०-87-88, 92-166.*
4. *मुकर्जी आर०के०, चन्द्रगुप्त मौर्य एण्ड हिज टाइम्स, पृ० 87.*
5. *अर्थशास्त्र, 2.10, शासने शासनमित्याचक्षते। शासनप्रधाना हि राजानः, तन्मूलत्वात् सन्धिविग्रहयोः।*
6. *सरकार डी०सी०, सिलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स, पृ० 168.*
7. *पाठक वी, उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास, पृ० 61.*

सचिवालय और राजस्व विभाग के अधिलेखों का प्रभारी था।[1] वो केन्द्रीय प्रशासन एवं प्रान्तीय प्रशासन के मध्य समन्वय रखता था। इसके अतिरिक्त सचिवालय की निगरानी और उस पर नियंन्त्रण रखना भी उसके कार्यक्षेत्र में शामिल था। वो ये सभी कार्य प्रदेश की राजधानी में रहकर करता था। यह मात्र केन्द्र द्वारा शासित क्षेत्रों के लिए ही उत्तरदायी नहीं था, बल्कि मुख्य रूप से उसको प्रान्तीय राज्यपालों के क्रियाकलापों पर निगरानी भी रखनी पड़ती थी।[2]

केन्द्रीय सचिवालय में लेखकों के अतिरिक्त अन्य बहुत से विभाग थे, जो विभिन्न अधिकारियों जिन्हें अध्यक्ष[3] के नाम से जाना जाता था उनके आधीन थे। यह आश्चर्यजनक है, कि स्मृतियां इनको बहुत साधारण रूप में लेती है।[4] स्पष्ट रूप से यह कहा जा सकता है, कि ये अधिकारी लेखकों के आधीन थे, और मंत्री उस विभाग के लेखकों के प्रति उत्तरादाई थे। मंत्रियों और अध्यक्षों (सुप्रिटेन्डेन्ट) के सम्बन्ध किस प्रकार के थे, इस विषय में कोई निश्चित जानकारी नहीं प्राप्त होती है।[5] इस काल में अध्यक्ष (सुप्रिटेन्डेन्ट) या उनमें से अन्य लेखकों के पद पर पदोन्नत कर दिये जाते थे और इन्हीं में से विशेष योग्यता रखने वाले लोगों को मंत्री का दायित्व सौपा जाता था।[6]

---

1. *सरकार डी0सी0, सिलेक्ट इन्सिक्रप्शन्स, पृ0 272-74*
2. *सरकार डी0सी0, दि लेन्डलोर्डिज्म एण्ड टेनेन्सी इन एन्शियन्ट एण्ड मेडिकल इंडिया पृ0 33.*
3. *अर्थ0 2.11-34, मुकर्जी, आर0के0, चन्द्रगुप्त मौर्य एण्ड हिज टाइम्स, पृ0 91-92., 101-102.*
4. *मनु0 7.81, अध्यक्षान्विविधान्कुर्यात्तत्र तत्र विपश्चितः।*
   तेऽस्य सर्वाण्यवेक्षरेन्नृणां कार्याणि कुर्वताम्।।
5. *मुकर्जी आर.के., चन्द्रगुप्त मौर्य एण्ड हिज टाइम्स, पृ0 101-102.*
6. *अर्थशास्त्र 5.3., 2.10.*

इन विभागों की संख्या के विषय में एवं केन्द्रीय सचिवालयों में अधीक्षकों की संख्या के विषय में जो स्त्रोत उपलब्ध है, वो इस सम्बन्ध में एकमत नहीं हैं।[1] ऐसा प्रतीत होता है, कि इन विभागों की संख्या समय और स्थान के साथ बदलती रही। परन्तु छोटे राज्यों की तुलना में बड़े राज्यों में इनि विभागों की संख्या अधिक थी। प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से ये विभाग केन्द्रीय सचिवालय के नियंत्रण में रहते थे, जो इन अलग-अलग विभागों के अध्यक्षों के अन्तर्गत थे, जिन्हें अधीक्षक कहा जाता था। हमें शुंगों एवं सातवाहन कालीन सचिवालयों की कार्यप्रणाली में विषय में भी बहुत कम जानकारी प्राप्त होती है।[2]

शुंग काल में प्रत्येक विभाग मंत्रियों के अधिकार में था। सबसे बुद्धिमान ब्राह्मण को महामंत्री बनाया जाता था और एक पुरोहित के अधिकार से वो धर्म सम्बन्धी विभाग की अध्यक्षता करता था। दूसरा मंत्री खानों एवं खदानों का प्रभारी था। जबकि कोश की निगरानी स्वयं राजा करता था। सेनापति[3] सैन्य विभाग का नियंत्रक था, परन्तु वह राजा की आज्ञा के बिना युद्ध की घोषणा नहीं कर सकता था। जब शांति स्थापना के सभी प्रयास विफल हो जाते थे, तब युद्ध की घोषणा की जाती थी।[4] अंतर्राज्यीय संबंधों का विभाग एक दूत के आधीन था, जो शास्त्रों की सम्पूर्ण जानकारी रखता था। वह मनोवैज्ञानिक आधार पर भी कार्य करता था।[5] मनु ने पॉच प्रकार के गुप्तचरों के विषय में संदर्भ दिया

---

1. *जायसवाल के०पी०, हिंदू पोलिटी, पृ० 290-93.*
2. *अल्टेकर अनंत सदाशिव, स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एन्शियन्ट इंडिया, पृ० 189.*
3. *मालविक०, एक्ट 1.*
4. *मनु, 7 189-200.*
5. *मनु, 7-63-67.*

है, जिससे यह बात सिद्ध होती है, कि इस काल में भी गुप्तचर व्यवस्था का पूर्वकाल के समान ही अस्तित्व था। गुप्तचर प्रशासनिक व्यवस्था के महत्वपूर्ण अंग थे, क्योंकि साम्राज्य का स्थायित्व उनके द्वारा दी गई महत्वपूर्ण सूचनाओं पर आधारित था। शक शासन काल में अधीक्षकों को कर्मसचिव के नाम से जाना जाता था।[1] सातवाहनों में धर्मसम्बन्धी विभाग के अधिकारियों को श्रवण महामात्र कहते थे।[2] राजकीय कोषागार एक कोषाध्यक्ष[3] की देख-रेख में था, जिसकी सहायता के लिए बहुत से अधीक्षक नियुक्त थे। कोष्ठागाराध्यक्ष, कोष्ठागारिक, भाण्डागाराध्यक्ष एवं भंडारिका[4] ये भी अत्यन्त महत्वपूर्ण थे, क्योंकि अन्नागार इनके आधीन था। राजस्व वसूली विभिन्न प्रकार से होती थी।[5] बहुत से विद्वानों ने इस बात पर जोर दिया है, कि राजा और उसके अधीकारियों को अपनी प्रजा के हित के विषय में जानने के लिए दौरे करने चाहिए।[6] सचिवालय के विभिन्न विभागों में अधिकारियों की नियुक्ति के लिए कई तरह की योग्यताएं निर्धारित थी।[7] विभिन्न पदों में युवकों के लिए छात्रवृत्ति देने की भी सलाह दी गई है।[8] धीमी यातायात व्यवस्था के कारण स्थानान्तरण बहुत कम होते थे।

---

1. *एपिग्राफिक इंडिया, 8, पृ0 36.*
2. *अल्टेकर अनंत सदाशिव, स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एन्शियन्ट इंडिया, पृ0 205.*
3. *पुरी, बी0एन0, हिस्ट्री ऑफ एन्शियन्ट एडमिनिस्ट्रेशन, 1, पृ0 201.*
4. *सरकार डी0सी0, पोलिटिकल एण्ड एडमिनिस्ट्रेटिव सिस्टम्स ऑफ एन्शियन्ट एण्ड मेडिवल इंडिया पृ0 94-99.*
5. *वही.*
6. *मनु0, 7.122-24. स ताननुपरिक्रामेत्सर्वानेव सदा स्वयम्। तेषां परिणयेत्सम्य ग्रास्तेषु तच्चरैः।।122*
   राज्ञो हि रक्षाधिकृताः परस्वादायिनः शदाः। भृत्या भवन्ति प्रायेण तेभ्यो रक्षेदिमाः प्रजा।।123
   ये कार्यिकेभ्योऽर्थमेव गृहीयुः पापचेतसः। तेषां सर्वस्वमादाय राजा कुर्यात्प्रवासनम्।।124
7. *अल्टेकर अनंत सदाशिव, स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एन्शियन्ट इंडिया, पृ0 207.*
8. *कामंदक, 1. 317.*

प्रान्तीय, मण्डलीय एवं जिला प्रशासन :-

मौर्यकाल के समान ही इस काल में भी प्रांत, जिला, नगर एवं ग्राम में प्रशासनिक तंत्र कार्यरत था। विदेशी शासकों ने अवश्य ही कुछ अधिकारियों के पद-नामों में परिवर्तन कर दिया था। प्रांतीय राज्यपाल जो शकों, कुषाणों के शासन से सम्बन्धित थे, क्षत्रप या महाक्षत्रप कहलाते थे।[1] यूनानी शासन में जिला अधिकारी एवं सैन्य दुर्गपाल को पृथक नाम से जाना जाता था।[2] यद्यपि ये पदनाम भारत में बहुत प्रचलित नहीं हुए क्योंकि विदेशी राजाओं ने स्वयं ही अपने आप को भारतीयता में आत्मसात कर लिया था।[3]

मौर्यकाल की अपेक्षा इस काल में साम्राज्य का आकार काफी कम हो गया था। मौर्यकाल में प्रांतो को चक्र नाम से संबोधित किया जाता था।[4] परवर्ती मौर्यकाल में प्रांतो को राष्ट्र और देश कहा जाता था।[5] राष्ट्र के प्रमुख अधिकारी को राष्ट्रपति या राष्ट्रीक कहा जाता था।[6] वह अमात्यों के वर्ग में आता था। जब वो सैन्य संवर्ग में आता था, तो उसे महादंडनायक संबोधित किया जाता था।[7] प्रांतों और इसकी सीमाओं को बनायें रखने के लिए कोई एक रूप व्यवस्था नहीं थी। कई ऐसे तथ्य थे, जिन्हें प्रांतीय गठन के लिए आवश्यक माना गया, जैसे-जनसंख्या,[8] राजनैतिक विचार, भौगोलिक स्थितियाँ,

---

1. *सरकार डी0सी0, सिलेक्ट् इन्स्क्रिप्शन्स, पृ0 137-141.*
2. *अल्टेकर अनंत सदाशिव, स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एन्शियन्ट इंडिया, पृ0 336.*
3. *इपि0 इंडिका. 8, पृ0 36.*
4. *विद्यालंकार सत्यकेतु, प्राचीन भारत, पृ0 271*
5. *रायचौधरी एच0सी0, पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्शियन्ट इंडिया, पृ0 255-56.*
   अल्टेकर अनंत सदाशिव, स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एन्शियन्ट इंडिया, पृ0 336
6. *स्टेट गवर्नमेन्ट इन एन्शियन्ट इंडिया, पृ0 337.*
7. *मुकर्जी आर0के0, कार्पोरेट लाईफ, पृ0 122, स्टेट गवर्नमेन्ट इन एन्शियन्ट इंडिया, पृ0 343.*
8. *अर्थशास्त्र. 2*

विस्तार की संभावनाएँ, सामंतों की उपस्थिति, वंश जो सत्ता में हो, क्षेत्र की महत्वता को ध्यान में रखते हुए,[1] ये कुछ ऐसे तथ्य है, जिन्हे नये प्रांतो के गठन के लिए आवश्यक माना गया।

प्रांतीय प्रशासन के प्रमुख बहुत उच्च स्तरीय अधिकारी होते थे। अधिकतर राजपरिवारों के राजकुमारों को ही इन पदों के योग्य माना जाता था। शुंग शासनकाल में राजकुमार को मालवा के प्रतिनिधि शासक बनाया गया था।[2] जब राजकुमार प्रतिनिधि शासक के लिए उपलब्ध नहीं होते थे, तब साम्राज्य के विश्ववसनीय अधिकारी को जो साधारणतयः सैनिक जनरल भी होते थे, इस पद के योग्य समझा जाता था। वायसराय के पद के लिए सैन्य नेतृत्व क्षमता एक अति आवश्यक योग्यता थी।[3]

समस्त प्रांतीय राज्यपालों की नियुक्ति राजा एवं प्रांतीय प्रतिनिधि शासको द्वारा होती थी। इन प्रांतीय राज्यपालों के अपने मंत्री व न्यायालय होते थे।[4] मालवा के प्रतिनिधि शासक को उसकी मंत्रिपरिषद ने विदर्भ राज्य के विरूद्ध युद्ध एवं संधि का परामर्श दिया था।[5] इससे यह अर्थ निकलता है, कि वह महत्वपूर्ण अवसरों में अपनी परिषद से सलाह लेकर कार्य करता था। प्रतिनिधि शासकों को कुशल सैन्य नेतृत्व की क्षमता रखने वाना होना चाहिये था। जब कोई राज्यपाल अपने शासन में विद्रोह दबाने में विफल रहता था, तो उसकी जगह तुरंत नये राज्यपाल की नियुक्ति की जाती थी।[6] मालवा के प्रतिनिधि शासक अग्निमित्र ने केंद्र की सहायता के बिना ही विदर्भ के राजा को युद्ध में पराजित

---

1. *सरकार डी०सी०, सिलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स, पृ० 309-10*
2. *स्मिथ बी०ए०, अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० 210, राय चौधरी एच०सी०, पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्शियन्ट इंडिया, पृ० 371, 391.*
3. *मालविक, एक्ट, 5, अल्टेकर अनंत सदाशिव, स्टेट गवर्नमेन्ट इन एन्शियन्ट इंडिया, पृ० 211.*
4. *सरकार डी०सी०, सिलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स, पृ० 311-12*
5. *मालविक, एक्ट 5.*
6. *राय चौधरी एच०सी०, पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्शियन्ट इंडिया, पृ० 297.*

किया था। उसे पराजित करने के उपरांत उसने स्वयं ही पराजित राजा के समक्ष अपनी इच्छानुसार शांति की शर्तें रखी थी।[1] हमे कुषाण शासकों के दाक्षिणी क्षेत्र के प्रतिनिधि शासकों नहपान और चष्टन जो कि एक कुशल सेनापति[2] थे उनके विषय में भी जानकारी प्राप्त होती है। इन प्रतिनिधि शासकों की सेनाओं का बहुधः प्रयोग केंद्रीय शासन द्वारा साम्रज्य के अन्य भागों में विद्रोह को दबाने में प्रयोग होता था। इसका उदाहरण हमें कुषाण शासक द्वारा रूद्रदामन को पंजाब के निचले भाग में यौधेय द्वारा किये गये विद्रोह को शांत करने से मिलता है।[3] राज्यपालों का कर्तव्य राजा को सैन्य सेवायें प्रदान करना तथा उसके साथ विभिन्न अभियानों में भी जाना था।[4] प्रतिनिधि शासकों को केंद्र सरकार की नीतियोंका पालन करना पड़ता था। क्योंकि कि उस समय संचार व्यवस्था बहुत कठिन थी, इसलिए संभवतः वे काफी स्वायत्त थे। इसका उदाहरण हम बरार राज्य और अग्निमित्र के सबंध में ले सकते है। केंद्रीय सचिवालय के ज्यादातर विभागों के प्रतिरूप प्रांतीय मुख्यालयों में होते थे। शासन व्यवस्था को सुचारू रूप ये चलाने के लिए राज्यपालों को कई और कर्तव्यों का निर्वाहन करना पड़ता था- जैसे-कानून व्यवस्था को बनाना, राजस्व वसूली व उस पर निगरानी रखना अपने प्रांत के स्त्रोतो में वृद्धि करना, सुशासन की स्थापना आदि। कभी-कभी राजा और राज्य के सबंधों में कटुता भी आ जाती थी। बहुधः ये मतभेद राज्यपाल की महत्वाकांक्षा और उसके घमंडी स्वभाव के कारण होते थे।[5] ज्यादातर विद्वान इस बात पर सहमत है, कि मौर्य साम्रज्य का विघटीकरण प्रांतीय राज्यपालों द्वारा

---

1. *वही पृ० 372-73*
2. *राजतरंगिणी, 1,4.12.-43.*
3. *राय चौधरी एच०सी०, पालिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्शियन्ट इंडिया, पृ० 486-88.*
4. *सरकार डी०सी०, सिलेक्ट, इन्स्क्रिप्शन्स, पृ० 280.*
5. *राय चौधरी एच०सी०, पालिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्शियन्ट इंडिया, पृ० 297.*

स्वयं को स्वतंत्र घोषित करने के कारण हुआ।[1] दुर्भाग्य वश इस बात का कही कोई संदर्भ नहीं मिलता कि प्रांतीय सेवाओं के कनिष्ठ अधिकारियों का स्थानांतरण केंद्र में किया गया हो या इसके विपरीत हुआ हो। स्थानांतरण का सबंध केवल प्रांतीय प्रतिनिधि शासकों तक ही सीमित था।[2]

शुंगकालीन प्रशासन के प्रारंभिक समय में मालवा राज्य में पद और शक्तियाँ एक प्रांतीय सरकार की तरह थी।[3] कण्व राज्य इतना विशाल नहीं था, जिसमें किसी वायस राय की आवश्यकता रही हो। सातवाहनों के प्रशासन के सबंध में हमें ज्यादा जानकारी नहीं प्राप्त होती है।[4]

कनिष्क के शासन काल में महाक्षत्रप के पद मिलते होते हैं, जो एक प्रांतीय राज्यपाल के समान थे।[5] उचित शासन संचालन के लिए कुषाणों ने अपने साम्राज्य को कई भागों में विभक्त कर दिया। कुषाण कालीन क्षत्रपों का पद पश्चिमी क्षेत्र के क्षपत्रों से काफी हद तक भिन्न था।[6] अभिलेखों से हमें अनेक कुषाण क्षत्रपों का उल्लेख प्राप्त होता है। ये क्षत्रप जब प्रशासन के छोटे से बड़े पद में पदोन्नति प्राप्त करते थे तो वे महाक्षत्रप कहलाने लगते थे।[7] कुषाण साम्रज्य में विभिन्न प्रशासनिक इकाईयाँ थीं, जहाँ उनके क्षत्रपों की नियुक्ति की जाती थी। जैसे-मथुरा, कपिशा, वाराणसी, कश्मीर, उज्जैनी आदि[8] ज्यादातर कुषाण कालीन क्षपत्र विदेशी थे और कभी-कभी उनका चयन वंशानुगत रूप से होता था।[9]

---

1. *वही, पृ0 361.*
2. *वही, पृ0 297.*
3. *सरकार डी0सी0, सिलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स, पृ0 311-12*
4. *अल्टेकर अनंत सदाशिव, स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एन्शियन्ट इंडिया, पृ0 210.*
5. *सरकार डी0सी0, सिलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स, पृ0 117.*
6. *वही, पृ0 176, राय चौधरी एच0सी0, पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ इन्शियन्ट इडिया, पृ0 316.*
7. *राय चौधरी एच0सी0, पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ इन्शियन्ट इडिया, पृ0 316.*
8. *सरकार डी0सी0 सिलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स, पृ0 117.*
9. *पुरी बी0एन0, इण्डिया अण्डर द कुषाण, पृ0 82.*

इन सब बातों से इस तरफ ध्यान आकर्षित होता है, कि कुषाण शासकों का अपने साम्राज्य के अधिकतर भाग में कोई सीधा नियंत्रण नहीं था।[1] एक प्रांत में दो शासकों की नियुक्ति भी एक आश्चर्यजनक प्रचलन था। ऐसा संभवतः इसलिए होता होगा, ताकि दोनों ही शासक एक दूसरे की कार्य प्रणाली पर ध्यान दे सके। सुरक्षात्मक रूप से हम यह कह सकते है, कि कुषाण साम्राज्य 5 या 7 प्रांतों में विभक्त था।[2] क्षत्रपों और महाक्षत्रपों का नागरिक कर्तव्य मात्र इतना था, कि वे मूर्तियों की स्थापना करवायें,[3] स्मारक बनवायें,[4] व कनिष्ठ अधिकारियों की नियुक्ति करे।[5] ये भी संभव है, कि वे गाँवों से कर वसूलते रहे हो तथा वे राजा और मुखिया के बीच समन्वयक के रूप में रहे हो। वे सम्राट के नियंत्रण में नहीं थे और अपने तरीके से वे काफी प्रभावशाली थे।[6]

जिलों और गाँवों के मध्य कुछ प्रशासनिक विभाजन थे मनुस्भृति में भी यह कहा गया है, कि 10 गाँव मिलाकर एक प्रशासनिक इकाई बननी चाहिए और फिर यह दस ईकाईयाँ एक बड़े स्वरूप में हों, या तालुका के समान हों। मनु के अनुसार एक जिला जिसमें कि कम से कम 1000 गाँव सम्मलित हों, उसमें कम से कम 10 तहसीले होनी चाहिए।[7] जिले को आहार या विषय के नाम से जाना जाता था। परंतु कभी-कभी इन शब्दों का गलत प्रयोग भी हो जाता था। सातवाहन राष्ट्र (प्रांत) को

---

1. *सरकार डी0सी0, सिलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स, 2.37*
2. *पुरी0 बी0एन0, प्रोवेंशियल एण्ड लोकल एडमिनिस्ट्रेशन इन द कुषाण पीरियड, प्रोसीडिंग्स आफ द इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस, 1945, पृ0 641.*
3. *शर्मा आर0एस0, एसेपेक्ट्स ऑफ पोलिटिकल आईडियाज एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स इन एन्शियन्ट इंडिया- पृ0 226.*
4. *सरकार डी0सी0, सिलेक्ट इं, 2.43*
5. *शर्मा आर0एस0, ऐसपेक्ट्स ऑफ पोलिटिकल आईडियाज एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स इन एन्शियन्ट इंडिया- पृ0 226.*
6. *आई0ए0, पृ0 233,*
7. *मनु0, 7.115, ग्रामस्याधिपतिं कुर्याद्‌दशग्रामपतिं तथा। विंशतीशं शतेशं च सहस्त्रपतिमेव च।115.*

सातवाहनी-आहार (जिला) कहा जाता था। संभवतः इसी लिए सात वाहन आहार और जनपद शब्दो का प्रयोग पर्यायवाची के रूप में करते थे।[1] अशोक के लेखों में भी जनपद का उल्लेख प्राप्त होता है, परंतु मौर्य कालीन जनपद सात वाहनों के आहार या जनपदों से आकार में बहुत विशाल थे।[2]

ग्राम प्रशासन :-

इस काल के ग्राम प्रशासन के सबंध में काफी हद तक मनुस्मृति से जानकारी प्राप्त होती है। इसके अनुसार एक, दस, बीस, सौ, सहस्त्र गाँव में अधिकारियों की नियुक्ति करनी चाहिए।[3] ग्राम प्रशासन के उचित संचालन के लिए इन अधिकारियों का एक निश्चित पदसोपान निर्धारित था, और अपने पद के अनुसार ही वे प्रशासन को अपना सहयोग प्रदान करते थे।[4] ये अधिकारी आर्थिक रूप से केंद्रीय या प्रांतीय शासन पर निर्भर नहीं थे, अपितु वे गाँवों से राजा के लिए एकत्र कर से कुछ हिस्सा अपने जीवकोपार्जन के लिए प्राप्त करते थे।[5] पदसोपान के अनुसार ही यह अधिकारी अपने

---

1. *सरकार डी०सी०, सिलेक्ट इंस०, 2.90*
2. *अर्थशास्त्र, 2.2.1, 2.2.3, 2.2.34.*
3. *मनु० 7.115.* *ग्रामस्याधिपतिं कुर्याद्दशग्रामपतिं तथा।*
   विंशतीशं शतेशं च सहस्त्रपतिमेव च।।
4. *वही, 116.17.* *ग्रामदोषान्समुत्पन्नान्ग्रामिकः शनकैः स्वयम्।*
   शंसेद्ग्रामदशेशाय दशेशो विंशतीशिने।।116
   विंशतीशस्तु तत्सर्व शतेशाय निवेदयेत्।
   शंसेद्ग्रामशतेस्तु सहस्त्र पतये स्वयं।।
5. *वही, 118,* *यानि राजप्रदेयानि प्रत्यहं ग्रामवासिभिः।*
   अन्नपानेन्धनादीनि ग्रामिकस्तान्यवाप्नुयात्।।

निर्वाह के लिए एक कुल पाँच, कुल एक ग्राम, एक नगर प्राप्त करते थे।[1] समस्त ग्रामीण अधिकारी राजा के कुशल मंत्रियों द्वारा संचालित एवं नियंत्रित होते थे, और गाँवों के सभी विषयों को संचालित करते थे।[2]

मनुस्मृति के अनुसार ग्राम प्रधान को ग्रमिक कहा जाता था। उसका प्रधान कर्तव्य ग्राम में कानून व्यवस्था को सुचारू रूप से बनाये रखना और राजस्व के रूप में कर वसूली करना था।[3] जिस प्रकार पूर्ववर्ती मौर्यकाल और मौर्यकाल में ग्रामभोजक और ग्रामिक की नियुक्ति राजा द्वारा होती थी उसी प्रकार इस काल में भी इनकी नियुक्ति राजा द्वारा होती थी। परंतु पूर्व काल की तरह अब ग्रामिक गाँव की सुरक्षा के लिए उत्तरदायी नहीं था।[4] इस काल में गाँव की सुरक्षा राजा द्वारा नियुक्त गुल्म[5] नामक ईकाई द्वारा होती थी, तथा इसके अधिकार में कई गाँव थे।[6] पूर्व मौर्यकाल के समान परवर्ती मौर्यकाल के ग्रामिक का वेतन न तो प्राप्त किए गये अर्थदण्ड द्वारा और न ही मौर्यकाल के समान नगद के रूप में दिया जाता था। इस काल में उसे अपना वेतन भूमि-अनुदान के रूप में प्राप्त होता था।[7] प्रारंभ में जिस प्रकार से ग्राम प्रमुख को वेतन दिया जाता था, उससे उसकी शक्तियों में कोई बढ़ोत्तरी नहीं हुई थी, परंतु अब बदले हुए भुगतान के तरीकों के कारण उसकी शक्तियाँ बढ़ गई थी।

---

1. वही, 119, दशी कुलंतु भुञ्जीत विंशी पञ्च कुलानि च।
   ग्रामं ग्रामशताध्यक्षः सहस्त्राधिपतिः पुरम्।।
2. वही, 120, तेषां ग्राम्याणि कर्याणि पृथक्कार्याणि चैव हि। राजोऽन्यः सचिवः
   स्निधस्तिानि पश्येदतन्द्रितः।।120
3. वही, 116.118.
4. अल्टेकर अनंत सदाशिव, स्टेट गवर्नमेन्ट इन एन्शियन्ट इण्डिया पृ0 226.
5. सरकार डी0सी0, सिलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स, 2.49.
6. मनु. 7.114 द्वयोस्त्रयाणां पञ्चानां मध्ये गुल्ममधिष्ठितम्।
   तथा ग्रामशतानां च कुर्याद्राष्ट्रस्य संग्रहम्।।
7. मनु. 7.119 दशी कुलंतु भुञ्जीत विंशी पञ्च कुलानि च।
   ग्रामं ग्रामशताध्यक्षः सहस्त्राधिपतिः पुरम्।।119

सातवाहन राजाओं के काल में ग्रामीणों के कल्याण का दायित्व पुलिस सैन्य अधिकारियों और उन लोगों पर था, जिनको राज्य की ओर से दान के रूप में भूमि-अनुदान प्राप्त हुआ हो। सात वाहन काल में भी गॉव के मुखिया को ग्रामिक या गामिक[1] कहते थे। गाँव की सुरक्षा की जिम्मेदारी अब भी गुल्म नामक इकाई पर थी, जो पुलिस और सेना दोनों के ही कर्तव्यों का पालन करती थी। ये गाँव के निकट ही अपना शिविर लगाते थे। इस प्रकार से अब हम देखते है, कि सैन्य अधिकारी अब स्थानीय प्रशासनिक अधिकारियों का कार्य कर रहे थे, अब यह भूली बिसरी बात हो गई थी, कि पुलिस और सैन्य अधिकारी ग्रामीणों का शोषण करते और निरंकुशता पूर्वक कार्य करते थे।

सातवाहन काल में शासकों द्वारा ब्राहमणों और बौद्धों को आर्थिक और राजनैतिक विशेषाधिकार प्रदान किये गये थे।[2] भूमि अनुदान सातवाहन ग्राम प्रशासन की एक महत्वपूर्ण विशेषता थी। पुरालेखों में वर्णित भूमिदान का संभवतः सबसे प्राचीन दृष्टांत नागनिका के नानाघाट गुफालेख से प्राप्त होता है जिसमें रानी द्वारा पुरोहितों को दक्षिणा स्वरूप कई गाँव दिये जाने का उल्लेख है।[3] सातवाहन अभिलेखों में प्रयुक्त सर्वजाति परिहार शब्द से पता चलता है, कि अनुदान भोगियों को सभी प्रकार की छूट प्राप्त होती थी। राजकीय शासन पत्र के अर्थ में परिहार की जो परिभाषा कौटिल्य ने दी है, उसके अनुसार उससे जाति विशेष, नगर विशेष, ग्राम विशेष या प्रदेश विशेष पर की गई राजकृपा का बोध होता[4] कर मुक्ति के अर्थ में परिहार की सिफारिश नए बसे इलाकों के किसानों के लिए[5] तथा कुछ विशेष परिस्थितियों में नाविकों और व्यापारियों के लिए भी की गई थी।[6] अर्थशास्त्र

---

1. *इण्डियन एन्टीक्वारी, 14. पृ0 155.*
2. *सरकार डी0सी0, सिलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स, 2.83.*
3. *सिलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स, 2.82.*
4. *अर्थशास्त्र, 2.10.*
5. *अर्थशास्त्र, 2.1.*
6. *वही, 2.16.*

से हमे परिहार का उपभोग करने वाले गाँवों[1] और परिहार के सहारे ही जीवनयापन करने वाले राजकृपापात्रों[2] के उल्लेख भी देखने को मिलता है। कौटिल्य विशुद्ध रूप से धर्मनिरपेक्ष उद्देश्य से अर्थात अंततः राजकीय संसाधनों की वृद्धि के प्रयोजन से-परिहार की सिफारिश करते है। किंतु सातवाहन अभिलेखों में केवल धार्मिक प्रयोजनों से प्रदत्त परिहारों का उल्लेख है, और मात्र चार या पाँच पदों में छूट दी गई है।[3]

इससे स्पष्ट होता है, कि ग्रामीण क्षेत्रों में अपनी सत्ता बनाए रखने के लिए सातवाहनों ने दण्ड प्रयोग के साथ भिक्षुओं और पुरोहितों को अनुदान देने के उपाय से भी काम लिया। बौद्ध भिक्षुओं ने जो अभिलेखों के अनुसार प्राचीनतम भूमि अनुदान-भोगी प्रतीत होते हैं, निश्चय ही सामान्य लोगों के बीच शांति और सदाचरण के नियमों का प्रचार किया होगा, जिससे प्रजा द्वारा राजसत्ता तथा समाज व्यावस्था को चुनौती दिए जाने के प्रसंग संभवतः बहुत कम हो गए होंगे।

कुषाण शासन व्यवस्था में भी ग्राम प्रशासन की सबसे छोटी इकाई थी। इसका प्रधान ग्रामणी, ग्रामिक[4] ग्रामयिक[5] ग्रामकुट्रक[6] या ग्रामभोजक[7] कहलाता था। वह ग्रामपति[8] नामक गाँव के जमीदार जैसा नहीं था। कुषाण काल में एक अन्य नाम पद्रपाल[9] भी प्राप्त होता है, जो संभवतः गाँव की परती

---

1. *वही, 2.35.*
2. *वही, 2.37.*
3. *से०इ० 2, सं० 83. पंक्तियां 3-4*
4. *अल्टेकर अनंत सदाशिव, स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एन्शियन्ट इंडिया, पृ० 337, इ.आई०, 1 पृ० 387, आई०ए० 14, पृ० 155.*
5. *वही.*
6. *स्टेट गवर्नमेन्ट इन एन्शियन्ट इंडिया, पृ० 337.*
7. *पुरी बी०एन०, आई०यू०के० पृ० 84.*
8. *वही.*
9. *वही*

भूमि का प्रधान रहा होगा। सामान्यतः गाँव का प्रशासन ग्राम मुखिया की देख-रेख में चलता था। वो ग्राम अधिकारियों का मुखिया होता था, प्रशासन में उसकी सहायता के लिए पूर्व काल के समान वयस्को की परिषद ग्राम-महत्तर थी।[1]

नगर प्रशासन :-

शुंग काल में गाँव के प्रशासन के समान ही नगर प्रशासन पूर्णरूपेण सुव्यस्थित था। प्रत्येक नगर एक अधिकारी के अधिकार में था, जो ग्रामीण अधिकारियों पर भी निगाह रखते थे। वह अधिकारी गॉव के समस्त विषयों व होने वाले कार्यकलापों की जानकारी उन गुप्तचरों द्वारा एकत्र करता था, जो मूल रूप इसी कार्य के लिए नियुक्त किए जाते थे।[2]

सातवाहन काल में व्यापारी नगर प्रशासन में बहुत गहराई तक जुड़े थे।[3] सातवाहन अभिलेखों में हमें कई महत्वपूर्ण नगरों भरूच, सोपारा, कल्याण, कन्हेरी, पैथन, जुन्नर, गोवर्धन नासिक आदि की जानकारी प्राप्त होती है। इनमें से कुछ नगरों का प्रबंध निगम सभा करती थी। उषभदात द्वारा इसी सभा में अपने दानपत्र की घोषणा और पंजीयन करवाने के संकेत मिलते है।[4] वाणिज्यिक वर्ग और कुटुम्बीय लोग दोनों ही इस निगम सभा के सदस्य थे।[5] व्यापारियों और कारीगरों के संघो से जिन्हे

---

1. *अल्टेकर अनंत सदाशिव, स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एन्शियन्ट इंडिया, पृ0 337.*
2. *मनु, 7.122-23 नगरे-नगरे चैकं कुर्यात्सर्वार्थचिन्तकम्। उच्चैःस्थानं घोररूपं नक्षत्राणामिव ग्रहम।।*
   सताननुपरिक्रामेत्सर्वानेवसदा स्वयम्। तेषां वृत्त परिणयेत्सम्यग्राष्ट्रेषु तच्चरैः।।
3. *शर्मा आर0एस0, ऐसपेक्ट्स ऑफ पोलिटिकल आईडियाज एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स इन एन्शियन्ट इंडिया, पृ0 210.*
4. *सरकार डी0सी0, सिलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स, 2.58.*
5. *बाखले वही0एस0 सातवाहनाज एंड द कंटेपररी क्षत्रपाज, ज0ब0ब्रा0रा0ए0सो0, 1.57*

अभिलेखों में सेनि या श्रेणी और निकाय कहा गया है[1] मिलने वाले साक्ष्यों को भी ध्यान में रखकर देखें तो कुल मिलाकर पता चलता है, कि सातवाहन शासन में कारीगरों के संघों का निगम सभा और निगम सभा का राज्य के साथ क्या सबंध था, इसकी जानकारी हमें नहीं है। परंतु यह निश्चित है, कि ये संघ राजा के लिए आर्थिक स्थायित्व के महत्वपूर्ण आधार थे, और संभव है, उसे नगर प्रशासन में भी सहायता देते रहे हो। कुषाण काल के श्रेणी या निगम आर्थिक मामलों के अलावा नगर प्रशासन[2] व्यवस्था में भी सहायता करते थे।

न्यायिक प्रशासन :-

मनुस्मृति के अध्ययन से पता चलता है, कि न्यायिक व्यवस्था पूर्णरूपेण विकसित थी, और राजा न्याय व्यवस्था का प्रधान था।[3] इससे यह भी पता चलता है, कि कानूनी न्यायालयों के स्थापित हो जाने के बाद भी वादी द्वारा अपने मामले के निस्तारण के लिए कई मार्ग अपनाये जाते थे।[4] मौर्यकाल में प्रचलित न्यायालयों (धर्मास्थनीय, कण्टकशोधन) के नाम इस काल में नहीं मिलते हैं।

न्यायपालिका की बनावट :-

यद्यपि राजा प्रशासन का उच्चतम अधिकारी था, परंतु फिर भी कानून से ऊपर नहीं था। वह भी साधारण मनुष्य के समान दण्ड का अधिकारी होता था।[5] उसे दण्ड का विवेकता पूर्वक प्रयोग करना पड़ता था। न्याय प्रदान करना राजा का प्रमुख कर्तव्य था और अपराधियों को दण्डित करना उसकी

---

1. *ल्यूडर्स लिस्ट, सं0 1137, 1180, 1133, 1165.*
2. *शर्मा आर0एस0, एस्पेक्ट्स आफ पोलिटिकल आईडियाज एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स इन एन्शियन्ट इंडिया, पृ0 229.*
3. *मनुस्मृति-8*
4. *मनु, 8-41*   *धर्मेण व्यवहारेण छलेनाचरितेन च।*
प्रयुक्तं साधयेदर्थं पञ्चमेन बलेन च।।41
5. *वही, 8-336*   *कार्षापणं भवेद दण्डयो यत्रान्यः प्राकृतो जनः।*
तत्र राजा भवेत दण्डयः सहस्त्रमिति धारणा।।336

व्यक्तिगत जिम्मेदारी थी।[1] राजा अपने न्यायालय में पहुँचकर राज्य के व्यक्तियों के लिए न्याय प्रदान करता था।[2]

जब राजा स्वयं न्याय प्रदान करने में असमर्थ होता था, तो वह एक ब्राहमण तथा तीन सभ्यों की नियुक्ति करता था जो न्याय देने में धर्मशास्त्रों के ज्ञाता होते थे।[3] शुक्र के अनुसार मुख्य रूप से सभ्य ब्राहमण होने चाहिए, परंतु किसी कारण वश इस पद के लिए योग्य ब्राह्मण न मिल पा रहा हो तो क्षत्रिय या वैश्य को इस पद पर नियुक्त किया जा सकता था।[4] मनु के अनुसार एक शूद्र कभी भी धर्मप्रवक्ता पद के लिए उपयुक्त नहीं था।[5] यहाँ तक कि एक ब्राहमण जो धर्मशास्त्रों का ज्ञाता न भी हो उसको भी शूद्र की तुलना में प्रमुखता दी जाती थी।[6] राजा के लिए मात्र धर्मशास्त्रों के आधार पर न्याय करना ही आवश्यक नहीं था वरन् उसके लिए दण्ड के मनोविज्ञान को जानना भी आवश्यक था।[7] जिस सभा में मुख्य न्यायधीश और सभ्य ब्राहमण होते थे, तब अनेक द्वारा गठित न्याय सभा धर्म या बह्म सभा कहलाती थी।[8] परंतु इन सभी व्यक्तियों के लिए शास्त्रों का अच्छा ज्ञाता होना आवश्यक था।

---

1. मनु० 8.1, *व्यवहारान्दिदृक्षुस्तु ब्राह्मणैः सह पार्थिवः।*
   मन्त्रज्ञैर्मन्त्रिभिश्चैव विनीतः प्रविशेत्सभाम्।।1
2. वही, 8.23 *धर्मासनमधिष्ठाय संवीताङ्ग समाहितः।*
   प्रणश्य लोकपालेभ्यः कार्यदर्शनमारभेत्।।23
3. वही, 8.9.11
4. शुक्र 4-5.14
5. मनु. 8.20 *जातिमात्रोपजीवी वा कामं स्याद् ब्राह्मणब्रुवः।*
   धर्मप्रवक्ता नृपतेर्न तु शूद्रः कथंचन।। 20
6. वही, 20-21
7. वही-8-23-26
8. वही - 8-11

न्यायिक प्रक्रिया :-

राजा प्रतिदिन विवादास्पद विषयों को निपटाने के लिए ब्राहमणों के साथ न्याय भवन में आता था।[1] मनुस्मृति से हमें अपराधों की अठारह श्रेणियों के विषय में जानकारी प्राप्त होती है[2] तथा राजा अपराधी को विभिन्न प्रकार से दण्डित करता था।[3] वह अपराधी को दण्ड, अपराध, स्थान, समय, उसके सामर्थ्य आदि को देखकर ही दण्डित करता था।[4] न्याय सभा में बोलने का अधिकार मात्र शास्त्रों में दक्ष ब्राह्मणों को ही था।[5] सभा का निर्णय निष्पक्ष होता था।[6]

शुंग शासक जो कि स्वयं ब्राहमण थे, उन्होने अपने समय में ब्राहमणों को कई विशेषाधिकार प्रदान किये जिससे शूद्रो की स्थिति में बहुत गिरावट आई, और उनकी स्थिति दासों के समान हो गई।

---

1. *मनु 7.145, 8-1 उत्थाय पश्चिमे यामें कृतशौचः समाहितः।*
   हुताग्निर्ब्राह्मणंश्चार्च्य प्रविशेत्स शुभां सभाम्।।145
2. *मनु 8-3.7.*
3. *वही-8-127*
4. *वही, 8-126*
5. *वही 8-1.14.*
6. *वही 8-8, 12-14, 16*

कर व्यवस्था :-

मनुस्मृति राजा द्वारा कर प्राप्त करने के उचित प्रकारों के विषय में प्रकाश डालती है।[1] इस काल में राजा ब्राहमणों से कर नहीं लेता था।[2] मनु का कहना है कि राज्य का कोश एवं शासन राजा पर निर्भर रहता है, अर्थात राजा को उन पर व्यक्तिगत रूप से ध्यान देना चाहिए।[3] मनु ने यह भी कहा है, कि राजा साधारणतया उपज का छठा भाग ले सकता है।[4] मनु ने यह भी कहा है, कि राजा को आपत्ति काल में भारी कर लगाने के लिए प्रजा से स्नेहपूर्ण याचना करनी चाहिए और अनुर्वर भूमि पर तो भारी कर लगाना ही नहीं चाहिए।[5] कर ग्रहण करने के सबंध में मनु का कहना है, कि -"जिस प्रकार जोंक बछड़ा एवं मधुमक्खी थोड़ा-थोड़ा करके अपनी जीविका के लिए रक्त, दूध या मधु लेते है, उसी प्रकार राजा को अपने राज्य से वार्षिक कर के रूप में थोड़ा-थोड़ा लेना चाहिए।[6]

सातवाहन शासकों के काल में कर बसे हुए गाँवों या आबाद जमीन पर लगाए जाते थे। नमक सहित समस्त खनिज सम्पदा पर कर ग्रहण किया जाता था। राज्यधिकारियों, पुलिस और सैनिकों ढहराने का भार किसानों के पर डाला जा सकता था। और इन सरकारी अमलों का खाना खर्चा या

---

1. वही. 7. 133 म्रियमाणोऽप्याददीत न राजा श्रोतियात्करम्।
   न च क्षुधस्य संसीदेच्छोत्रियो विषये वसन्।।133
2. मनु0. 7 129-30, 138
3. वही, 7-65, अमात्ये दण्ड आयत्तो दण्डे वैनयिकी क्रिया।
   नृपतौ कोशराष्ट्रे च दूते सन्धिविपर्ययौ।।65
4. वही 7.130 पञ्चाशभ्दाग आदेयो राज्ञा पशुहिरण्ययोः।
   धान्यानामष्टोन्भागः षष्ठो द्वादश एव वा।130
5. वही. 10.118 चतुर्थ माददानोऽपि क्षत्रियो भागमापदि।
   प्रजारक्षन्परं शक्त्या किल्विषात्प्रतिमुच्यते।118
6. वही, 7-129, यथाल्पाल्पमदन्त्याद्यं वार्योकोवत्सषट्पदाः।
   तथाल्पाल्पोग्रहीतव्यो राष्ट्राद्राज्ञाब्दिकः करः।।129.

जिस तंत्र के ये अंग थे उसके संचालन का खर्चा किसानों से वसूल किया जा सकता था। देय मेय'[1] भोग[2] जैसे शब्द उपज के हिस्से के घोतक है। शासक कारूकर[3] भी प्राप्त करता था।इस शब्द से ऐसा प्रतीत होता है यह कर कारीगरों से लिया जाता था। घाटकर (फेरीड्यूज)[4] व्यापारियों द्वारा प्रदान किया गया प्रतीत होता है। संभव है सातवाहन राज्य के विभिन्न समुद्री बंदरगाहों में बने चुंगीघरों की देख-रेख के लिए चुंगी अधिकारी भी रखे जाते होंगे, परंतु हमें इस विषय में कोई उचित जानकारी नहीं मिलती है। ऐसा प्रतीत होता है, कि राजस्व जिंस और नगद के रूप में ग्रहण किया जाता था।[5] अधिकर कर नगद और जिंस रूप में लिया जाता था, परंतु कर का एक बड़ा हिस्सा नगद रूप में लिया जाता था।[6]

शक काल के अभिलेखीय साक्ष्यों से भाग, शुल्क, बलि, प्रणय और, विष्टि के करों के विषय में जानकारी प्राप्त होती है।[7]

कुषाण शासन में कर अधिकतर नगद रूप में लिया जाता था।[8] इन सब की जानकारी हमें कुषाण काल के बहुतायत में प्राप्त तॉबों के सिक्कों से मिलती है। कुषाण शासकों के लिए मुद्रा पर आधारित अर्थव्यवस्था सामंतों और सरदारों पर पकड़ रखने में काफी सहायक हो सकती थी। परन्तु इन सबसे विकेंद्रीकरण की प्रवृत्ति को काफी गति मिली ऐसा प्रतीत होता है।[9]

---

1. *सरकार डी0सी0, सिलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स, 2.85*
2. *वही, 2.86*
3. *वही, 2.85*
4. *वही, 2.59*
5. *शर्मा आर0एस0, एसपेक्ट्स आफ पोलिटिकल आइडियाज एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स इन एन्शियन्ट इंडिया, पृ0 209.*
6. *ल्यूडर्स लिस्ट, नं0 996, 1033, 1141*
7. *इपिग्राफिक इंडि0, 8, पृ0 36.*
8. *शर्मा आर0एस0 एसपेक्ट्स आफ पोलिटिकल आइडियाज एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स इन एन्शियन्ट इंडिया, पृ0 231.*
9. *शर्मा आर0एस0, एसपेक्ट्स आफ पोलिटिकल आइडियाज एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स इन एन्शियन्ट इंडिया, पृ0 231.*

गणराज्य :-

मौर्य साम्प्रज्य के पश्चात इस कालखंड में गणतंत्रों का पुनः उदय हुआ। सिक्कों से जानकारी मिलती है, कि ई0पू0150 के लगभग यौधेय अर्जुनायन, मालव, कुणिंद, यौधेय गणतंत्रों ने स्वातंत्र्य प्राप्त कर लिया था।[1] यौधेय गणराज्य को प्रथम शताब्दी ईसवी के लगभग कुषाण शासक ने पराजित कर अपने अधिकार में ले लिया परंतु कुषाण यौधेय पर अधिक समय तक अपना नियंत्रण नहीं रह सके। इसकी जानकारी हमें रूद्रदामा के शिलालेख से मिलती है, जिसमें स्पष्ट है, कि यौधेय गणराज्य ने कुषाण साम्राज्य से पुनः अपनी स्वतंत्रता प्राप्त की और इनकी स्वतंत्रता कुषाणों के पतन में सहायक रही।[2] कुषाण साम्प्रज्य को नष्ट करने में यौधेय गणराज्य को कुणिंदों से बहुत सहायता मिली।[3] पतंजलि ने 'पंचक' दशक 'विंशक' आदि शब्दों से गणराज्यों के संघो का वर्णन किया है। सभवतः इन शब्दों से गणों के मंत्रिमंडल के सदस्यों की संख्या के विषय में जानकारी मिलती है। पंचक संघ से पाँच सदस्यों की, दशक संघ से दस सदस्यों की, विंशक शब्दो से बीस सदस्यों की जानकारी मिलती है।[4] किंतु गणतंत्रो के अध्यक्ष, मंत्री, सेनापति इत्यादि अधिकारी आनुवांशिक होने लगे थे। नादंसा यूप लेख से प्रमाणित होता है कि जिस श्री सोम ने मालवों का शकों के पंजे से छुटकारा किया था उसका वंश तीन पीढ़ियों तक[5] राज्य शटक की धुरी चला रहा था। कुछ गणतंत्रों के अध्यक्ष महाराजा भी कहलाने लगे थे, जैसे कि मध्य भारत के सनकानीकों के अध्यक्ष। दूसरे गणतंत्रों में जैसे कि मालवों में महाराज पदवी अध्यक्ष को नहीं दी जाती थी, किंतु उसका पद अनुवांशिक हो गया था।[6] गणतंत्रो के अध्यक्षों

---

1. *एलन जे0, क्वाइन्स आफ एन्शियन्ट इंडिया, चित्र 39.10*
2. *मजूमदार, एण्ड अल्टेकर अनंत सदाशिव, दि एज ऑफ वाकाटकाज एंड गुप्ताज, पृ0 28-32*
3. *वही, अध्याय, 2*
4. *अल्टेकर अनंत सदाशिव, स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एन्शियन्ट इंडिया, पृ0 132.*
5. *नांदसा लेख, एपि0 इंडि0, 27, 252. समुद्धत्य पितृपैतामहीं धुरम्।*
6. *स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एन्शियन्ट इंडिया, पृ0 338.*

को अपने नाम से सिक्के निकालने की इजाजत नहीं थी। मावल गण व यौधेय गण के सिक्कों पर 'मालवानां जयः', यौधेयगणस्य जयः', ऐसे अभिलेख मिलते है, जो सिद्ध करते, है, कि सिक्के गण ने नाम से निकाले जाते थे, उसके अध्यक्ष के नाम से नही निकाले जाते थे।

मूल्यांकन :-

इसउपर्युक्त प्रशासनिक व्यवस्था के आधार पर विद्वानों ने यह मत व्यक्त किया है, कि व्यापार तथा कृषि के नए क्षेत्रों का उन्मेष करने में मौर्यो ने जो पहल की थी, उसके परिणाम मौर्योत्तर काल में दिखाई देने लगे। इससे दक्कन में बहुत बड़ी संख्या में नगरों के उदय का मार्ग प्रशस्त हुआ। लोग विभिन्न धातुओं के बने सिक्को का प्रयोग बहुतायत में करते थे, जिससे आंतरिक व्यापार और मध्य एशिया, दक्षिण-पूर्व एशिया तथा रोम के साथ विदेशी व्यापार को उत्तेजना मिली। प्राचीन भारत के और विशेषकर दक्कन के कारीगरों और व्यापारियों के जितने संघों के नाम इस काल के अभिलेखों में देखने को मिलते है, उतने किसी अन्य काल में नहीं मिलते हैं। शक -सातवाहन राजव्यवस्था पर इस सबकी स्पष्ट छाप दिखाई देती है।

इस काल के सामाजिक तथा धार्मिक परिवेश की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती । ऐसा प्रतीत होता है, कि शुंग, कण्व तथा सातवाहन इन देशी भारतीय वंशों ने इस काल में ब्राहमणवाद के उत्थान के लिए हर संभव प्रयास किया। यद्यपि दक्षिण भारत के कारीगरों व्यापारियों एवं विदेशी मूल के कुछ राजवंशों को बौद्धधर्म अधिक प्रिय था। इस काल में ब्राहमणों तथा बाद्धों को जीवनयापन के लिए भूमि अनुदान भी प्राप्त होता था। ब्राहमणों ने राजा को दैवीय गुणों से युक्त बताकर सीथियनों द्वारा भारत में लाए गए देवत्व-विषयक मान्यताओं के अंकुरित होने के लिए भूमि तैयार की। उन्होनें देशी मूल के राजाओं को प्रारंभिक विधिग्रन्थों में प्रतिपादित सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था के प्रबल पक्षधर और रक्षक भी बना दिया। इसके अतिरिक्त उन्होने 'मनुस्मृति' को अंतिम रूप प्रदान किया। इस ग्रन्थ से जाति प्रथा उत्तेजित हुई।

मौर्य साम्राज्य के पतन के फलस्वरूप राजस्थान तथा पंजाब में कुछ गणतंत्रों का पुनुरोदय हुआ, किंतु उनके सिक्कों से प्रकट होता है कि उनमें राजतंत्रात्मक प्रवृत्ति धीरे-धीरे बढ़ती जा रही थी। अतः यह छोटे-छोटे राजतंत्रो या सरदारी शासनों का युग था। मात्र सातवाहनों और कुषाणों ने अपने बड़े राज्य स्थापित किये थे, और अपने से छोटे राजाओं के साथ उन्होने सामंती सबंध स्थापित किये थे। कुषाण शासकों, की उपाधियों से अनेक छोटे-छोटे राजाओं तथा षाहियों के अस्तित्व का संकेत प्राप्त होता है। ये छोटे राजा और षाहि सर्वोच्च शासकों की आधीनता स्वीकार करते थे, तथा उन्हें कर व सैनिक सहायता प्रदान करते थे। यह स्पष्ट है, कि देश के जितने बड़े हिस्से पर मौर्य शासक अपना सीधा नियंत्रण रखते थे, उतने बड़े हिस्से पर सातवाहनों और कुषाणों का प्रत्यक्ष नियंत्रण नहीं था।

विकेंद्रीकरण को बढ़ावा देने वाली दूसरी बात थी बौद्ध तथा ब्राहमण दान भोगियों को दिए गए राजस्विक अधिकार। यह बात विशेष रूप से दकन के सातवाहन शासन पर लागू होती थी, क्यों 'अक्षय नीवि' - अर्थात अक्षय निधि-शब्द का प्रयोग यद्यपि कुषाण अभिलेखों में हुआ है, किंतु इस प्रकार के अधिकारों के साथ दिए गए अनुदान हमें गुप्त काल से पहले देखने को नहीं मिलते। धार्मिक प्रयोजनों के लिए अनुदत्त भूमिखण्डों या गाँवों को कई प्रकार की रियायतें दी जाती थीं, जिनमें राजा के अभिकर्ताओं चाटों तथा भटो के प्रवेश का वर्जन भी शामिल था। इस हद तक ग्रहीताओं को गाँवों के मामले का अपने ढंग से प्रबध करने तथा शांतिएवं व्यवस्था कायम रखने की पूरी स्वतंत्रता रहती थी। ग्रामीण क्षेत्रों में यदि वे अर्धस्वंत्र इकाईयों के रूप में कार्य करते थे, तो साथ ही ग्रामीण लोगों को सामाजिक नियमों को अनुसरण तथा अब किसी हद तक दैवीय गुणों से युक्त राजा की आज्ञा का पालन करने की आवश्यकता भी समझते थे।

मौर्योत्तर राज्यव्यवस्था की एक उल्लेखनीय बात यह है, कि दूसरी तथा पहली शताब्दी ई०पू० में उत्तर भारत में कम से कम एक दर्जन ऐसे नगर थे जो लगभग स्वशासी सगठनों की तरह कामकरते थे। इन नगरों के व्यापारियों के संघ सिक्के जारी करते थे, जो सामान्यतः प्रभुसत्ता सम्पन्न व्यक्ति या संस्था ही कर सकती है। त्रिपुरी, महिष्मती, विदिशा, माध्यमिका, केमक आदि नगरों के नामों का उल्लेख उनकी मुद्राओं में प्राप्त होता है। इन मुद्राओं से निगम के अस्तित्व के विषय में जानकारी मिलती है, जो नगर शासन संचालन के लिए महत्वपूर्ण स्थान रखते थे। परंतु यह शासन संचालन किस प्रकार करते थे, इसकी स्पष्ट जानकारी नहीं प्राप्त होती है। मौर्य साम्प्रज्य के पतन के पश्चात तथा शकों और कुषाण राज्यों के उदय के पूर्व स्वायत्तता प्राप्त इकाइयों के रूप में नगरों का उदय हुआ। पूर्ववर्ती मौर्यकाल के किसी भी चरण में हम नगरों या उनके संघों को परवर्ती मौर्य काल के उत्तरी तथा मध य भारत की तरह सिक्के जारी करते नहीं देखते।

इन नगरों का स्वायत्त स्वरूप सातवाहनों तथा कुषाणों के अपने राज्य स्थापित कर लेने के पश्चात समाप्त हो गया किंतु उनके नागरिक जीवन का ओज तब भी कायम रहा। दक्कन में निगम सभा के रूप में विख्यात-व्यापारियों के निगमों का शासकों को विशेष ध्यान रखना पड़ता था। इसी प्रकार कुषाण शासन में शासकों को कारीगरों के संघों का ध्यान रखना पड़ता है। अभिलेखों से यह पता चलता है, कि भारत के कुछ हिस्सों में ये संघ अनुदान संपत्तियों की देख-रेख और प्रबंध करते थे-पश्चिमी भारत में यह कार्य विस्तृत रूप से सम्पन्न होता था। हमें इस प्रकार के कोई निश्चित साक्ष्य प्राप्त नहीं होते, जिससे यह कहा जा सके कि व्यापारी नगर शासन संचालन में अपना कोई सहयोग प्रदान करते थे। इस प्रकार जहाँ मौर्य नगर प्रशासन ऊपर से लादी गई व्यवस्था थी, मौयोत्तर नगर प्रशासन का ढांचा नीचे से विकसित हुआ प्रतीत होता है।

प्राचीन केंद्रीयकृत शासन प्रणाली मे नए तत्वों के समावेश से उसमें और दृढ़ता आई। सातवाहन शासन में भी अशोक द्वारा आरंभ की गई वह प्रणाली अपनाई गई जिसमें शासन के उचित संचालन के लिए राज्य को आहारों में विभक्त करके उनकी देखभाल के लिए राजकीय अधिकारियों को नियुक्त किया जाता था। अब उनमें अंतर मात्र इतना था, कि मौर्यकाल में ये शासक महामात्र कहलाते थे, और इस काल में उन्हे अमात्य कहा जाता था। सभापर्व में इन पदों के वंशानुगत होने का संकेत मिलता है।[1] कुषाणों के शासन में अमात्य का उल्लेख मिलता है, यद्यपि शक शासक जो पश्चिमी भारत में शासन करते थे, अमात्य रखते थे, जो उनके मतिसचिव और कर्मसचिव अर्थात परामर्श दाता और प्रशासक के रूप में कार्य करते थे। कुषाण शासन में उनका समांतर अधिकारी दंडनायक था, जिसके सैनिक दायित्व गैर सैनिक दायित्वों से कही अधिक महत्वपूर्ण थे।

मौर्य शासन व्यवस्था के लक्षण भारत-यूनानियों तथा उनके विदेशी उत्तराधिकारियों द्वारा शासित क्षेत्रों में दिखाई नहीं पड़ते। शकों तथा पार्थियिनों ने संयुक्त शासन का चलन आरंभ किया जिसमें युवराज सत्ता के उपभोग में राजा का बराबरी का सहभागी होता था। शक और कुषाण लोग प्रार्थियनों के माध्यम से अरवामनी राजवंश की क्षपत्र प्रणाली भी इस देश में लाए। कुषाणों ने प्रांतो में दृैध शासन प्रणाली का प्रचलन किया। यह केंद्रीय शासन में प्रचलित एक प्राचीन रीति का प्रतिबिंत थी। कुषाण राज्य में ग्राम-प्रशासन पहले की ही तरह राजा द्वारा नियुक्त ग्रामिक या ग्रामस्वामी चलाता रहा। यह भी स्पष्ट है, कि ग्राम प्रधान पुलिस तथा राजस्व व्यवस्था से सबंधित काम काज की देख-भाल भी पूर्ववत करता रहा।

---

1. *महा0 सभा, पर्व 5.33*

मौर्यकाल की अपेक्षा मौर्योत्तर काल में कर प्रणाली पहले की अपेक्षा काफी सरल हो गई थी। कौटिल्य द्वारा उल्लखित बहुत से करों तथा राजस्व अधिकारियों का उल्लेख मौर्योत्तर अभिलेखों में नहीं प्राप्त होत। पश्चिमी भारत तथा दक्कन में बलि, भाग, भोग तथा कर इन चार राजकीय शुल्कों का उल्लेख मिलता हैं, परंतु पैदावार के मुकाबले उनका अनुपात क्या था, यह स्पष्ट नहीं है। सिक्कों की बहुलता से ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि शकों तथा सातवाहनों दोनों के राज्यों में नकद कर लगाए तथा वसूल किए जाते थे।

मनु तथा शांतिपर्व से राजस्व व्यवस्था में नई प्रणाली की जानकारी मिलती है, जो दाशमिक प्रणाली पर राजस्विक इकाइयों के गठन से सबंधित है। सहस्त्रपति जो हजार गॉवों का प्रधान था। उसमें तथा राष्ट्रीय में संभवतः कोई अंतर नहीं था।[1] मौर्यकाल में नगद वेतन की प्रणाली अपनायी जाती थी, परंतु इस काल में राजस्व अधिकारियों को उन्हें सौपे क्षेत्रों की आय में से ही जिंसो के रूप में वेतन देने की रीति चलाई गई। इसे सामंतवादी प्रथा माना सकता है।

सातवाहनों और कुषाणों की सैनिक शक्ति के विषय में हमें कोई जानकारी नहीं है परंतु ऐसा प्रतीत होताहै कि उनकी शक्ति का आधार घुड़सवार सेना थी, और उस काल की मूर्तियों से प्रकट होता है, कि घुड़सवार सैनिक रकाब का उपयोग करते थे। इस काल की महत्वपूर्ण प्रवृत्ति सातवाहन तथा कुषाण दोनों राज्यों में शासन का सैन्यीकरण प्रतीत होती है। आहार का प्रधान शासक महा सेनापति होता था और गॉव का गौल्मिक। इसी प्रकार कुषाणों के अधीन दंडनायक तथा महादंडनायक नामक अर्धसैनिक अधिकारी प्रशासन की स्थानीय इकाइयों की देख-रेख करते थे। कुषाण विदेशी थे, इसीलिए

---

1. *महा० शांतिपर्व, 88. 8-9*

उनके शासन के सैन्यीकरण के औचित्य को आसानी से समझा जा सकता है। सातवाहनों के राज्य में यह प्रणाली संभवतः नवविजत प्रदेशों में प्रचलित थी।

एक अर्थ में मौर्योत्तर काल में राजस्व का धार्मिक पक्ष कुछ क्षीण हुआ, क्योंकि जहाँ उत्तर वैदिक काल से लेकर मौर्यकाल तक के समस्त साहित्य में पुरोहित एक अत्यंत उच्च पादधिकारी के रूप में समाने आता है, परंतु मौर्योत्तर काल में उसका कोई उल्लेख देखनें को नहीं मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है, कि जब वैदिक यज्ञों का महत्व कम हो गया तो पुरोहित भी अपना स्थान खो बैठा। सातवाहन काल में पुनः वैदिक धर्म को प्रमुख स्थान प्राप्त होने पर भी पुरोहित को वैदिक काल के समान वो स्थान नहीं प्राप्त हुआ। इसका कारण संभवतः सातवाहन शासकों द्वारा स्वयं पौरोहित्य करना रहा हो। कुषाण तथा गुप्त काल की शासन व्यवस्था में भी पुरोहित का अस्तित्व नहीं मिलता, अंततः निष्कर्ष यही निकलता है कि राजनीति पर धर्म का प्रभाव कम हो गया था।

इस काल में हमें राजा के दैवत्व जैसी महत्वपूर्ण भावना भी देखने को मिलती है। पहले राजाओं से देवताओं की तुलना की जाती थी, परन्तु अब बात ठीक इसके विपरीत थी, अब राजाओं की तुलना देवताओं से की जाने लगी। इस बात का पता हमें सातवाहन अभिलेखों से लगता है, जिसमें गौतमीपुत्र शातकर्णी की तुलना कई देवाताओं से की गई है। परंतु कुषाण काल में शासकों ने स्वयं को देवपुत्र कहा है। मौर्य शासक अशोक ने स्वयं के लिए देवनांप्रिय (देवताओं का प्रिय) उपाधि धारण की थी। कुषाण शासकों की देवपुत्र उपाधि चीनियों और रोम वालों के बीच ही प्रचलित थी। कुषाण शासकों ने मृत शासकों को मंदिरों में देवताओं की तरह प्रतिष्ठित (देवकुलों) करने का चलन भी आरंभ किया। कुषाण शासकों ने इस प्रथा को जो मिश्र से यूनानी शासकों ने प्रचलित की थी, विदेशी प्रभाव के कारण

इस भूमि में दाखिल किया। इस देश में यह प्रथा कुषाण शासन के बाद कायम नहीं रही। सातवाहन काल की यह प्रथा जिसमें राजा के साथ ईश्वर की तुलना की जाती थी वह गुप्तकाल में भी ही।

राजा का दैवीकरण, सिविल प्रशासन का सैन्यीकरण, प्रांतीय शासन को सुचारू रूप से चलाने के प्रयत्न करों की उगाही तथा राजकीय प्रतिनिधियों के माध्यम से बेगार काव्यवस्थापन इन समस्त चीजों से पुरानी केंद्रीकृत पद्धति को कायम रखनें में सहायता दी। लेकिन इन चीजों की व्यवस्था करने के लिए पहले की अपेक्षा कम अधिकारियों की नियुक्ति होती थी। अब राज्य छोटे थे और करों की संख्या कम थी, इसलिए किसी बड़े प्रशासन तंत्र का खर्च चलाना संभव नहीं था। अधिकांश आर्थिक प्रवृत्तियाँ अब कारीगरों तथा व्यापारियों के संघों या अलग-अलग व्यक्तियों के हाथों में आ गई थी। अतः मौर्य साम्राज्य में इस तरह के कामों की देख-रेख के लिए जो बहुत से अधिकारी नियुक्त होते थे, अब उनकी आवश्यकता नहीं रह गई थी। इसके अतिरिक्त प्रशासन के बहुत से दायित्वों का निर्वाह शहरी क्षेत्रों में संघ तथा ग्रामीण क्षेत्रों में धार्मिक अनुदान भोगी करते थे। ये अनुदानभोगी जनता को वर्णाश्रम धर्म के नियम तथा अहिंसा की भी शिक्षा देते थे जिससे समाज में शांति तथा स्थायित्व कायम हुआ। राज्य व्यवस्था में हमें विकेंद्रीय करण के बहुत से तत्व देखने को मिलते है। इस सबसे स्वाभवतः गुप्त राज्य व्यवस्था की सामंतवादी प्रवृत्तियों का मार्ग प्रशस्त हुआ।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम यह कह सकते हैं, कि मौर्योत्तर युगीन प्रशासनिक व्यवस्था राजनीतिक एकता के अभाव में छोटे-छोटे राज्यों तक ही सीमित थी। पूर्ववर्ती शासकों की भॉति इस काल में शुंग सात वाहन आदि भारतीय वंश के राजाओं ने प्रजा कल्याण को ही अपनी प्रशासनिक व्यवस्था का आधार बनाया। इस काल के विकेन्द्रीकरण ने सामंतीय व्यवस्था का मार्ग प्रशस्त किया, जो कलान्तर में चलकर गुप्त वंश और राजपूत वंश के पतन में सहायक सिद्ध हुई।

अध्याय-पंचम

गुप्तकालीन प्रशासनिक व्यवस्था में परिवर्तन

भारतीय इतिहास में गुप्तकाल का महत्व और स्थान श्रेष्ठतम है। मौर्य युग के पश्चात् प्राचीन भारत का सबसे समृद्धिशाली युग गुप्त युग था। कुषाण साम्राज्य की अवनति के पश्चात उत्पन्न हुई राजनीतिक अव्यवस्था और अस्थिरता को समाप्त करके गुप्त सम्राटों ने भारत को व्यवस्था की राजनीतिक स्थिरता प्रदान की। कुषाणों के पश्चात भारत में राजतंत्र राज्य (नागवंश और वाकाटक वंश) तथा मालव, अर्नुनायन, लिच्छवि तथा यौधेय जैसे गणतंत्र राज्य सुप्रसिद्ध थे। ईसा की चौथी सदी में इन स्वतंत्र राज्यों को समाप्त कर दिया गया और उनके खण्डहरों पर उत्तरी भारत में गुप्त साम्राज्य की नींव रखी गई।

गुप्त काल ने इतिहास के पन्नों में सर्वागीण अभ्युत्थान हेतु सदैव ही गौरवान्वित स्थान प्राप्त किया है। इस काल के शासकों ने अपने अदम्य उत्साह, संगठन, प्रतिभा, तथा अनवरत चेष्टाओं द्वारा एक ऐसे सुविशाल साम्राज्य का निर्माण किया जो उत्कर्ष काल में पश्चिम में गुजरात से लेकर पूर्व में बंगाल तक प्रसारित था। अव्यवस्था की प्रवृत्तियों के उन्मूलन द्वारा इस काल में एकछत्र सुदृढ़ अभिनव सत्ता की स्थापना हुई जिसे उनके अभिलेखों में 'धरणिबन्ध', कृत्स्न पृथ्वीजय', 'निखिल भुवनविजय' आदि मनोरम पदावलियों द्वारा अभिव्यंजित किया गया है। 'पराक्रमांक' एवं 'सर्वराजोच्छेता' विक्रमांक चन्द्रगुप्त 'महेद्रादिव्य कुमारगुप्त तथा 'क्रमादित्य' स्कंदगुप्त जैसे प्रतिभा सम्पन्न गुप्त नरेशों ने अपने दिग्विजय एवं व्यावहारिक जीवन की विशेषताओं द्वारा नूतन आदर्शो को प्रस्तुत किया।

जानकारी के स्त्रोत -

इस काल की जानकारी के लिए हमारे पास कई प्रकार के स्त्रोत उपलब्ध है। जिनमें साहित्यिक अभिलेखीय मुद्राएँ, तथा विदेशी यात्रियों के वर्णन विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

इस काल की प्रशासनिक व्यवस्था की जानकारी के लिए साहित्यिक स्त्रोतों में पुराण, कालिदास की रचनाएँ, देवीचन्द्रगुप्तम्, मृच्छकटिक आदि महत्वपूर्ण है। साहित्यिक साधनों में सर्वप्रथम पुराण उल्लेखनीय है। गुप्तवंशीय इतिहास की संरचना की दृष्टि से विष्णु पुराण, वायु पुराण तथा ब्रह्माण्ड पुराण निश्चित रूप से उपयोगी प्रमाणित हुए हैं। इनके द्वारा गुप्तों के प्रारंभिक इतिहास एवं उनकी आदि राज्य-सीमा के विषय में काफी जानकारी प्राप्त होती है।

विशाखदत्त कृत 'देवीचन्द्रगुप्तम्' नाटक भी गुप्तवंशीय इतिहास के परिचय-निमित्त उपयोगी सिद्ध हुआ है। दुर्भाग्यवश यह ग्रन्थ अभी तक अपने मूल रूप में अभी तक प्राप्त नहीं हो सका है। इसके कुछ अंश उद्धरण-रूप में भोज लिखित श्रंगार-प्रकाश तथा गुणचंद्र एवं रामचंद्र द्वारा विरचित 'नाट्यदर्पण' नामक ग्रन्थ में प्राप्त हुए है। इन उद्धरणों ने सर्वप्रथम सिलवाँ लेवी के ध्यान को आकृष्ट किया था। देवीचन्द्रगुप्तम् के प्राप्त उद्धरणों में चन्द्रगुप्त द्वितीय द्वारा अपने बड़े भ्राता रामगुप्त का वध तथा उसकी पत्नी ध्रुवस्वामिनी के साथ उसका विवाह एवं तदन्तर उसके राज्यभिषिक्त होने का उल्लेख प्राप्त होता है।

कालिदास की रचनाएँ भी गुप्तकालीन इतिहास की जानकारी में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाहन करती हैं। कालिदास ने ऋतु संहार, कुमारसंभव, मेघदूत, रघुवंश, मालविकाग्निमित्रं, विक्रमोर्वशीयं, अभिज्ञान शाकुंतलं आदि उत्कृष्ट ग्रन्थों की रचना की थी। मालविकाग्निमित्रम् नामक नाटक में ग्राम-नगर भेद के विषय में बहुत अच्छा उल्लेख प्राप्त होता है।[1] इस कोटि के प्रचुर विशिष्ट संदर्भ कालिदास के ग्रन्थों में प्राप्त है, जो गुप्तकालीन संस्कृति की यथार्थता को हमारे समक्ष प्रस्तुत करने में योगदान पहुँचाते हैं।

गुप्तकालीन इतिहास के पुनर्निर्माण में शूद्रककृत मृच्छकटिक भी उपयोगी सिद्ध हुआ है। इस ग्रन्थ में तत्कालीन नगर-शासन पद्धति के विषय में भी उल्लेख प्राप्त होता है। उज्जयिनी के न्यायालय का जो वर्णन इसमें प्राप्त होता है, वह गुप्तकालीन पुर-न्यायालयों की कार्यपद्धति पर प्रकाश डालते है।[2]

---

1. *मालविकाग्निमित्रम्, अंक 1, ''अलमुपालम्भेन! पत्तेन सति ग्रामे रत्नपरीक्षा''*
2. *मृच्छकटिक, 9.14. ''चिन्तासक्त निमग्नभन्त्रि संलिलं दूतोर्मिशंखाकुलम्*

   पर्यन्त स्थिति चारूनक्रमकरं नागाशहिंसाश्रयम्।

   नाना वाशककंक पक्षिरचितं कायस्थसपस्पिदम्

   नीतिक्षुण्णतटं च राजकरणं हिंसैः समुद्रायते।''

गुप्तकालीन प्रशासनिक व्यवस्था को ज्ञात करने में अभिलेख महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाहन करते है। अब तक ऐसे 42 अभिलेख प्राप्त हो चुके है, जिनका सबंध गुप्तकालीन साम्राटों से जोड़ा गया है।

'प्रयाग प्रशस्ति' इस काल के अध्ययन में बहुत उपयोगी सिद्ध हुई है। यह प्रशस्ति ध्रुवभूति के पुत्र हरिषेण ने अपने स्वामी समुद्रगुप्त के प्रशस्ति गान के लिए लिखी थी। ऐसा प्रतीत होता है, कि हरिषेण समुद्रगुप्त के साथ विजय अभियान में गया था, इसलिए उसकी इस प्रशस्ति से तत्कालीन दो प्रकार की शासन व्यवस्थाओं लोकतंत्रात्मक[1] तथा राजतंत्रात्मक[2] राज्यों का उल्लेख प्राप्त होता है। प्रयाग प्रशस्ति से ज्ञात होता है, कि इस काल में शासक का दैवीय उत्पत्ति सिद्धांत प्रचलित था। वैसे तो पूर्ववर्ती कालों में ही राजा के दैवीय स्वरूप की कल्पना प्राप्त होने लगी थी, परंतु इस काल में वह अधिक व्यापक रूप में देखने को मिलती है। इस प्रशस्ति से गुप्तकालीन उत्तराधिकार सबंधी नियमों के विषय में प्रकाश पड़ता है।[3] इस प्रशस्ति से कुमारामात्य, महादंडनायक, संधिविग्रहिक खाद्यटपाकिक नामक पदों के विषय में जानकारी प्राप्त होती है।[4]

नालंदा लेख से अक्षपटलिक, महापीलुपति, महाबलधिकृत नामक अधिकारियों का उल्लेख प्राप्त होता है।[5] नालंदा तथा गया ताम्रपत्रों से ''वलत्कौशन'' का उल्लेख प्राप्त हुआ है[6] जो संभवतः एक भू-कर अधिकारी था, जिसका प्रमुख कार्य आय संचय करना था। इन दोनों ताम्रपत्रों से ग्राम नामक प्रशासनिक इकाई के सबंध में भी प्रकाश पड़ता है।[7]

---

1. *उपाध्याय वासुदेव, 2.22. पृ0. 48.*
2. *वही, श्लोक, संख्या, 19-21.*
3. *गुप्त परमेश्वरी लाल, गुप्त साम्राज्य, प्रयाग प्रशस्ति, श्लोक संख्या 7. पृ0 5.*
4. *वही, श्लोक संख्या 32 पृ0 7.*
5. *उपाध्याय वासुदेव, प्रा0भा0अ0अ0 पृष्ठ 50, श्लोक सं011.*
6. *उपाध्याय वासुदेव, प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, श्लोक सं0 5, पृ0 50*
7. *उपाध्याय वासुदेव, प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, श्लोक सं0 5, पृ0 50*

विदिशा (म०प्र०) में स्थित उदयगिरि गुहा लेख जो चन्द्रगुप्त द्वितीय से सबंधित है, ज्ञात होता है, कि इस शासक के काल में गणराज्यों के प्रधान स्वयं को महाराजा के नाम से संबोधित करने लगे थे।[1]

इसके अतिरिक्त कुमार गुप्त के दामोदरपुर ताम्रलेख से भी प्रशासनिक व्यवस्था के विषय में काफी जानकारी प्राप्त होती है।[2]

गुप्तकालीन सिक्कों से प्रशासनिक व्यवस्था में विषय में विस्तृत जानकारी नहीं प्राप्त होती है, फिर भी उन पर उत्कीर्ण उपाधियों जैसे कुमारामात्याधिकरणस्य श्री परमभट्टारक पादीय कुमारामात्याधिकरणस्य, श्री युवराज भट्टारक पादीय बलधिकरणस्य रणभण्डागारधिकरणस्य, महादंडनायक अग्निगुप्तस्य आदि[3] द्वारा थोड़ी बहुत जानकारी अवश्य प्राप्त हो सकती है। स्थानाभाव के अंकित है, वह प्रशासनिक व्यवस्था की जानकारी के लिए महत्वपूर्ण है।

गुप्तकाल की जानकारी के लिए चीनी यात्री फाहियान का वर्णन उपयोगी है। यद्यपि फाहियान भारत में बौद्धधर्म की स्थिति का पता लगाने आया था फिर भी उसमें प्रशासनिक व्यवस्था के विषय में जानकारी प्राप्त हुई है। फाहियान ने चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के काल में भारत की-यात्रा की। उसने अपने यात्रा विवरण में कुछ प्रदेशों की प्रशासनिक व्यवस्था के संदर्भ में उल्लेख किया है। फाहियान ने शासक के परिचरों और अंगरक्षकों को वेतन देने की रीति के सबंध में भी प्रकाश डाला है। पंरतु इस चीनी यात्री ने अपने पूरवर्ती तथा परवर्ती यात्रियों के समान विवरण नहीं दिया है।[4]

---

1. *वही, श्लोक 2, पृ051.*
2. *वही, द्वितीय खंड, कुमार गुप्त का दामोदरपुर ताम्र लेख, पृ० 55-56.*
3. *वहीं, पृ० 224.*
4. *शर्मा रामशरण, ऐसपेक्ट्स आफ पोलिटिकल आईडियाज एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स इन एन्शियन्ट इंडिया, पृ० 30*

केंद्रीय प्रशासन

गुप्त राजाओं का शासन काल प्राचीन भारतीय इतिहास के सर्वाधिक गौरवशाली युग का प्रतिनिधित्व करता है। गुप्त युग की सर्वतोमुखी प्रगति को देखते हुए ही विद्वानों ने काल को 'स्वर्ण युग' अथवा क्लासिकल युग की संज्ञा से अभिहित किया है। अग्रलिखित पंक्तियो में हम इस युग की प्रशासनिक व्यवस्था विवरण प्रस्तुत करेंगे।

राजा-

गणतंत्रों का लोप होने के कारण प्राथः नृपतंत्र ही इस काल में प्रचलित था। गुप्त काल में राजत्व के स्वरुप में क्या परिवर्तन हुए, इसका पता लगाना कदिन है। सातवाहनों के विपरीत गुप्तों के राज्य में राजकीय उत्तराधिकार विशुद्ध रुप से पैतृक था। सम्राट के लिए महा राजाधिराज पदवी अत्यधिक लोक प्रिय हुई। यह पदवी कुषाणों की राजातिराज पदवी से सबंधित थी। गुप्तवंश के गुप्त व घरोत्कच स्वयं को महा राजा संबोधित करते थे। प्रथम चन्द्रगुप्त ने जब अनुगंग-साकेत-प्रयाग देश मगध में मिलाया, तव उसने इस पदवी का उपयोग करना प्रारंभ किया। मौर्य शासकों के विपरीत गुप्त शासक अन्य आडंवर पूर्ण आधियाँ जैसे- परमेश्वर, महाराजाधिराज, परमभट्टारक एकाधिराज, पृथ्वीपाल, सम्राट, चक्रवर्तिन आदि उपाधियों धारण करते थे।[1]

राजा के देवत्व की कल्पना इस कालखंड में आधिकाधिक लोक प्रिय हुई। सातवाहन राजा गौतमी पुत्र शातकर्णी की तरह गुप्त शासकों की तुलना बार-बार यम, वरुण, इन्द्र, कुबेर आदि विभिन्न देवताओं से की गई है। लोगों के पालन और रक्षा के राज कर्तत्य को ध्यान में रखते हुए उनकी तुलना विष्णु से की गई है। अनेक गुप्त सिक्कों पर विष्णु की पत्नि देवी लक्ष्मी की आकृति अंकित हैं। संभव है, कि गुप्त शासकों के वैष्णव धर्मानुयायी होने के कारण उनके कुछ राजनीतिक उद्‌देश्यों की पूर्ति होती होगी। लेकिन ध्यान देने की बात यह है, कि उन्हें देव कहा गया है।[2] गुप्त शासकों को कुषाण राजाओं की तरह देवपुत्र के रुप में नहीं, बल्कि स्पष्ट रुप से स्वयं देवता के रुप में प्रस्तुत किया गया है। समुद्र गुप्त को भी 'लोकधाम्नः देवस्य' अथति भूतलनिवासी देव कहकर संबोधित किया गया है।[3]

---

1. *महाजन वी0डी0, प्राचीन भारत का इतिहास, पृ0 523.*
2. *शर्मा रामशरण, ऐसपेक्ट्स आफ पोलिटिकल आईडियाज एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स इन एन्शियन्ट इंडिया, पृ0244.*
3. *विद्यालंकार सत्यकेतु, प्राचीन भारत, पृ0 406.*

देवत्व के कारण राजा को निरंकुश होने का अधिकार प्राप्त होता है, ऐसी धारणा नहीं थी। सिद्धांततः गुप्त शासकों के लिए धर्म शास्त्रों में उल्लखित नियमों का पालन करना प्रधान कर्तव्य था और धर्म शास्त्रों के ज्ञाता ब्राह्मण लोग राज सत्ता पर अपनी काफी पकड़ रखते थे। इसके-अतिरिक्त शासक को प्रशासनिक व्यवस्था के लिए व्यापारियों और शिल्पियों के संघों तथा अन्य सामुदायिक संस्थाओं को भी अपनी सत्ता के सहयोगी रुप में समझना पड़ता था। आश्चर्यजनक बात तो यह है, अनुदान भोगी और सामंत गण सत्ता का पूर्णतयः उपभोग करते थे और शासक को इनका ध्यान भी पड़ता था।[1] गुप्त काल की राज व्यवस्था पर मौर्यकाल या प्राग गुप्त काल की-अपेक्षा कहीं अधिक लगे हुअे थे। गुप्तों के राज्य में राजकीय उत्तराधिकार पैतृक था। गुप्त सम्राटों ने अपनी माताओं के नामों उल्लेख तो किया है, किंतु प्रशासन में महिलाओं की कोई महत्वपूर्ण भूमिका नहीं थी। चंद्रगुप्त द्वितीय की पुत्री प्रभावती गुप्ता ने वाकाटक राज्य की संरक्षिका का काम किया, परंतु गुप्त शासन में हमें ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता, जो प्रशासन में महिलाओं की महत्वपूर्ण भूमिका को दर्शाता हो। सातवाहन कालीन परम्परा में राजाओं को मातृ नामों से संबोधित किया जाता था, इसकी पुष्टि हम इस बात से कर सकते हैं, कि गौतमी पुत्र शात कर्णी को अविपनमातुसुसुक[2] (मातृ सेवा में रत) कहा गया है, जब कि गुप्त शासकों को पितृपादानुध्यात से संबोधित किया जाता था।[3] किंतु ज्येष्ठाधिकार, ~~अर्धांत~~ का नियम, सुस्थापित नहीं हो पाया था। कभी-2 ज्येष्ठ पुत्रों के रहते- कनिष्ठ पुत्र भी सिंहासन पर बैढते थे, और कुछ विद्वानों के अनुसार 467 ई० में स्कंद गुप्त की मृत्यु के बाद उसके साम्राज्य को सिंहासन के दो दावेदर राजकुमारों के बीच विभाजित करना पड़ा था। राज्याधिकार इस प्रकार आनुवांशिक था, कि एक छोटा बच्चा भी राजा बना दिया जाता था।[4]

---

1. *शर्मा,आर०एस०, ऐ०पो०आ०इं०ए०इं०, पृ० 244.*
2. *से०इ०, 2 सं० 86 पंक्ति 4.*
3. *शर्मा आर०एस०, ऐसपेक्ट्स ऑफ पोलिटिकल आईडियाज एण्ड इन्स्टीटयूशन्स न एन्शियन्ट इंडिया, पृ० 211:, सरकार से०इ० पृ० 313*
4. *रघुवंश, 18.39 5*

सिक्कों और अभिलेखों में गुप्त राजाओं को मुख्यतः योद्धा और सेनापति के रुप में चित्रित किया गया है। इन्हें शिकार और युद्ध बहुत प्रिय थे। राजा मंत्रियों, सेना नायकों, क्षेत्रीय शासकों आदि की नियुक्ति करता था। वह अपने सामंतों और अधीनस्थ राजाओं का अभिनंदन स्वीकार करता था, और परमेश्वर महाराजाधिराज, परमभट्टारक आदि आडंबर युक्त उपाधियों से प्रकट होता है, कि उसके साम्राज्य में ऐसे छोटे-2 राजा और सरदार भी थे जिनसे उसे किसी न किसी प्रकार का संधि संबंध स्थापित करना पड़ता था। गुप्त युग में सामंतवाद का उदय हो चुका था। इसके लिए गुप्त शासकों की अधीनस्थ राजाओं के प्रति अपनाई गई नीति ही उत्तदायी थी। उन्होनें जीते गये अधिकांश राज्यों को अपने साम्रज्य में सम्मलित नहीं किया। अधीन राजाओं के अतिरिक्त सम्राट के अधीन अनेक छोटे-छोटे सामंत हुआ करते थे, जो महाराज की उपधि ग्रहण करते थे। उन्हें कई प्रकार के अधिकार भी प्राप्त थे। यद्यपि गुप्त लेखों में हमें सामंतों तथा उसकी विभिन्न श्रेणियों का कोई विशेष उल्लेख नहीं मिलता है तथापि यह स्पष्ट है, कि अब प्रशासन में मौर्यकालीन केंद्रीय नियंत्रण समाप्त हो गया था।

गुप्त अभिलेखों से प्रतीत होता है कि गौतमी पुत्र शातकर्णी की तरह वर्णाश्रम धर्म की रक्षा करना, राजा का प्रमुख कर्तव्य था। राजा का अन्य महत्वपूर्ण दायित्व प्रजा की रक्षा करना बताया गया है।[1] सम्राट ही शासन का सर्वोच्च पदाधिकारी होता था और उसी के अनुशासन और नियंत्रण में साम्राज्य का सम्पूर्ण शासन चलता था। व्यवस्थापिका, कार्य पालिका तथा न्याय पालिका संबधित सभी शाक्तियाँ उसी में पुंजीभूत थी। कार्यपालिका का वही प्रधान होता था और साम्राज्य का सम्पूर्ण शासन उसी के नाम से संचालित होता था। देश में शांति तथा सुव्यवस्था बनाये रखने का पूरा दायित्व उसी पर होता था। बाहृय आक्रमणों से साम्राज्य की रक्षा करना और आतंरिक विद्रोहों का दमन करना भी उसका एक प्रधान प्रधान कर्तव्य था। युद्ध के समय वह सैन्य संचालन करता था और रणक्षेत्र में उपस्थित रहता था। वस्तुतः वही प्रधान सेनापति होता था। वही सर्वोच्च न्यायाधीश होता था और उसी का निर्णय अंतिम समझा जाता था। अपराधियों तथा आततायियों को वह दण्डित किया करता था और उसे क्षमादान का भी अधिकार था। साम्राज्य के बड़े-2 पदाधिकारियों की नियुक्ति वही करता था। वह

---

1. *शर्मा आर०एस० ऐसपेक्ट्स आफ पोलिटिकल आईडियाज एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स इन एन्शियन्ट इंडिया, पृष्ठ० 243*

उन्हें दण्डित तथा अपदस्थ भी कर सकता था। राजा जिन अधिकारियों की नियुक्ति स्वयं करता था, वे अधिकारी राजा के प्रति ही-उत्तरदायी होते थे। भूमि का स्वामी भी राजा होता था। वह देश के लिए बाँध का निर्माण कर सकता था तथा विदेशियों को शरण भी दे सकता था।[1]

जनता से सम्पर्क रखने के लिए शासक अपने साम्राज्य का दौरा किया करता था।[2] दंडिन कहते हैं प्रशासन एक वृक्ष के समान होता है, उत्तम योजनाओं उसकी टहनियाँ, परामर्शदाता उसकी पत्तियों, सत्ता फूल और सफलता उसका फल है। उसे शासक के लिए लाभप्रद होना चाहिए।[3] कालिदास ने राजपद को धूप से बचने के लिए छत्र के डण्डे के समान माना है, जिसे राजा अपने ही हाथ से धारण करता था।[4] राजा निरंतर अपने प्रजा के हित में लगा रहता था।

उत्तराधिकार-

गुप्त काल में यह आवश्यक नहीं था, कि राजा का ज्येष्ठ पुत्र ही राजगद्दी पर आसीम हो। ज्येष्ठ पुत्र के होने पर भी राजा के कनिष्ठ पुत्र को राज सिंहासन के योग्य समझा जा सकता था। पंरतु इसके लिए उसे अपने ज्येष्ठ भ्राता से हर प्रकार से योग्य- होना आवश्यक था। प्रयाग प्रशस्ति के चतुर्थ श्लोक से ज्ञात होता है, कि चन्द्र गुप्त प्रथम का पुत्र समुद्र गुप्त प्रतिभा सम्पन्न एवं होनहार युवक था। उसकी विलक्षण योग्यताओं से प्रभावित होकर ही चन्द्र गुप्त ने उसे अपना उत्तराधिकारी मनोनीत किया था। इस श्लोक से ऐसा प्रतीत होता है, कि राजपद के प्रत्याशी अनके राजकुमार रहे होंगे। किसी समय सम्राट के मंत्री, उच्च कर्मचारी एवं राज पुत्र आदि राज सभा में एकत्र थे। इस अवसर का रोचक एवं सजीव वर्णन प्रशस्ति में किया गया है।[5]

---

1. *महाजन वी०डी०, प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० 524.*
2. *वही,*
3. *दण्डी, दशकुमार चरित, अष्टम अच्छ्वास*
4. *कालिदास, अभिज्ञान शाकुंतलम्, अंक 5.*
5. *''आर्य्यो हीत्युपगुह्य भाव-पिशुनैरुत्कर्ण्णितेः रोमभिः*
   सभ्ये षूच्छ्वशितेषु तुल्य-कुजल-क्लानाननोद्धीक्षितः!
   स्नेहत्या ललितेन वाष्य-गुरूणा तत्वेक्षिणा चक्षुषा
   यः पित्राभिहितो निरीक्ष्य निखिलां पाहयेवमुर्वीमिति।।
   प्रयागका स्तंभ लेख, - चतुर्थ श्लोक

मंत्रि परिषद-

अमात्य या सचिव कहलाने वाले मंत्रिगण राजा की स्वेच्छारी प्रवृत्तियों पर नियंत्रण रखते होंगे। निकाय के रुप में हमें उनके विषय में कोई जानकारी नहीं मिलती। अभिलेखीय साक्ष्यों से भी उनके कार्यो के विषय में अधिक जानकारी नहीं प्राप्त होती है। 'कामंदक नीति-सार (आठवीं ई०) में मंत्रि मंडल शब्द का उल्लेख प्राप्त होता है। अन्य कालों के विपरीत इस काल में एक ही व्यक्ति कई पदों (महादंडनायक, कुमारा मात्य, और संधिविग्रहिक) पर आसीन होते थे, जिससे वो काफी शक्तिशाली बन जाते थे। इसके अतिरिक्त कई पीढ़ियों तक एक ही परिवार के व्यक्ति वंशानुगत रुप से पद पर नियुक्त रहते थे।[1] निश्चय रुप से ऐसे परिवारों ने राजनैतिक रुप से सक्रिय योगदान दिया होगा। इस काल में हमें कई ऐसे पद नाम प्राप्त होते है, जिनका पूरवर्ती काल में नही मिलता है। जिसका विस्तृत वर्णन हम यहाँ कर रहे है।

गुप्त शासकों की नौकरशाही में मंत्री उच्चतर अंग थे। संधिविग्रहिक और कुमारामात्य को उच्च श्रेणी के अधिकारियों में महत्वपूर्ण-स्थान प्राप्त था। 'संधिविग्रहिक' का सर्वप्रथम उल्लेख महाभारत से प्राप्त होता हे, जिसमें वह कई गुणों से युक्त दिखाया गया है।[2] समुद्र गुप्त के शासन काल में प्रथम बार अभिलेखीय साक्ष्यों के रुप में प्रयाग प्रशस्ति से संधि विग्रहिक का उल्लेख प्राप्त होता है। संधि विग्रहिक राजा का पर-राष्ट्र सचिव एवं मंत्रिमंडल के सबसे महत्वपूर्ण सदस्यों में था। संधि (मैत्री) एवं युद्ध (विग्रह) के विषयों पर राजा उसी से परामर्श प्राप्त करता था। संधिविग्रहिक राजा के सबसे विश्वसनीय व्यक्तियों में से एक होता था। समुद्र गुप्त के समय में इस पद पर हरिषेण, व चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समय इस पद पर वीरसेन नियुक्त था।

संधिविग्रहिक को सैन्य संचालन भी करना पड़ता था। प्रयाग प्रशस्ति के अनुसार हरिषेण समुद्र गुप्त का महादण्ड नायक (सेनापति) भी था।[3] विष्णु धर्मोत्तर के अनुसार संधिविग्रहिक को धनुर्विधा

---

1. *शर्मा रामशरण, ऐसपेक्ट्स आफ पोलिटिकल आईडियाज एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स इन एन्शियन्ट इंडिया, पृ0245*
2. *महा0, शांतिपर्व, 85.30 धर्मशास्त्रार्थतत्वज्ञः सांधिविग्रहिको भवेत्।*
   मातिमान् धृतिमान् ह्रीमान् रहस्यविनिगूहितो।।
3. *राय उदय नारायण, गुप्त सम्राट और उनका काल, पृ0 94-95.*

में प्रवीण, हस्तिशिक्षा, अश्वशिक्षा में कुशल, क्लेश सहन की क्षमता रखने वाला, व्यूह- रचना में पारंगत, सेनापतित्व में पारंगत, स्वस्थ शरीर वाला, प्रियवादी एवं नम्र स्वभाव का होना चाहिए।[1]

संधिविग्रहिक का दूसरा कार्य लेखक का था। वह शब्दों के संगठन एवं विश्लेषण में प्रवीण होता था। हरिषेण रचित प्रयाग प्रशस्ति में प्राप्त लंबे समस्त पद, जिनकी अनेक व्याख्याएँ लगाई जा सकती है, संधि विग्रहिक की लेखन क्षमता के ज्वलंत प्रतीक हैं। 'इस रूप में उसे विभिन्न प्रकार की लिपियों का ज्ञाता होना पड़ता था। वह वाक्य रचना में प्रवीण तथा विविध अर्थो से युक्त पदनिर्माण में समर्थ था। गूढ़ से गूढ तथ्य को वह थोड़े शब्दों में भी व्यक्त कर देता था। वह सुलेख में-भी पारंगत हुआ करता था।[2] संधिविग्रहिक को लेखक भी कहा गया है। वह राजा की आज्ञा द्वारा उसके शासन को निबद्ध करता था।[3] याज्ञवल्क्य ने भी संधिविग्रहिक का उल्लेख किया है। याज्ञवल्क्य के अनुसार संधिविग्रहिक प्रंबध-रचना में पारंगत हुआ करता था। उसे शिलापट्ट अथवा ताम्रपट्ट पर जो राजकीय मुद्रा से अंकित हो, राजा की आज्ञानुसार उसके पूर्वजों का परिचय, उसकी अपनी कृतियों का निरुपण एवं दान आदि का वर्णन निवद्ध कर उत्कीर्ण करना होता था।[4]

---

1. *विष्णुधर्मेस्तर, 2.24.8-10. कुलीनाः शीलसंपन्नाः धनुर्वेदविशारदाः।*

   हस्ति शिक्षाश्वशिक्षासु कुशलाश्श्लक्ष्ण भाषितैः।।

   निमित्ते शकुनज्ञाने वित्तवैद्यकचिकित्सके। पुरूषान्तर विज्ञाने षाड्गुण्येन विनिश्चिताः।।

   कृतज्ञाः कर्मणां शूरास्तथा क्लेशसहाः ऋजुः। व्यूहतत्वविधानज्ञः फल्गुसार विशेषवित्।।

   राज्ञां सेनापतिः कार्यो ब्राह्मणः क्षत्रियोऽथवा। प्रांशुः सुरूपो दक्षश्च प्रियवादी न चोद्धतः।।

2. *विष्णुधर्मोत्तर, 2.24.26-28 "*

   सर्वदेशाक्षराभिज्ञाः सर्वशास्त्र विशारदाः। लेखका कथिता राम सर्वाधिकरणेषु वै।।

   शीर्षोपेतान्सुसंपूर्णान्समद्रोणीगतान्समान्। अक्षरन्विलिखेद्यस्तु लेखकः सवरः स्मृतः।।

   उपायवाक्य कुशलः सर्वशास्त्र विशारदः। बह्वर्थवक्ता चाल्पेन लेखकः स्याद्ः भृगूत्तमः।।

   उपायवाक्य कुशलः सर्वशास्त्र विशारदः। बह्वर्थक्ता चाल्पेन लेखकःस्याद् भृगूत्तम।।"

3. *राय उदय नारायण, गुप्त सम्राट और उनका काल, पृ0 95.*

4. *याज्ञवल्क्य, 1.319-20*

   "पटे वा ताम्रपट्टे वा स्वमुद्रोपचिन्हितम्। अभिलेखयात्मनों वंश्यानात्मानं च महीपतिः।।

   परिग्रहपरिमाणं दानच्छे दोप वर्णनम्। स्वहस्त काल सम्पन्न शासनं कारयेत्स्थिरः।।

संधि विग्रहिक का पद गुप्त काल में विशेष रुप से प्रचलित किया गया। बाद के राजवंशों ने भी इसे अपनी शासन व्यवस्था में वैसा स्थान दिया, जैसा गुप्त शासकों ने दिया था। गुप्त काल में इस पद पर आसीन होने वाले व्यक्ति से यह अपेक्षा की जाने लगी थी, कि वह उच्च कोटि का कवि एवं गद्यकार हो। इन सभी बातों से ऐसा प्रतीत होता है, कि इस काल में संधिविग्रहिक का पद सर्वश्रेष्ठ था। इस पद पर सबसे योगय एवं विश्वस्त व्यक्ति की ही नियुक्ति की जाती होगी। यद्यपि संधि विग्रहिक का उल्लेख पूरवर्ती ग्रन्थ से मिलता है, परन्तु इस काल में इसे जितना महत्व प्राप्त हुआ, उतना अन्य कालों में नहीं।

गुप्त शासकों के आधीन 'कुमारामात्यों'[1] का एक विशिष्ट संवर्ग था, और राज्य के उच्च पदाधिकारी मुख्यतः इसी संवर्ग में से नियुक्त किए जाते थे। जिस प्रकार गुप्त राजाओं के आधीन कुमारामात्यों का संवर्ग था, उसी प्रकार अशोक के शासन में महामात्रों और सातवाहनों के अधीन अमात्यों का महत्वपूर्ण काडर था। किसी भी गुप्तकालीन साहित्यिक ग्रन्थों में कुमारामत्य पद पर कोई प्रकार नहीं पड़ता है। मगध और तीर भुक्तियों के मुरत्यालयों में इस पद का- अनेक बार उल्लेख प्राप्त होता है।[2] इसी प्रकार उन कुमारामात्यों का उल्लेख भी मिलता है, जो सम्राट[3] या युवराज[4] से संबद्ध होते थे। करमदण्डा की शिवलिंग प्रशस्ति में चन्द्रगुप्त का कुमारामात्य एवं मंत्री शिरवरस्वामी को कहा गया है।[5] इस अभिलेख में उसके पुत्र पृथ्वीषेण का नाम आता है, जो कुमार गुप्त प्रथम का कुमारामात्य एवं मंत्री था।[6] कुमारामात्य के रुप में उल्लखित ये अधिकारी जहाँ विषयाधियों के रुप में सामने आते

---

1. *सरकार सिलेक्टइन्स्क्रिप्शन्स करमदण्डा का लेख पृ० 282.*
2. *आ०स०ई० रि०, 109 (1903-04) यह शब्द-समुच्चय 'तीर कुमारामात्याधिकरणस्य' है। भुक्ति शब्द का उल्लेख नहीं हुंआ है।*
3. *वही, (1903-4) पृ० 108,*
4. *वही, (1903-04) पृ० 107-08*
5. *सरकार, सिलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स, करमदण्डा का लेख, पृ० 282. ''महाराजधिराज श्री चन्द्रगुप्तस्य मंत्री कुमारामात्यशिखर स्वाम्यभूत''*
6. *वही, पृ० 283, तस्यपुत्रों पृथिवीषेणों महाराजाधिराज-श्री कुमार गुप्तस्य मंत्री कुमारामात्यों''।*

हैं, वहीं उन्हें हम महादण्डनायकों,[1] संधिविग्रहिकों,[2] और यहाँ तक कि महाराजों[3] के रुप में भी देखते है। उदय नारायण राय के अनुसार गुप्त काल में कुमारामात्य सम्माननीय उपाधि थी, जो योग्यता, सतनिष्ठा, वाले कर्मचारियों को उनकी महत्वपूर्ण सेवाओं के उपलक्ष में दी जाती थीं।[4] गुप्त साम्राज्य के समाप्ति काल में महाराज-नंदन[5] जैसे कुछ कुमारामात्यों ने स्वतंत्रता प्राप्त कर अपने नाम पर भू-शासन पत्र निर्गत किए।

गुप्त काल में 'खाद्यटपाकिक' नाम का भी एक पद होता था। विस्णुधर्मोत्तर के 'सूदाध्यक्ष' से खाद्यटपाकिक की तुलना की जा सकती है। सूदाध्यक्ष पाकशास्त्र में प्रवीण (सूदशास्त्रविधानज्ञः) एवं बहुश्रुत व्यक्ति था।[6]

'महादण्डनायक' पद के संदर्भ में राय महोदय का कथन है, कि (महादण्डनायक) सेनापति गरुड़ध्वज को धारण कर युद्ध के काल में सेना का सैन्य निर्देशन करता होगा। इस रूप में वह महादण्डनायक कहलाता था।[7] गुप्तकाल में सेना के तीन प्रधान अंग होते थे, जो पदति, अश्वारोही तथा हस्ति कहलाते थे। महाश्वपति, अश्वपति महापीलुपति, पीलुपति आदि अनेक सेनानायक महादण्ड नायकों के आधीन सैन्य संचालन करते थे।[8] कुछ विद्वान महादण्डनायक को सर्वोच्च न्यायधीश भी मानते थें।[9]

---

1. *सै0इं0, 3 सं02, पंक्ति 32.*
2. *वही,*
3. *ज0ए0सो0बं0 न्यू सिरीज (1909), 164.*
4. *राय उदय नारायण, गुप्त सम्राट और उनका काल, पृ0 167.*
5. *ए0ई0, 10, पृ0 49.*
6. *विष्णुधर्मोत्तर, खण्ड 2.24, 23-24.*
   "सूदशास्त्रविधानज्ञः सूदाध्यक्षः प्रशस्यते। सूदशास्त्रविधानज्ञाः पराभेद्याः कुलोद्गताः।।
   सर्वे महानसे कार्य नीचकेशनरवा जनाः। समः शत्रो च मित्रे च धर्मशास्त्रविशारदाः।।
7. *राय उदय नारायण, गुप्त सम्राट और उनका काल, पृ0 167.*
8. *विद्यालंकार सत्यकेतु, प्राचीन भारत, पृ0 407.*
9. *ओझा श्री कृष्ण, प्राचीन भारत, पृ0 237.*

इसके अतिरिक्त भी अन्य अनेक अधिकारियों के नाम प्राप्त होते हैं जिनका उल्लेख पूर्वकाल में नहीं मिलता जिनमें रणभण्डाधिकृत,[1] दण्डपाशाधिकृत,[2] विनय स्थिति स्थापक[3] महाप्रतीहार,[4] आदि का उल्लेख प्राप्त होता है। सेना के लिए सभी प्रकार की सामग्री को एकत्र करने का कार्य रणभण्डाधिकृत से सबंधित था।[5] पुलिस विभाग का सर्वोच्च अधिकारी दण्डपाशिक कहलाता था। इसके कार्यालय को 'दण्डपाशाधिकरण' के नाम से जाना जाता था।[6] मौर्यकाल में जिस कार्य को करने की जिम्मेदारी धर्म महामात्रों पर थी, वही कार्य गुप्त काल में विनय स्थिति स्थापक करते थे। शांति व्यवस्था को बनाए रखना, देश में धर्म की स्थापना करना, प्रजा को चरित्रवान बनाना तथा अनेक सम्प्रदायों के मध्य सामंजस्य स्थापित करना विनय स्थिति स्थापक का कार्य था।[7] महाप्रतीहार प्रधान दौवारिक होता था।[8] कोष विभाग का प्रधान भांडागाराधिकृत के नाम से जाना जाता था।[9]

अधिकारियों की नियुक्ति करते समय इस बात का विशेष ध्यान रखा जाता था कि वे किस वंश के है। मौर्यकाल में कौटिल्य का कथन था, कि अमात्य और सैनिक वंशानुगत होने चाहिए किंतु मौर्यकाल से ~~में~~ इस बात का कोई वास्तविक उदाहरण मिलता बहुत कठिन है। परंतु गुप्तकालीन अभिलेखों से प्रकट होता है, कि गुप्त सम्राट के साथ रहकर उसकी सेवा करने वाले मंत्री और सचिव के पद वंशानुगत थे।[10] यही बात मध्यभारत[11] में अमात्य पद के साथ लागू थी। मध्य भारत में प्राप्त एक उदाहरण में हमें एक ही परिवार से लिए गए पदाधिकारियों की पाँच पीढ़िया देखने को मिलती

---

1. *रायउदय नारायण, गुप्त सम्राट और उनका काल, पृ0 239*
2. *वही*
3. *वही*
4. *मुकर्जी राधा कुमुद, गुप्त एम्पायर, पृ0 48-49.*
5. *राय उदय नारायण, गुप्त सम्राट और उनका काल पृ0 239*
6. *वही*
7. *विद्यालंकार सत्यकेतु, प्राचीन भारत, पृ0 407.*
8. *मुकर्जी राधा कुमुद, गुप्त एम्पायर, पृ0 48-49.*
9. *विद्यालंकार, प्राचीन भारत, पृ0 407,*
10. *का0इं0इं0, 3, सं06, पं0 3-4*
11. *का0 इं0इं0, 3, संख्या 22,पं0 28-30.*

है। इनमें पहला अमात्य, दूसरा अमात्य और भोगिक, तीसरा भोगिक तथा चौथा और पॉचवा महासंधिविग्रहिक था।[4] उसी क्षेत्र से हमें भोगिकों की दो-दो[5] और कभी तीन-तीन[6] पीढ़ियों के उदाहरण प्राप्त होते है।

गुप्तकाल में कर्मचारियों को वेतन देने का स्वरूप क्या था, इस विषय में कोई निश्चित जानकारी प्राप्त नहीं होती है। स्वर्ण मुद्राओं की बहुतायत संख्या में प्राप्ति, तथा हिरण्य नामक कर के प्रचलन से यह अनुमान लगाया जा सकता है, कि कम से कम उच्च्व पदाधिकारियों को नगद रूप में वेतन दिया जाता होगा। भुगतान के सबंध में चीनी साहित्य से स्पष्ट जानकारी प्राप्त नहीं होती है। लेगे ने फाहियान के एक अवतरण का अनुवाद प्रस्तुत किया है, जिससे यह जानकारी प्राप्त होती है, कि राजा के सभी अंगरक्षकों और परिचारकों को नियमित रूप से वेतन प्रदान किया जाता था।[7] परन्तु बील ने दूसरे प्रकार से इसका अनुवाद किया है :- राजा के सभी प्रमुख अधिकारियों के लिए कुछ राजस्व छोड़ दिए गए है।[8] कुछ ही समय पूर्व एक चीनी विद्वान व्यक्ति ने इस महत्वपूर्ण अवतरण का अनुवाद इस प्रकार किया है : "राजा के सभी परिचारकों, रक्षकों और परिचरों को परिलब्धियाँ और पेंशन दी जाती थी।[9] यदि हम अंतिम अनुवाद को स्वीकार करें तो परिलब्धियाँ शब्द के अर्थ की व्यापकता को देखते हुए ऐसा मान सकते हैं, कि उसमें राजस्व अनुदान भी शामिल रहा होगा। इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है, कि नौकरशाही को नगद और राजस्व दोनों रूपों में भुगतान किया जाता था।

---

4. *का०इं०इं०, 3, सं० 3, सं० 22, पं० 28-30; सं० 23, पं० 18-20*

5. *वही, संख्या 27 पक्तियां 21-22,*

6. *वही संख्या 26, पं० 22-23.*

7. *लेग जेम्स. 'ए रेकार्ड आफ बुद्धिस्टिक किंगडम्स, अनु० पृ० 45.*

8. *बील सैमुएल, ट्रैवेल्स आफ फहियान ऐंड सुंङ.युन,पृ० 45.*

9. *हो चांग चुन, फहियान्स पिलग्रीमेज टु बुद्धिस्ट कंट्रीज, चाइनीज लिटरेचर सं० 3,पृ० 154*

उच्चाधिकारियों की इन श्रेणियों के अलावा अभिलेखों में दर्जन से ऊपर अन्य छोटे बड़े अधिकारियों का भी उल्लेख हुआ है, जिन पर हम गुप्त शासन पद्धति के सैनिक राजस्विक और ग्रामीण पहलुओं की चर्चा के संदर्भ में विचार करेंगे। यद्यपि गुप्त कर्मचारी वर्ग कौटिल्य अर्थशास्त्र में वर्णित कर्मचारी वर्ग के समान विशाल नहीं था, परन्तु वह नगण्य या शक्तिहीन भी नहीं था। अधिकारियों के वंशानुगत स्वरूप और नगद भुगतान के चलने के ह्रास से यह संकेत मिलता है कि निहित स्वार्थो का विकास करने दृष्टि से गुप्त साम्राज्य की नौकर शाही की अपेक्षा कहीं अधिक अनुकूल स्थिति में थी।

प्रांत एवं जिला प्रशासन -:

शासन की सुविधा के निमित्त साम्राज्य का विभाजन 'प्रांतो' में किया जाता था। जिसे 'देश' या 'भुक्ति' कहा जाता था।[1] शासक को उपरिक[2] गोप्ता[3] भोगिक और राजस्थानीय[4] आदि कई नामों से जाना जाता था। देश के कई भागों में ऐसी कम से कम छः भुक्तियाँ थी। राजकुमारों को ही इस पद पर नियुक्त कर दिया जाता था। इन्हे युवराज-कुमारामात्य नाम से जाना जाता था।[5] उपरिक के पद की सही स्थिति अब तक ज्ञात नहीं हो पाई है। संभवतः इसका कुछ सबंध किसानों पर निश्चित वार्षिक कर के ऊपर से लगाए गए उपरिकर नामक अतिरिक्त कर की वसूली से था। यह अधिकारी निःसंदेह गुप्त राजा द्वारा नियुक्त क्षेत्रीय शासक था। लेकिन भुक्ति शब्द से ऐसा प्रतीत होता है कि यह क्षेत्र उसे इसलिए नहीं दिया जाता था कि वह इसके हितों को ध्यान में रखकर इस पर शासन करे, बल्कि इस लिए प्रदान किया जाता था कि वह इनका उपभोग कर। दुख की बात है कि हमें भुक्ति के प्रधान के कार्यो के विषय में कोई निश्चित जानकारी नहीं है। जिस प्रकार गुप्तकाल में प्रान्त को

---

1. *शर्मा आर०एस० ऐसपेक्ट्स ऑफ पोलिटिकल आई डियाज एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स इन एन्शियन्ट इंडिया, पृ० 250.*
2. *आ०स०इं०रि०, 1903-4, पृ० 109.*
3. *जूनागढ़ लेख, ''सर्त्वेषु देशेषु विधाय गोप्तृन''*
4. *महाजन बी०डी०, प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० 530*
5. *विद्यालंकार सत्यकेतु, प्राचीन भारत, पृ० 408.*

भुक्ति नाम से जाना जाता था, उसी मौर्यकाल में उसे चक्र तथा परवर्ती मौर्यकाल में उसे राष्ट्र या देश नाम से सम्बोधित किया जाता था।

प्रांतपति स्वयं अपने सहायकों की नियुक्ति करता था एवं राज्यपालों (प्रांतपतियों) की नियुक्ति सम्राट करता था।[1] इन कर्मचारियों में बलाधिकरणिक (सैनिक कोष का अधिकारी) महादंडनायक (सर्वोच्च न्यायधीश) विनयस्थिति स्थापक (विधि एवं व्यवस्था मंत्री) भटारवपति (पैदल और घुड़सवार सेना का अधिकारी) महापीलुपति (हाथी सेना का अधिकारी) साधनिक (ऋण और जुर्माने का कार्य संभालने वाला) आदि अत्यंत महत्वपूर्ण कर्मचारी होते थे।[2] मल्लासरूल ताम्रपत्र अभिलेख में अन्य कई अधिकारी वर्गो का उल्लेख मिलता है। जिनमें कर्तृकृतिक भोगपतिक, हिरण्य समुद्रिक (मुद्रा अधिकारी) तदयुक्तक (कोषधिकारी), औद्रंगिक (उंद्रग कर का संग्रहकर्ता) और्ण स्थानिक (रेशम के कारखानों का पयेवेक्षक) अग्रहारिक, चौरोद्धरणिक (पुलिस मुख्य निरीक्षक) थे।[3] अभिलेखों से इस बात की जानकारी प्राप्त होती कि गुप्त शासन काल में ही सर्वप्रथम सुव्यवस्थित प्रांतीय और स्थानीय प्रशासन का विकास हुआ। प्रान्तीय प्रशासकों का प्रमुख कार्य राजस्व की प्राप्ति तथा शांति की स्थापना करना था।[4]

प्रांतपतियो के विशेषाधिकार :-

गुप्तवंशीय अभिलेखों के साक्ष्य से प्रमाणित हो जाता है कि राजकुमारों के अतिरिक्त विश्वस्त एवं सुयोग्य कर्मचारी भी प्रांतपति के पद पर नियुक्त किये जाते थे। उनके साम्राज्य का पश्चिमी सीमांत प्रांत सुराष्ट्र (गुजरात एवं काढियावाड़) था। स्कंदगुप्त कालीन जूनागढ़ लेख से स्पष्ट है कि पर्णदत्त नामक पदाधिकारी इस प्रांत के राज्यपाल के पद पर नियुक्त किया गया था।[5] पूर्वी सरहदी प्रांत पुण्ड्रवर्धन-भुक्ति (उत्तरी बंगाल) में चिरातदत्त नामक कर्मचारी नियुक्त किया गया था।[6] साम्राज्य के

---

1. *विद्यालंकार सत्यकेतु. प्राचीन भारत, पृ0 408.*
2. *ओझा श्री कृष्ण, प्राचीन भारत, पृ0 408.*
3. *वही.*
4. *शर्मा, आर0एस0 ए0पो0आ0इ0ए0इ0 पृ0 250.*
5. *सरकार, से0इं0,पृ0 302. ''यः सन्नियुक्तोऽर्थनया कथांचित सम्यक्सुराष्ट्रावनि-पालेनाय''*
6. *सरकार, वही, पृ0 284. पुण्ड्रवर्द्धन-भुक्तादुपरिक चिरातदत्त''*

मध्यवर्ती भागों में स्थित प्रांतो में भी कर्मचारियों की नियुक्ति प्रांतपति के रूप में की गई थी। उदाहरणार्थ, स्कंदगुप्त कालीन इन्दौर के लेख के अनुसार शर्त्वनाग नामक कर्मचारी अन्तर्वेदी (गंगा एवं यमुना के दोआब) में शासन करता था।[1] इस अन्तर्वेदी में स्थित प्रांत में हरिद्वार से लेकर प्रयाग तक का क्षेत्र सम्मलित था। बुधगुप्तकालीन एरण के लेख (गु०सं० 165) के अनुसार सुरिश्मचन्द्र कालिंदी (यमुना) एवं नर्मदा नदियों की अन्तर्वेदी (दोआब) में शासन करता था।[2]

ये राज्यपाल उपनरेशों की भाँति अपने-अपने क्षेत्रों में ढाट-बाट के वातावरण में राज्य करते थे उन्हें विभिन्न उपाधियां धारण करने के अधिकार प्राप्त थे। उन उपाधियों का उल्लेख हम पहले कर चुके है। उन्हें प्रांतीय कर्मचारियों की नियुक्ति का पूर्ण अधिकार प्राप्त था। जूनागढ़ के उक्त अभिलेख के अनुसार स्वयं पर्णदत्त ने अपने पुत्र चक्रपालित सुराष्ट्र प्रांत के अधिष्ठान (राजधानी) नगराधीश नियुक्त किया था।[3] दामोदरपुर के लेखों के (गु०सं०124 एवं 128) के अनुसार पुण्ड्रवर्धन प्रांत के राज्यपाल चिरातदत्त ने कोटि वर्ष नामक जिले का विषयपति (जिलाधीश) वेत्रवर्मा नामक कर्मचारी को बनाया था। इन लेखों में प्रांतीय कर्मचारियों को 'तन्नियुक्त' अर्थात राज्यपाल के द्वारा नियुक्त किया गया हुआ कहा गया है। दामोदरपुर से दो अन्य महत्वपूर्ण अभिलेख प्राप्त हुए है। प्रथम लेख गुप्त संवत 163 का है जिसके अनुसार चिरातदत्त के उपरांत बह्मदत्त नामक कर्मचारी पुण्ड्रवर्धन-भुक्ति का राज्यपाल नियुक्त किया गया था।[4] द्वितीय लेख के अनुसार (जो कि बुधगुप्त के काल का है और जिसमें किसी तिथि का उल्लेख नहीं हैं) बह्मदत्त के पश्चात् जयदत्त उक्त प्रांत का राज्यपाल बनाया गया।[5] इससे स्पष्ट है कि बंगाल में कोई दत्त परिवार था जिस के सदस्य परम्परागत आधार पर उत्तरी बंगाल (पुण्ड्रवर्धन-भुक्ति) के राज्यपाल क्रमशः नियुक्त किए गए थे।

---

1. *सरकार, वही, पृष्ठ 310 ''शर्त्वनागस्यान्तर्व्वेद्याम्''*
2. *सरकार, वही, पृष्ठ 324 ''कालिंदी-नर्म्मदयोर्म्मध्यां पालयति लोकपाल-मुणैर्ज्जगति महाराज-श्रियमनु भवति सुरश्मिचन्द्रे च।''*
3. *सरकार, वहीं, पृष्ठ 304 ''इत्येवमेतानधिकतोऽन्या-न्गुणान्परीक्ष्य स्वयमेव पित्रा यः संनियुक्तो नगरस्य रक्षां विशिष्य पूर्वान्प्रचकार सम्यक्।।''*
4. *सरकार वही, पृ० 324 ''पुण्ड्रवर्द्धनभुक्तावुपरिक-महाराज ब्रहमदत्ते संख्यवहरित''*
5. *सरकार, वही, पृ० 328 ''पुण्ड वर्द्धन भुक्तावुपरिक-महाराज जयदत्त''*

भुक्ति 'विषयो' या जिलो में विभक्त होती थी। विषयों की संख्या कितनी थी इसकी हमें पर्याप्त जानकारी नहीं है। मगधभुक्ति में तीन विषय राजगृह पाटलिपुत्र, गया आते थे।[1] विषय का अधिकारी 'विषयपति' कहलाता था एवं उसकी नियुक्ति (प्रांतपति) द्वारा होती थी।[2] विषय के प्रधान नगर को अधिष्ठान कहा जाता था।[3] यदि हम समुद्रगुप्त के जाली नालंदा अनुदान पत्र के भौगोलिक ब्यौरे में देखे, तो हमें यह ज्ञात होगा कि मगधभुक्ति में क्रिमिला विषय भी सम्मलित था।[4] तिरभुक्ति का वैशाली एक अत्यंत महत्वपूर्ण नगर था। यह भी संभव है, कि यह एक विषय का मुख्यालय भी रहा हो, परन्तु विषय के रूप इसका उल्लेख मात्र एक मुहर में हुआ है।[5] इस बात का स्पष्ट प्रमाण नहीं है कि उस मुहर को सही ढंग से पढ़ा गया है कि नहीं। पुण्ड्रवर्धन-भुक्ति में कोटिवर्ष पर कुमारामात्य प्रशासनिक इकाई के रूप में जाना जाता था। प्रारंभिक दिनों में में कोटि वर्ष विषय शासन करता था परन्तु बाद में विषयपति को इस विषय के प्रधान के रूप में नियुक्त किया गया।[6] कोटि वर्ष विषय का विषयपति किस प्रकार संचालन करता था, इसकी कुछ जानकारी हमें प्राप्त होती है। वह अपना शासन संचालन हस्तिसैनिकों अश्वरोहियों तथा पैदल सैनिकों से युक्त सेना द्वारा चलाता था। संभवतः उस सेना का रख-रखाव उस विषयसे अर्जित राजस्व से होता था।[7] बंगाल और बिहार के क्षेत्र में ज्यादातर विषयपति ही विषय के प्रधान के रूप में में कार्य संचालन करता था, तथा उस के लिए एक स्थानीय अधिकरण होता था, जो शासन संचालन में उसकी सहायता करते थे।[8]

---

1. *वही, पृ0 251*
2. *ओझा श्री कृष्ण, प्राचीन भारत, पृ0 239.*
3. *वही*
4. *ए0ई0, 25, सं0 9, पंक्ति 5.*
5. *आ0स0 रि0इं0 1903-04, पृ0 110*
6. *शर्मा आर0एस0ए0पो0आ0इ0ए0इ0,पृ0 251*
7. *आर0एस0शर्मा, इंडियन फ्यूडेलिज्म, पृ0 18.*
8. *शर्मा, आर0एस0ए0पो0आ0इ0ए0इं0 पृ0 251.*

विषयपति की सहायता (कार्य में परामर्श) के लिए एक सभा होती थी, जिसके सदस्यों को विषय महत्तर के नाम से जाना जाता था। ऐसा प्रतीत होता है, कि सदस्यों की संख्या तीस के लगभग थी।[1] नगर श्रेष्ठिन, सार्थवाह, प्रथम कुलीक और प्रथम कायस्थ नामक चार प्रतिनिधि इस विषय की सभा में अवश्य रहते थे। ये चारों क्रमशः नगर के व्यापारियों की श्रेणी के सभी व्यापारियों, शिल्पियों और लेखकों के प्रतिनिधि होते थे।[2] इन लोगों के अतिरिक्त भी विषय में निवास करने वाले अन्य व्यक्ति भी इस सभा में महत्तर के रूप में उपस्थित होते थे।[3] ऐसा प्रतीत होता है, कि इन महत्तरों को चुनाव प्रक्रिया द्वारा नहीं चुना जाता था, बल्कि विभिन्न कार्यो के लिए इनकी नियुक्ति विषयपति द्वारा होती थी।[4] विषय के शासन में जनता की भागीदारी से यह लाभ अवश्य हुआ कि विषयपति को यह भली-भाँति जानकारी रहती थी, कि उसके क्षेत्र की जनता क्या सोचती थी। विषय का प्रधान नगर अधिष्ठान नाम से जाना जाता था।[5]

विषयपति की सहायता के लिए अन्य व्यक्ति भी होते थे, जिनमें- ग्रामिक (मुखिया), शौल्किक (चुंगी संग्रहकर्ता), गौल्मिक (जंगलो व किलों के अधिकारी), अष्टकुलधिकरणिक, ध्रुवाधिकरणिक, भण्डागारधिकृत ,रालवटक (लेखपाल या मुनीम) पुस्तपाल, महाक्षपटलिक आदि थे।[6] विषय के प्रलेखागार को अक्षपटल के नाम से संबाधित किया जाता था तथा यह महाक्षपटलिक के नियंत्रण में था। इस विभाग में कई लिपिक कार्यरत रहते थे, जिनके विभिन्न कार्य होते थे।[7] लिपिकों को लेखक

---

1. *विद्यालंकार सत्यकेतु, प्राचीन भारत, पृ0 409.*
2. *सरकार, से0इं0 ''नगर श्रष्ठि धृतिपाल-सार्थवाहबंधुमित्र-प्रथम कुलिक धृतिमित्र-प्रथम कायस्थशास्बपाल पुरोगे संत्यवहरति।'' 409*
3. *विद्यालंकार सत्यकेतु. प्रा0भा0 पृ0 409.*
4. *वही*
5. *ओझा श्रीकृष्ण, प्राचीन भारत, पृ0 239.*
6. *वही*
7. *महाजन वी0डी0, प्राचीन भारत, का इतिहास पृ0 239.*

व दिविर के नाम से जाना जाता था।[1] प्रलेख अधिकारी को करणिक और मसौदा तैयार करने वाले को शासयिता कहा जाता था।[2] इसके अतिरिक्त सामान्य अधीक्षक जो कि सर्वाध्यक्ष नाम से भी जाना जाता था, वह भी विषय के शासन में अपना सहयोग प्रदान करता था। सर्वाध्यक्षों के आधीन कुलपुत्र कार्यरत रहते थे, उनका कार्य दुराचार की रोक थाम करना था।[3]

विषयपतियों को गुप्तकाल में बहुत महत्व था। विषय में शांति व्यवस्था और सुरक्षा बनाये रखनें का उत्तरदायित्व उन्हीं पर था। राजकीय करों के संग्रहण के लिए विषयपतियों के अधीन युक्त, आयुक्त, नियुक्त आदि अनेक अधिकारी होते थे।[4]

वीथि एवं ग्राम -:

विषय का विभाजन 'वीथियों' (नगरो) में किया गया था।गुप्त साम्रज्य में बंगाल में पड़ने वाले हिस्सों में वीथि (नगर) की व्यवस्था पुरापाल नामक अधिकारी के आधीन थी।[5] बिहार प्रांत में आने वाली एक नदंवीथि[6] की भी जानकारी हमें प्राप्त होती है। नगर का शासन राज्य की ओर से नियुक्त पदाधिकारियों तथा स्थानीय सभा, समितियों, एवं समुदायों द्वारा सम्पन्न होता था। जहाँ तक उत्तर भारत का संबंध है, मुहरों और अभिलेखों को देखने से प्रकट होता है, कि गुप्तकाल व्यापारियों और शिल्पियों के संघों के चरमोत्कर्ष का युग था। वैशाली, भीटा, मंदसौर, इंदौर नगरों में ऐसे संघ खूब क्रियाशील थे। इससे स्पष्ट होता है, कि नगर प्रशासन में यह अपनी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाहन करते थे।

---

1. *वही*
2. *वही*
3. *वही पृ0 251.*
4. *विद्यालंकार सत्यकेतु, प्राचीन भारत, पृ0 409.*
5. *शर्मा आर0एस0, ऐसपेक्ट्स आफ पोलिटिकल आईडियाज एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स इन एन्शियन्ट-इंडिया, पृ0 255.*
6. *ए0इ0, 25, सं09, सं05*

बिहार प्रांत में स्थित एक महत्वपूर्ण नगर के प्रशासन की कुछ जानकारी हमें उपलब्ध होती है। वहाँ कुलिकों (शिल्पियों) और श्रेष्ठियों (व्यापारियों) के संघ विद्यमान थे। परन्तु वहाँ से प्राप्त मुहरों में बड़ी संख्या में ऐसी मुहरें है जो श्रेष्ठियों सार्थवाहों और शिल्पियों के निगम की है।[1] इस निगम की तुलना आधुनिक व्यापार संघ से की गई है।[2] परन्तु इसमें शिल्पियों (कुलिकों) के सम्मलित किए जाने से प्रकट होता है कि वह इससे कुछ भिन्न और विस्तृत संगठन था जो आर्थिक प्रवृत्तियों के साथ-साथ नगर प्रशासन में भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता था। हमें इस विषय में उचित जानकारी नही प्राप्त होती है, कि निगम का गठन किस प्रकार किया जाता था। ऐसा प्रतीत होता है, कि हर पेशे के प्रमुख लोग निगम के सदस्य थे, और उनकी नियुक्ति या तो वंशानुगत आधार पर या चुनाव प्रक्रिया द्वारा होती थी। प्राप्त उपाधियों से प्रकट होता है, कि निगम में अनेक जातियों के लोग लिए जाते थे।[3] एक विधिग्रन्थ से यह जानकारी प्राप्त होती है, कि निगम के नियम स्वयं द्वारा तैयार किये जाते थे। इन नियमों को समय[4] कहा जाता था। राजा का कर्तव्य होता था कि वह विभिन्न बस्तियों में निगम का पालन करवाये।[5] निगम जिन साहूकारों, व्यापारियों, और शिल्पियों का प्रतिनिधित्व करता था उनके लिए वह संभवतः ऐसे कार्य भी करता रहा जो आज नगरपालिकाएं करती हैं। ऐसा प्रतीत होता है, कि वैशाली का निगम काफी हद तक स्वायत्तता का उपभोग करता था।

बंगाल के उत्तरी भाग के सबंध में एक अभिलेख से इस बात को स्पष्ट संकेत मिता है कि उस क्षेत्र के नगरों के उचित प्रबंध में शिल्पियों और व्यापारियों के प्रतिनिधियों का योगदान मिलता था। इन अभिलेखों के अनुसार कोटिवर्ष विषय के मुख्यालय के मामले की व्यवस्था का दायित्व केवल

---

1. *आ०स०इं०रि०, 1903-4, पृ० 110.*
2. *वही, पृष्ठ 104.*
3. *शर्मा आर०एस०, ऐसपेक्ट्स ऑफ पोलिटिकल आईडियाज एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स इन एन्शियन्ट इंडिया, पृ० 255.*
4. *नारद स्मृति, 10-1*
5. *वही, 10-2.*

विषय अधिपति पर ही नहीं बल्कि स्थानीय सौदागरों और व्यापारियों पर भी था और प्रयोजन के लिए संभवतः इन्हें उपरिक की मान्यता प्राप्त थी।[1] ऋभुपाल, वसुमित्र,वरदत्त और विप्रपाल [2] ये सब कम से कम चार वर्ष तक विषय समिति के सदस्य रहे। ये चारों नगरश्रेष्ठि, सार्थवाह, प्रथम कुलिक एवं प्रथम कायस्थ के पदों पर सुशोभित थे। एक अन्य पदाधिकारी आयुक्त की भी हमें जानकारी मिलती है।[3] इससे यह स्पष्ट संकेत मिलता है, कि स्थानीय प्रशासन में व्यापार और औद्योगिक लोगों का अच्छा सहयोग प्राप्त होता था।

गुप्तकाल में जिस नगर अधिकारी को हमपुर पाल के नाम से संबाधित करते हैं, उसी अधिकारी को अशोक (मौर्यशासक) के काल में नागरक तथा मनुस्मृति में नगरसर्वार्थचितक[4] के नाम से जाना जाता था। जूनागढ़ अभिलेख के अनुसार चक्रपालित सौराष्ट्र प्रांत के गिरिनगर का एक प्रमुख अधिकारी था। जूनागढ़ लेख के अनुसार उसका प्रधान कर्तव्य नगर की रक्षा तथा[5] दुष्टों का अंत करना था।[6] उसका यह भी कार्य था कि वह पुरवासियों के साथ स्नहेपूर्ण व्यवहार करे। फ्लीट महोदय के अनुसार गिरिनगर का यह प्रधान अधिकारी यहाँ की जनता को अपने पुत्र के समान समझता था, तथा उनके कष्टों को दूर करने का हर संभव प्रयत्न करता था[7] सार्वजनिक कार्यो को पूर्ण करवाना भी इसी अधिकारी के कार्यो में सम्मलित था। इस पद पर योग्य व्यक्तियों को ही आसीन किया जाता

---

1. *से०इं०, 3,सं036, पं0 1-4.*
2. *वही, पंक्तियाँ, 3-4.*
3. *शर्मा आर0एस0 ऐसपेक्ट्स ऑफ पोलिटिकल आईडियाज एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स इन एन्शियन्टइंडिया पृ0 256.*
4. *मनुस्मृति. 7. 241 नगरे नगरे चैंक कुर्यात्सविधि चिन्तकम्''*
5. *फ्लीट, का0इं0इं0 3,पृ0 59 यः सन्नियुक्तो नगरस्य रक्षाम्'*
6. *वही. ''अस्मिन्पुरे चैव शशास दुष्टाः''*
7. *वही, ''यो लालयामास च पोरवर्गान स्वस्येव पुत्रान्सुपरीक्ष्य दोषान्।।*

था। जूनागढ़ लेख में इनके गुणों के विषय में बताया गया है।[1] नगर शासन के लिए एक सभा होती थी जिसे प्राचीन ग्रन्थों में पौर के नाम से सम्बोधित किया गया है। रामायण,[2] खारवेल के लेख,[3] तथा दिव्यावदान[4] एवं कतिपय अन्य ग्रन्थों में पौर शब्द का उल्लेख प्राप्त होता है। इनमें जिस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किया है, उससे पुर सभा का बोध होता है। बृहस्पति के अनुसार यह नगर में 'शांतिक कर्म' अर्थात शांति की व्यवस्था करती थी। इसके अतिरिक्त 'पौष्टिक कर्म' अर्थात नागरिकों के हित में कार्य करना इसका कर्तव्य समझा जाता था।[5] नगर सभा के अन्य सार्वजनिक कार्यो में सभागृह, सरोवर, मंदिर एवं विश्रामशाला का निर्माण तथा अनाथ एवं दरिद्रों की सहायता उल्लेखनीय है।[6] नगर सभा की बैठक उसके एक कार्यालय में होती थी। प्रयाग के सन्निकट भीटा नामक स्थान में इस प्रकार के कार्यालय के भगनाशेष उपलब्ध हुए है।[7] नालंदा से एक मुद्रा उपलब्ध हुई है, जिस पर 'पुरिका' शब्द उत्कीर्ण मिलता है।[8] इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है, कि नगर-सभा की एक मुद्रा भी होती थी, जिससे इस सभा के विशिष्ट लेख मुद्रित किये जाते थे।

वीथि का विभाजन 'ग्राम' में हुआ था। प्रशासन का सबसे छोटी इकाई ग्राम ही थी। ग्राम के कार्य व्यवस्था करना 'ग्रामिक' 'महत्तर' या 'महत्तम' कहे जाने वाले व्यक्तियों पर होता था।[9] मध्य

---

1. *वही, "स एव कात्स्र्येन गुणान्वितानाम्"; वही, पृष्ठ 29.*
2. *रामायण, अयोध्याकांड, सर्ग 111. श्लोक 19.*
3. *ए0इं0 20.71.*
4. *दिव्यावदान, पृ0 410.*
5. *वृहस्पति स्मृति, 6.32.*
6. *वृहस्पति, वीरमीत्रोदय, पृ0 425 "सभाप्रयादेवतकाराम- संस्कृतिः।*
   तथा नाथ द्ररिद्राणां संस्कारों यजन क्रिया"।।
7. *मेक्रिण्डिल, मेगस्थनीज एण्ड एशियन, खण्ड 26.*
8. *वही.*
9. *शर्मा आर0एस0ऐसपेक्ट्स ऑफ पोलिटिकल आईडियाज एण्ड इन्स्टीट्यूशन इन एन्शियन्ट इंडिया, पृ0 252.*

देश में ग्रामिक का पद वंशानुगत प्रतीत होता है, क्यो कि एक ग्रामिक के पिता और पितामह दोनों का उल्लेख प्राप्त होता है।[1] अभिलेखों में बंगाल [2] और मध्य देश के ग्रामिक[3] का उल्लेख मिलता है।

उत्तरी बिहार में ग्राम प्रधान के लिए महत्तर शब्द सबसे अधिक प्रचलित था। इनके पद का इतना अधिक महत्व था, कि वे स्वयं की मुहरें रखते थे।[4]

महत्तरों के सबंध में कई महत्वपूर्ण जानकारियाँ बंगाल में प्राप्त भमि अनुदानापत्रों से मिलती है। बैग्राम ताम्रपत्र में इन्हें संव्यवहारि प्रमुखान[5] रूप में संबोधित किया गया है। परन्तु सामान्यतया इनके लिए महत्तर शब्द ही प्रयोग किया गया है। बंगाल के उत्तरी भाग में इनका इतना अधिक महत्व था, कि इनकी अनुमति बिना धार्मिक प्रयोजनों से भी भूमि बेची नहीं जा सकती थी। स्वयं कुछ महत्तरों द्वारा धार्मिक प्रयोजन से स्वयं की भूमि बेचे जाने का उल्लेख प्राप्त होता है। मल्लसारूल ताम्रपत्र में कुछ महत्तरों तथा कई ग्रामों की दूसरी ऐसी ही महत्वपूर्ण व्यक्तियों के नामों का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। तीन महत्तर अग्रहारियों में से प्रत्येक एक-एक ग्राम से सबंधित है,[6] जिससे ऐसा प्रतीत होता है, कि महत्तर अग्रहार अनुदान के रूप में प्राप्त ग्राम का प्रमुख होता था। परन्तु दो ग्रामों में से प्रत्येक के ऐसे दो-दो महत्तरों के नाम दिए गए हैं।[7] इससे ऐसा प्रतीत होता है, कि प्रत्येक ग्राम की व्यवस्था करने का उत्तरदायित्व दो पदाधिकारियों पर होता था, जो आपसी सहयोग से कार्य संचालन करते थे। दत्त या स्वामी शब्द इन आग्रहारियों के नामों के अंत में जुड़ा हुआ है[8] जिससे ऐसा लगता है कि इनमें

---

1. का0इं0इं0, 3. संख्या 24, पंक्तियां 4-6.
2. से0इं0,3, संख्या 34 पंक्ति 3.
3. का0इं0,3, संख्या 24, पंक्तियाँ 4-6.
4. शर्मा आर0एस0ऐसपेक्ट्स ऑफ पोलिटिकल आईडियाज एण्ड इन्टीट्यूशन्स इन एशियन्ट इंडिया, पृ0 252.
5. से0इं0, 3, सं0 41, पं0 2.
6. से0इं0, सं0 46, पं0 5-6.
7. वही, पं0, 6-7.
8. वही, पं0, 5-7.

से कुछ आग्रहारिक ब्राहम्ण वर्ग से तथा कुछ कायस्थ वर्ग के थे, जिन्हें पुरस्कार स्वरूप राजा ने कुछ राजस्व मुक्त ग्राम दिए थे। इनके अतिरिक्त एक ऐसा व्यक्ति जो आग्रहारी नहीं था, उस महत्तर को भी महत्तर को भी ग्राम प्रधान बताया गया है।[1]

मल्लसारूल ताम्रपत्र में तीन खड्गधारियों का भी उल्लेख किया गया है, जिनमें से प्रत्येक एक ग्राम से सबंधित है।[2] इससे ऐसा प्रतीत होता है, कि इन्हें किसी सैनिक सेवा के पुरस्कार स्वरूप ग्राम प्राप्त हुए थे, जिन पर इनका अधिकार था।

अंत में हमें हरि नामक वाहन नायक का उल्लेख प्राप्त होता है। ये लोग भी एक ग्राम के प्रतिनिधि है।[3] संभवतः हरि किसी ऐसे ग्राम का प्रधान था, जो शासक को माल ढ़ोने वाले श्रमिकों की सेवा सुलभ कराता था। ऐसा प्रतीत होता है, कि बंगाल में महत्तर जिला स्तर और ग्राम स्तर पर निगमित 'संस्थाओं, के रूप में संगठित थे। दोनों स्तरों पर इस संस्था का नाम 'अष्टकुलाधिकरण[4] था, अर्थात आढ परिवारों का निगमित संगठन।

ग्राम प्रशासन का बढ़ता हुआ दायरा गुप्त प्रशासन का एक महत्वपूर्ण पहलू है। इस नई प्रवृत्ति का कारण यह था, कि राज्य ने न तो इतने अधिक कर लगाए कि उसकी आय से अधिकारियों का एक बड़ा संगठन कायम रखा जा सकता और न उसके पास इतनी ताम्रमुद्राएं थी कि वह छोटे-छोटे अधिकारियों को सुविधापूर्वक वेतन दे सकता। स्वभावतः किसी समय केंद्रीय सरकार द्वारा संपादित किए जाने वाले बहुत से कार्यो का दायित्व ग्राम प्रशासन पर आ गया जिस पर किसी एकताबद्ध और समत्ववादी समुदाय का सामूहिक नियंत्रण नहीं था, बल्कि जिसमें भू-स्वामियों तथा अन्य प्रभावशाली लोगों को बोल-बाला था।

---

1. *वही, पं०,-5*
2. *वही, पं० 7.*
3. *से०इ०,पं० 7-8.*
4. *वही, सं० 34, पं० 2-3*

स्थानीय समितियाँ :-

यहाँ पर उल्लेखनीय है, कि पारस्परिक विवादों का निर्णय बहुधा स्थानीय समितियों एवं समुदायों द्वारा किया जाता था। इनमें तीन विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं :- (1) श्रेणी (2) पूग (3) कुल। इन तीनों समितियों को अपने-2 क्षेत्रों में निर्णय देनें का अधिकार राज्य की ओर से प्राप्त था।[1] इन समितियों के प्रधान निर्णय देने का कार्य करते थे।[2] व्यावसायिक समिति को श्रेणी- कहा जाता था तथा इस समिति के कुछ संस्कार थे जिन्हें स्मृतियों में श्रेणी धर्म कहा गया है। यह समिाति श्रेणी धर्म के अनुसार अपने सदस्यों के झगड़े कानिप टारा करती थी। संभवतः एक ही परिवार के सदस्यों के समूह को कुल कहते थे। इन विभिन्न धर्मो को राज्य की ओर से मान्यता प्राप्त थी।[3] इन्हीं के अनुसार ये समिातियाँ अपने सदस्यों के झगड़ों में निर्णय देती थीं। यदि कुल, जाति तथा श्रेणी के सदस्य अपने धर्म का पालन नहीं करते थे, तो राज्य उन्हें दण्डित करता था।[4]

न्याय व्यवस्था :-

नगरों में न्याय शासन का कार्य प्रधानतः राजकीय न्यायालयों द्वारा संपादित होता था। मृच्छकटिक में नगर के न्यायालय को अधिकरण मण्डप तथा न्यायधीश को अधिकरणिक कहा गया है।[1] अशोक कालीन धौली के शिलालेख में नगर न्यायधीश को 'नगल वियोहालक' (नगर-व्यव हारक) कहा गया है।[2] इसकी तुलना अर्थशास्त्र के ''पौर-व्यावहारिक'' से की जा सकती है।[3]

---

1. *याज्ञवल्क्य, 2.30. ''नृपेणाधिकृताः पूगाः श्रेणयोऽथ कुलनि च।''*
2. *वृहस्पति स्मृति (गायकवाड़-प्रकाशन), पं० 185, पं० 16. ''कुल श्रेणगणाध्यक्षाः प्रोक्ता निर्णयकारकाः।''*
3. *मनु 8.41. जाति जानपदान्धर्माश्रेणीधर्माश्च धर्मवित्।*
   समीक्ष्य कुलधर्माश्य स्वधर्म प्रतिपादयेत्।।
4. *याज्ञवल्क्य, 1. 360 कुलानि जातीः श्रेणीश्च गणाञ्जानपदानपि।*
   स्वधर्माच्चलितान्राजा विनीय स्थापयेत्पथि।।
5. *मृच्छकटिक, अंक 9*
6. *सरकार सेलेक्ट इंस्क्रिरशंस, पृ० 41.*
7. *रायचौधरी, पोलिटिकल हिस्ट्री आफ एन्शियन्ट इंडिया, पृ० 317.*

विधिग्रन्थों में एक के ऊपर एक कई श्रेणियों के स्थानीय न्यायालयों की व्यवस्था की गई है। याज्ञवल्क्य ने स्थानीय न्यायालयों के तीन स्तरों का उल्लेख किया है- कुल, श्रेणि तथा पुग।[1] इनकी स्थापना तो राजा द्वारा नहीं की जानी थी, परंतु वह इन्हें मान्यता अवश्य प्रदान करता था। वृहस्पति का कथन है, कि कुल के निर्णय के विरुद्ध श्रेणि में और श्रेणि के फैसले के विरुद्ध पुग में-अपील की जाए।[2] कात्यायन पुग के स्थान पर गण का उल्लेख करते है, और इसी चढ़ते हुऐ क्रम में दो और न्यायालयों को स्थान देते हैं, जिनमें से एक तो है कोई प्रधिकृत व्यक्ति और दूसरा स्वयं राजा।[3]

नगर न्यायधीश के पद पर योग्य व्यक्ति की नियुक्ति की जाती थी। मृच्छकटिक में अधिकरणिक (नगर न्यायधीश) की योग्यता के विषय में कहा गया है कि उसे शास्त्रज्ञ, छल कपट को जाननें में कुशल, वाग्मी, क्रोधरहित, शत्रु और मित्र दोनों के लिए समान, चरित्र देखकर उत्तर देने वाला दुर्बलों का रक्षक, धूर्तो के लिए दण्ड का दाता, धार्मिक, निर्लोभी, वास्तविक रहस्य का प्रकाशक, दूसरे के हद्रय को जान ने में कुशल, तथा राजा के क्रोध का निवारक होना- चाहिए।[4]

मृच्छकटिक में न्यायालयों की कार्यपद्धति का बहुत अच्छा वर्णन प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ से विदित होता है कि व्यवहार-मंडप के मुरव्य द्वारा के सामने एक दौवारिक नियुक्त रहता था। दण्ड नायक की आज्ञा पानें पर वह घोषणा करता था, कि कौंन-2 से लोग कार्यर्थी अर्थात मुकदमा दायर करना चाहते हैं।[5] इस घोषणा के पश्चात वादी (अर्थिन्) न्यायालय में अपना वक्तव्य देता था।

---

1. *याज्ञवल्क्य स्मृति व्य030 नृपणाधिकृताः पूगाः श्रेणयोऽथ कुलानि च।*
   पूर्वपूर्व ज्ञेय व्यवहार विधोनृणाम।
2. *वृहस्पति0, 1,28-30.*
3. *श्लोक 82.*
4. *मृच्छकटिक, अंक 9. शास्त्रज्ञः कपटानुसार कुशलों वक्ता न च क्रोधन स्तुल्यों मित्रपरस्वकेषु चरितं दृष्टैव दत्तोत्तरः।क्लीवान पार्लायता शठान् त्यथयिता धर्म्यो न लोभान्वितों द्धार्भावे परतत्ववद्धहदयो राज्ञंश्च कोपापहः।।*
5. *मृच्छकटिक, अंक 9*

न्यायालय से सूचना मिलने पर प्रति वादी (प्रत्यर्थिन्) निश्चित तिथि पर उपस्थित रहता था। प्रतिवादी के उत्तर के पूर्व वादी को अपने कथन में परिवर्तन करने का पूर्ण अधिकार दिया जाता था। परंतु प्रतिवादी के उत्तर के पश्चात उसे इसके लिए अनुमति नहीं मिलती थी।[1]

न्यायालयों में प्रमाण भी लिया जाता था। बिना प्रमाण का निर्णय उचित नहीं माना जाता था।[2] इसके लिए गवाही भी ली जाती थी। सभी प्रकार के मनुष्यों की गवाही ठीक नहीं मानी जाती थी, केवल, तपस्वी, दानशील, कुलीन सत्यवादी, ऋजु, पुत्रवान, धर्म प्रधान तथा धनिक व्यक्तियों का प्रमाण ठीक माना जाता था।[3] स्त्री, बालक वृद्ध, पाखंडी, उन्मत्त तथा लूले एवं लँगड़े प्रमाण के अयोग्य समझे जाते थे। गवाह से सत्य बोलने की आशा की जाती थी। मेगस्थनीज न लिखा है, कि प्रमाण देने वाला व्यक्ति यदि झूठे बयान में पकड़ा जाता था, तो उसे अंगच्छेद की सजा दी जाती थी।[4] लोगों का विश्वास था, कि गवाही में सत्य बोलने वाला व्यक्ति मरने पर श्रेष्ठ लोकों को प्राप्त करता है[5] और इस लोक में उत्तम कीर्ति प्राप्त करता है। बह्मादि देवता भी सत्य वाणी से उसका सत्कार करते थे।[6]

न्यायालयों में शपथग्रहण की भी प्रथा प्रचलित थी। ब्राह्मण को सत्य, क्षत्रिय को वाहन या आयुध, वैश्य को गऊ, बीज एवं सुवर्ण तथा शूद्र को सब पापों की शपथ लेनी पड़ती थी।[7] झूंठी शपथ ग्रहण करने वाला निंदा तथा धिक्कार का भाजन बनता था। मृच्छकटिक में अधिकरणिक झूंठा शपथ

---

1. *नारद 2.7.*
2. *वही 1.14.*
3. *याज्ञवल्क्य, 2.68.*
4. *याज्ञवल्क्य, 2.69.*
5. *मेक्रिण्डिल, मेगस्थनीज, खण्ड, 27.*
6. *मनुस्मृति, 8.81.सत्यं साक्ष्ये ब्रनसाक्षी लोकानाटनोति पुस्तकान्। इहचानुत्तमां कीर्ति वागेषा ब्रह्मपूजिता।।81.*
7. *मनुस्मृति 8.13 सत्येन शापयेद्विप्रम क्षत्रियं वाहनायुधैः। गोवीजकाञ्चनैर्वैश्यं शूद्रं सर्वैस्तु पातकै''।*

लेने वाले को फटकारता है कि अरे नीच। तू वेदों की शपथ ले रहा है, तब भी तेरी जीभ नहीं करती? तू मध्यान्ह में सूर्य को देख रहा है, तो भी तेरी दृष्टि विचलित नहीं हुई? प्रदीप्त अग्नि में तूँ हाथ दे रहा है, परंतु तेरा हाथ दग्ध नहीं हुआ? तू निर्दोष चारूदत्त को चरित्रभ्रस्ट बता रहा, तब भी तेरे शरीर का पृथ्वी हरण नहीं कर रही है?[1]

मृच्छकटिक में चार प्रकार की दिव्य परीक्षाओं का उल्लेख मिलता है (1) विष परीक्षा (2) जल परीक्षा (3) तुला परीक्षा (4) अग्नि परीक्षा। मृच्छकटिक में चारुदत्त इन चारों दिव्य परीक्षाओं के प्रयोग के लिए प्रस्तुत दिखाया गया है।[2] मुन ने मात्र दो परीक्षाओं का विधान किया है,[3] परंतु याज्ञवल्क्य[4] तथा नारद ने पाँच[5] और वृहस्पति ने नौ परीक्षाओं का सुझाव दिया है।[6]

दण्ड विधान कैसा था, इस विषय में फाहयान का कथन है, कि "दण्ड विधान अव्यंत ढीला था। प्राण दण्ड सा अन्य शारीरिक दण्ड नहीं दिया जाता था। अपराधियों पर उनके अपराध के अनुसार भारी या हल्का जुर्माना लिया जाता था। बार-2 विद्रोह करने पर उसका दाहिना हाथ काट लिया जाता था, परंतु उसे मृत्युदंड नहीं दिया जाता था।[7] चीनी यात्री के इस विवरण से स्पष्ट होता है, कि उस समय भारत वर्ष का दंड विधान बहुत ही साधारण था। परंतु मृच्छकटिक से ऐसा प्रतीत होता है, कि

---

1. *मृच्छकटिक 9. 21* *"वेदार्थान् प्राकृतस्त्वं वर्दास, न च ते जिव्हा निपतिता*
   मध्यान्हे वीक्षयेऽर्क, न तव सहसा दृष्टिर्विचलिता।
   दीत्ताग्नौ पाणिमन्तः क्षिपसि, स च ते दग्धो भवति
   नो चारित्रयाच्चारूदत्तं चलयसि, न ते देंह हरित भूः।।"
2. *मृच्छकटिक, अंक 9. "विषसलिल तुलग्निप्रर्थित में विचारे"*
3. *मनु.8.114. अग्निं वाहारयेदनमत्सु चैनं निमज्जयेत्।*
   पुत्रदारस्य वाप्येंन शिरांसि स्पर्शयेत्पृथक्।। 114.
4. *याज्ञवल्क्य स्मृति 2.95,*
5. *नारद स्मृति. 1.252.*
6. *बृहस्पति स्मृति, 10.4,*
7. *लेग्गे, फाहियान, पृ0 42-43.*

दण्ड विधान क़ठोर थे, इसीलिए- अपराधी न्यायालयों में जाने से डरते थे 'चारूदत्त उज्जैयनी की कचहरी (अधिकरण) को देख कर घबड़ा उठता है। अनायास ही उसके मुँख से निकल पड़ता है- अरे, यह कचहरी तो मुझे काटने को दौड़ रही ऐसा प्रतीत होता है जैसे मेरे सामने कोई भयानक सागर हो, जिसमें हिंसक जीव भरे पड़े है। इधर-उधर जो जासूस दौड़ रहे है, वे नाग और घड़ियाल जैसे भयानक जीवों के समान लग रहे हैं। हाथी, घोड़े, पालकी और शिकरम-गाड़ियाँ मुझे जीव जतुंओं के समान लगती हैं। सामने बैठे हुए मुहर्रिर हिंसा की भावना में फन ऊपर निकाले हुए- विषधर साँप की तरह लग रहे हैं। न्यायाधीश के परामर्शदाता तथा दूत लोग कुछ कम भयंकर नहीं लगते। ओहा ! मैं कहाँ फँस गया।[1]

गुप्तकाल में प्राचीन भारत के कानून और न्याय व्यवस्था के इतिहास में एक नए युग का सूत्रपात हुआ। इस काल में प्रचुर प्रमाण में विधि साहित्य का प्रणयन हुआ। इस साहित्य से विधि प्रणाली की स्पष्ट प्रगाति का बोध होता है। सब से पहले इसी काल के स्मृति लेखको को हम कानून की दी शाखाओं-सिविल विधान और दण्ड विधान, के बीच विभाजन रेखा खींचते देखते हैं। वृहस्पति ने कानून को अलग-2 अठारह शीर्षकों में बांटा है और बताया है, कि इनमें से चौदह का धर्म मूल में, चार का हिंसा मूल में निहत है।[2] पहले की तुलना कौटिल्य के धर्म स्थनीय विभाग से और दूसरे की कंटक शोधन विभाग से की जा सकती है। परंतु जहाँ कौटिल्य में दंड विधान का प्रशासन महत्व पूर्ण जान पड़ता है, वृहस्पति में सिविल विधान का गुप्तकाल में भूमि पर निजी स्वामित्व का विकास हुआ[3] और अब उसकी खरीद बिक्री भी होने लगी। इसीलिए इस काल के विधि ग्रन्थों में हमें जमीन के बंटवारे, बिक्री, बंधक और पट्टे के सबंध में विस्तृत कानून देखने को मिलते हैं।

---

1. *मृच्छकटिक, 9.14*
2. *वृहस्पति. 2.5.*
3. *शर्मा. रा०श०, इंडियन फ्यूडेलिज्म, पृ० 145-52*

कर व्यवस्था :-

गुप्त कालीन कर व्यवस्था उतनी विस्तृत और संगठित रूप में नही थी, जितनी मौर्य कालीन कर व्यवस्था थी। गुप्त अभिलेखों में उतने करों का उल्लेख नहीं प्राप्त होता जितना उल्लेख कौटिल्य के अर्थशास्त्र से होता है। इस काल में करों की संख्या कम प्राप्त होने से ऐसा संकेत मिलता है कि गुप्तकाल में कर भार कम हो गया था। राजकीय आय के प्रधान साधान कर थे। सम्बन्धित अभिलेखों के अध्ययन से राज्य के राजस्व साधनों का पता चलता है। उद्रंग या भाग कर को भूमिकर भी कहते थे।[1] कालिदास द्वारा राजा को 'षष्ढाँशवृत्ति' कहना इस बात का- संकेत करता है कि भूमि की उपज का हठा भाग कर के रूप में वसूल किया जाता था।[2] 'अर्थशास्त्र' में अनुशंसित आपात करों का गुप्त काल में कोई चिन्ह नहीं मिलता। यद्यपि कराधान के वे सिद्धांत जो राजा को उत्पादक के पास जीवन- यापन के लिए पयप्ति पैदावार छोड़ देने का आदेश देते हैं ईस्वी सन की प्रारभिक सदियों की देन थे, और संभव है, कि इस काल के शासकों की राजस्विक नीति पर उनका प्रभाव पड़ा हो। गुप्तों का मौर्यो के समान विशाल कर्मचारिबृंद नहीं था, इसीलिए इन्हें मौर्यो के समान उतने करों की आवश्यकता नहीं थी।

गुप्तकाल में विभिन्न प्रकार के कर प्रचलित थे। भूमिकर का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। लेखों में 'भूतप्रत्याय' नाम के एक कर का उल्लेख मिलता है। लेखकों के अनुसार यह कर स्थान पर उत्पन्न होने वाली वस्तु पर लगाया जाता था। ऐसा प्रतीत होता है, कि यह कर मादक वस्तुओं पर लगाया जाता रहा होगा।[3] नगर में आयायित वस्तुओं पर चुंगी नामक कर लगाया जाता था। चुंगी (शुल्क) राजभाग के रूप में ग्रहण किया जाता था।[4] शुल्क (चुंगी) ग्रहण करने वाले अधिकारी को 'शुल्काध्यक्ष' कहते थे। नगर में प्रवेश करने वाले द्वार पर ही इस अधिकारी का कार्यालय स्थित होता

---

1. *राय उदय नारायण, गुप्त सम्राट और उनका काल, पृ0 377.*
2. *अभिज्ञान शाकुन्तलम्. 4 ''षस्टांशवृत्तेरयि धर्म एषः''*
3. *मजूमदार र0च0, अल्टेकर अनंत सदाशिव, द वाकाटक-गुप्त एज, पृ0 268.*
4. *शुक्रनीति, 4.2. 108. ''राजभागः शुल्क मुदाह्नतम्''*

था। एक ऊँची पताका शुल्काध्यक्ष के कार्यालय के ऊपर फहराती रहती थी। यह अधिकारी व्यापारियों से सभी प्रकार की उचित जानकारी लेने के बाद ही यह निर्णय करता था, कि व्यापारी को नगर में प्रवेश करने दिया जाय अन्यथा नहीं। अगर कोई व्यापारी अनुचित प्रकार से नगर में प्रवेश कर लेता था, तो उसे उचित कर का कई गुना दण्ड के रूप में प्रदान करना पड़ता था। नगर के बाजारों में भी राजपुरुष व्यापारियों से कर ग्रहण करने के लिए घूमते रहते थे।[1] मृच्छकटिक में इस विषय पर कहा गया है, कि नगरों में दुकानों के चारों ओर शुल्क लेने वाले राजकीय कर्मचारी, भौंरे के समान जो वृक्ष तथा फूलों के चारों ओर मंडराते है, उसी प्रकार घूमते रहते है।[2] नगर की बाजारों में प्रयुक्त होने वाले माप और तौल का अच्छी प्रकार निरीक्षण करके उन पर सरकारी मुहर लगायी जाती थी, इस रूप में उन्हें प्रमाणित किया जाता था। इसके लिए वैश्यों को कर प्रदान करना पड़ता था, तथा यह कर 'प्रातिवेधनिक' नाम से जाना जाता था।[3] अर्थशास्त्र में विक्रय-कर लगाने का उल्लेख मिलता है इसके अनुसार तुला पर तौल कर बेची जानें वाली वस्तुका बीसवॉ भाग कर के रूप में तथा जो वस्तुएँ गिनकर बेंची जायें, उनका ग्यारहवाँ भाग कर के रूप में लिया जाय।[4] ऐसा भी हो सकता है, कि यह प्रथा गुप्त शासन काल में भी विद्यमान रही हो उद्योग कर करीगरों से लिया जाता था, इसीलिए इसें 'कारूकर' (कारीगरों से प्राप्त कर) कहा गया है।[5] यह दो रूपों में लिया जाता था- विष्टि और द्रव्य। विष्टि छोटे कारीगरों से ली जाती थी, जैसे कुम्हार, बढ़ई और लोहार। स्मृतियों में उल्लखित है, कि राजा छोटे कारीगरों से महीने में एक बार सार्वजनिक कार्यो के लिए विष्टि ले सकता था।[6] परन्तु बड़े कारीगरों से कर द्रव्य के रूप में लिया जाता था। इसमें सुनार, जुलाहे तथा शराब बनाने वाले आते थे। कौटिल्य के अनुसार शराब बनाने वाले पॉच प्रतिशत कर देते थे।[7]

---

1. *ओझा श्रीकृष्ण प्राचीन भारत, पृ0 240.*
2. *मृच्छकटिक.7.1. ''वणिजा इव भान्ति तरवः पव्यानी स्थितानि कुसुमानि।*
   शुल्कभिव साध्यन्ते मधुकर पुरूषाः प्रविचरन्ति।।
3. *ओझा श्री कृष्णा, प्राचीन भारत, पृ0 240.*
4. *विष्णु स्मृति, अध्याय 3. पृ012.*
5. *ओझा श्रीकृष्ण, प्राचीन भारत, पृ0 240*
6. *मनुस्मृति 7. 138 'कारूकाञ्छिल्पिश्चैव शूद्रांश्चात्मोपजीविनः।*
   एकैकं कारयेतकर्म मासि मासि महीपतिः।।
7. *अर्थशास्त्र, प्रकरण 42. ''अराजपण्याः पञ्चंक शतं शुल्कं दद्युः।*

गुप्त काल में प्राप्त होने वाले कुछ अन्य करो का उल्लेख ओझा महोदय ने अपनी पुस्तक में किया है जिसमें वट, भूत, धान्य, हिरण्य, अदेय, वैष्टिक (बेगार), दशापराध, भाग, भोग आदि प्रमुख हैं।[1] कुछ ग्रामों को कर के भार से मुक्त कर दिया जाता था। इस ग्राम को सेना या पुलिस द्वारा परेशान नहीं किया जाता था, इसे अपने पशु, फल, ईधन, नमक, क्रय या विक्रय आदि पदार्थो पर कर नहीं देने पड़ेगे। एक अन्य अभिलेख में भी राजा द्वारा मुक्ति प्राप्ति का उल्लेख मिलता है।[2]

गुप्तकाल में लोग जिंसो,[3] व हिरण्य[4] के रूप में कर प्रदान करते थे जिंसों को नापा-या तौला जा सकता था, फिर भी इनका कोई निश्चित प्रमाण कही नहीं बताया गया है। हिरण्य (सोने के पर्यायवाची) का इस संदर्भ में क्या अर्थ था, यह हम नही कर सकते। सम्पन्न कृषक संभवतः नगद रूप में ही कर अदा करते थे, क्योंकि इस काल में बहुत बड़ी संख्या में स्वर्ण मुद्राएँ प्राप्त हुई है और भूमि क्रय में इन स्वर्ण मुद्राओं का प्रयोग होता ही था। नगद कर लेने वाले अधिकारी को हिरण्य सामुदायिक[5] कहा गया है, जिसका उल्लेख बंगाल से प्राप्त छठी शताब्दी के पूर्वाध के एक अभिलेख में हुआ है। इस अधिकारी का उल्लेख जिंसों में कर ग्रहण करने वाले अधिकारी औदरंगिक के साथ हुआ, इसलिए स्पष्ट ही उसका काम नगद कर वसूल करना रहा होगा। कारीगरों को भी कुछ कर देने पड़ते थे,[6] और व्यापारियों से उनके माल पर सीमा-शुल्क लिए जाते थे, जिनका आरोपण और संग्रह सीमा-शुल्क अधिकारी करता था।[7]

---

1. ओझा, श्री कृष्ण, प्राचीन भारत, पृ0 241.
2. ओझा श्री कृष्ण प्राचीन भारत, पृ0 241.
3. का0इं0इं0, 3, संख्या 60, पं0 12,
4. ए0इं0, 23, संख्या 8, पं03.
5. से0इं0, 3, सं0 46, पं04.
6. रामउदय नारायण, गुप्त सम्राट और उनका काल, पृ0 378 मनु 7. 138. कारूकाञ्छिल्पि नश्चैव शूद्रांश्चात्मोपजीवनः। कारयेतकर्म मासि मासि महीपतिः11 138
7. ए0इं0 23 संख्या 12, पं0 29.

भूमि के क्रय-विक्रय से सबंधित जिला या विषय स्तर के अधिकारियों की भी कुछ जानकारी हमें प्राप्त होती है। एक अधिकारी को पुस्तपाल कहा जाता था।[1] यह जमीन की बिक्री का लेखा करता था। ग्रामाक्ष पटलाधिकृत[2] या गाँव का लेखपाल गाँव की भूमि का आलेख रखता था। स्कंदगुप्त के बिहार अनुदान पत्र में जिन अधिकारियों को संबोधित किया गया है उनमें एक है, पादितारिक,[3] जिसका स्पष्ट अर्थ हमें ज्ञात नहीं है। लेकिन उसी में उल्लखित गोल्मिक[4] कोई छोटा सैनिक अधिकारी था, जिसका आधीन सैनिकों की एक छोटी टुकड़ी रहती थी। किसानों या असामाजिक तत्वों द्वारा किसी प्रकार का उपद्रव किए जाने पर संभवतः वह संबंधित क्षेत्र के सिविल अधिकारी की सहायता करता था।

सैन्य व्यवस्था :-

गुप्त युग में अनेक महान शासक हुअे, तथा उन्होनें कई मंहत्वपूर्ण सैन्य अभियान भी संपादित किये। परंतु इन अभियानों के बावजूद भी गुप्तों की सैन्य व्यवस्था के विषय में हमें महत्वपूर्ण जानकारी नही प्राप्त होती है। इस काल के प्राप्त सिक्कों तथा अभिलेखों से हम मात्र सेना की रचना के सबंध में थोड़ा बहुत अनुमान लगा सकते हैं। यद्यपि कुछ गुप्त शासकों को अद्वितीय रथी कहा गया है, उनके सिक्कों पर घुड़सवारों की आकृतियाँ ही मिलती हैं जिनमें सेना में अश्व-धनुर्विधा और अश्वारोहियों का महत्व प्रकट होता है अश्वारोही सेना का बढ़ता हुआ महत्व मुद्राओं और अभिलेखों से प्रकट होता है। इनमें अश्वपति,[5] महाश्वपति[6] उल्लेख मिलता है। इन शब्दों से पता चलता है, कि ये अश्वारोही सेना के नायक रहे होंगे। गजसेना के प्रधान अध्यक्ष को महापीलुपति के नाम से संबोधित किया जाता था[7] इनके नीचे के उपाध्यक्षों को पीलुपति कहते थे।[8] सेना के अन्य अंगो के सेनापतियों के क्या पदनाम थे, इसकी जानकारी अभी तक अभिलेखों से नही मिली है।

---

1. *ए0इं0 23, सं08 पं08,*
2. *का0इं0इं0, 3, सं0 60, पं0 15.*
3. *वही सं0 12 पं0 28.*
4. *वही, पं0 29.*
5. *राय उदय नारायण, गुप्त सम्राट और उनका काल, पृ0 372.*
6. *वही.*
7. *ओझा श्री कृष्ण, प्राचीन भारत, पृ0 236 समुद्र गुप्त नालंदा फलक प्लेट.*
8. *राय उदय नारायण गुप्त सम्राट और उनका काल, पृ0 373.*

हमें कुछ महत्वपूर्ण नगरों में स्थायी रूप से सेना रखे जाने के सबंध में थोड़ी जानकारी प्राप्त होती है। वैशाली से प्राप्त एक मुहर पर श्रीरणभांडागाराधिकरण[5] शब्द अंकित है, जिससे सिद्ध होता है, कि वहॉ कोई भंडार रहा होगा, जो वहॉ रखे गये सैनिकों के लिए आवश्यक रहा होगा हमें एक ऐसे युद्ध अधिकरण की जानकारी भी प्राप्त होती है, जिसका सबंध युवराज से था।[6] इसके अतिरिक्त पैदल और घुड़सवार सैनिकों के प्रमुख[7] का भी उल्लेख मिलता है। वैशाली में राजप्रसाद रक्षकों का प्रमुख भी नियुक्त किया जाता था।[8] प्रयाग प्रशस्ति में गुप्त काल में प्रयुक्त होने वाले कई अस्त्र-शस्त्रों की जानकारी भी प्राप्त होती है।[9]

सामंत संघीय संघटन :-

अभिलेखों से गुप्त काल में सामंतवादी प्रथा के सबंध में प्रमाण प्राप्त होते है। प्रयाग प्रशस्ति से समुद्रगुप्त के शासन काल से ही सामंत वर्ग के उपस्थिति का प्रमाण प्राप्त होत हैं। वे उसे सम्पूर्ण प्रकार के कर प्रदान करते, राजधानी में उसे आकर उसे प्रणाम करते तथा उसकी आज्ञाओं का पालन करते थे।

मालवा में औलिकर वंश के लोग गुप्तों के अधीनस्थ शासक थे। मंदसोर के शिलालेख (मालवा संवत 493 एवं 529) में विश्ववर्मा एवं बंधुवर्मा नामक नरेशों के नाम आते हैं वे औलिकर राजवंश से सबंधित थे, एवं कुमार गुप्त प्रथम के काल में मालवा प्रदेश में गुप्तों की प्रभुता को स्वीकार करते थे। इस अभिलेख में इन दोनों नरेशों के लिए 'नृप' की उपाधि प्रयुक्त मिलती है, एवं उनकी शक्ति

---

5. आ०स०रि०, 1903-4, पृ० 108.
6. वही, युवराज-भट्टारकपादीय-बलाधिकरणस्य,
7. वही पृ० 109.
8. वही पृ० 108.
9. ~~सन्य~~ राय उदय नारायण. गुप्त सम्राट और उनका काल, पृ० 373.

एवं समृद्धि का वर्णन पूर्ण राजकीय सम्मान के साथ हुआ है। उल्लेखनीय हो जाता है कि इसमें विश्ववर्मा को राजाओं में अग्रणी कहा है (ललाम-भूतो भुवि पार्त्थिवानाम्)। इस लेख के शब्दों में वह वृहस्पति के तुल्य बुद्धिमान, अनाथों का नाथ, शरण में आये हुए व्यक्ति को अभय प्रदान करने वाला, दीनों के लिए कल्पद्रुम, आतंकित प्राणी के निमित्त बन्धु के तुल्य, आर्त्त पर अनुकम्पा करने वाला एवं युद्ध क्षेत्र में अर्जुन के सदृश पराक्रमी था।[1] इस अभिलेख में उसे गोप्ता (रक्षक) की उपाधि प्रदान की गई है।[2]

विश्वकर्मा का पुत्र बुंधवर्मा था जिसका वर्णन उक्त प्रशस्ति में एक प्रभावशाली नरेश के रूप में हुआ है। इस अभिलेख के अनुसार राजा होते हुए भी उसमें कोई गर्व नहीं था (राजापि सन्नुपसृतो न मदैः स्भयाद्यैः)। वह रण विद्या में अत्यंत पटु, विविध गुणों से सम्पन्न होने पर भी विनय से अवनत, श्रंगार की मूर्ति एंव बिना अलंकारों को धारण किए भी कामदेव के तुल्य था।[3] उसके प्रभावशाली शत्रुओं को आयत लोचनों वाली स्त्रियाँ जब उसके रूप का स्मरण करती थीं, उस समय वे भयाकुल हो जाती थीं एवं उनके स्तनों में कम्पन होने लगता था।[4] मंद सोर की प्रशस्ति में जिस रूप में विश्ववर्मा एवं बंधुवर्मा की शक्ति का वर्णन हुआ है, उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि गुप्तकालीन साभंत विशेष राजनीतिक अधिकारों से विभूषित थे। परिणाम स्वरूप अनुकूल अवसर पाने पर वह अपने चक्रवर्ती सम्राट के विरूद्ध उनका दुरुप्रयोग कर सकते थे। इन मण्डालिकों की स्वामिभक्ति का

---

1. *सरकार, से० इं०,*
2. *वही, पृष्ठ 293,*
   ''रणेषुध्यः पार्त्थ-समानकर्म्मा बभूव गोप्ता नृपविश्ववर्मा''
3. *वही, पृष्ठ 294,*
   ''कांतो युवारण पटुर्विनयान्वितश्च राजापि सन्नुपसृतो न मदैः स्मायाद्यैः।
   शृङ्गारमूर्त्तिरभिभात्यन लंकृतोऽपि रुपेणय कुसुमचाप इव द्वितीयः।।''
4. *वही, पृष्ठ 295,*
   '' वैधत्य-तीव्र-व्यसन क्षतानां स्मृित्वा यमद्याप्यरि-सुन्दरीणाम्।
   भयाद्भवत्यायत-लोचनानां धनस्तनायस करः प्रकम्पः।''

कोई ठिकाना नहीं था। सामंतवाद की प्रथा गुप्त-साम्राज्य के अस्तित्व के निमित्त कालांतर में घातक सिद्ध हुई थी। स्कंद गुप्त के समय तक उपर्युक्त माण्डलिक दबे रहे। परन्तु उसकी मृत्यु के पश्चात जैसे-जैसे गुप्त नरेशों की शक्ति क्षीण होती गई, वैसे-वैसे उनके सामंत शासकों ने सैन्यबल का विस्तार एवं राजनीतिक अधिकारों का दुरूप्रयोग प्रारंभ कर दिया। महाराज हस्तिन के खोह के ताम्रलेखों में उसे सैकड़ों युद्धों (अनेक समर-शत विजयी) का विजेता था एरण के लेखों में सामंत मातृविष्णु के विषय में 'लक्ष्मी वरण' चर्चा मिलती है इसके पूर्व स्कंदगुप्त-कालीन जूनागढ़ के शिलालेख में उसके संदर्भ लक्ष्मीवरण का संदर्भ प्राप्य है। इन उल्लेखों से स्पष्ट है, कि अवनतिकाल में महत्वकांक्षी सामंत-कुलों ने स्वतंत्र शासकों जैसा व्यवहार करना प्रारंभ कर दिया था।

गुप्त काल की अग्रहार-दान प्रथा ने सामंत वर्ग को बढ़ावा दिया। इस कोटि के दान से सबंधित ताम्रलेख सबसे अधिक संख्या में सर्वप्रथम गुप्तों के ही प्राप्त हुए है। दान के नियमों एवं धार्मिक मान्यताओं के अनुसार दानग्राही एवं उसके वंशज भूमि के उपभोग अनंत काल तक कर सकते थे। दान देने वाला सम्राट अथवा उसका कोई भी उत्तराधिकारी उसे छीन नहीं सकता था। गुप्तों के समस्त दानपत्रों में महाभारत से श्लोक उद्धृत किये गये हैं जिनमें अग्रहार दान का माहात्म्य वर्णित है।[1] दानग्राही को दान की भूमि में समस्त राजकीय अधिकार उपलब्ध हो जाते थे। स्थानीय निवासी समस्त निश्चित एवं सामयिक कर अब राज्य के स्थान पर दानग्राही को देने लगे थे सूक्ष्मदर्शिता एवं राजनीतिक दृष्टि से इस प्रकार की सुविधाओं एवं छूट प्रदान करना दोषपूर्ण था प्राचीन भारतीय अग्रहार प्रथा, मध्यकालीन जागीरदारी प्रथा का स्मरण दिलाती है।

---

1. *गुप्त संवत 224 के दामोदरपुर के ताम्रलेख में उद्धत, द्रष्टव्य; - सरकार, वही, पृष्ठ 340*

- *गुप्त संवत 128 के बैग्राम के ताम्रलेख में उद्धत, सरकार, वही, पृ0 345.*

"पूर्त्वदत्तां द्विजातिभ्यो यत्नाद्रक्ष युधिष्ठिर"

मही महिमतां श्रेष्ठ दानाच्छेयोऽनुपासनमिति"

गणराज्य :-

समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशसित से गणराज्यों के अस्तित्व पर प्रकाश पड़ता है। प्रशस्ति में मालव, अर्जुनायन, यौधेय, मद्र, आभीर, प्रार्जुन, सनकानिक, काक और खर्परिक[1] नामक जन राज्यों का उल्लेख प्राप्त होता है। इनमें से कुछ गणराज्य बहुत प्राचीन थे, तथा सिकंदर के आक्रमण के समय वे पंजाब तथा पश्चिमोत्तर भारत के अन्य भागों में शासन करते थे। मौर्यो की साम्राज्यवादी नीति के कारण इनकी शक्ति को बहुत आघात पहुँचा परन्तु इस राजवंश के पतन के पश्चात उन्होंने पुनः शक्ति संचय किया। मौर्योत्तर काल एवं प्राक-गुप्त-काल के मध्यवर्ती अभिलेख एवं साहित्य में उनका उल्लेख यत्र-तत्र प्राप्त होता है। बाह्य आक्रमणों के कारण मूल अधिकार क्षेत्रों का परित्याग करते हुये ये गण क्रमशः मालवा,राजस्थान पूर्वी पंजाब तथा मध्य प्रदेश के विभिन्न भागों में बस गये थे। इन गणराज्यों की शासन पद्धति किस प्रकार की थी, इस विषय पर तो अधिक प्रकाश नहीं पड़ता है, परन्तु इनके निवास स्थान के विषय में विद्धानों की अलग-अलग राय थी। इसी प्रशस्ति से गणराज्यों के प्रति समुद्रगुप्त की सर्वकर दाना ज्ञाकरण-प्रणामा गमन नीति का पता चलता है। प्रयाग की प्रशस्ति की बाईसवीं और तेईसवीं पंक्तियों से ज्ञात होता है कि समुद्रगुप्त ने सीमांत (प्रत्यन्त) राज्यों के शासकों को अपनी आज्ञा को मानने (आज्ञाकरण) तथा विभिन्न अवसरों पर राजधानी में उपस्थित होकर गुप्त सम्राट को प्रणाम करने (प्रणामागमन) के लिए बाध्य किया। संधि की शर्तो के अनुसार उन्हें गुप्त सम्राट को सभी प्रकार के करों कों (सर्वकर दान) तथा उसके प्रचण्ड शासन को स्वीकार करना पड़ता था। (परितोषित प्रचण्ड शासनस्य) लेख की भाषा से स्पष्ट है, कि गणशासको ने गुप्त शासकों की अधीनता को स्वीकार किया प्रयाग-प्रशस्ति का यह कथन अतिरंजित नहीं माना जा सकता इसका एक उत्कृष्ट उदाहरण चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य कालीन उदयगिरि लेख से ज्ञात होता है, कि सनकानीक भिलसा में गुप्तों की प्रभुता स्वीकार करते थे।

प्रयाग प्रशस्ति के साक्ष्य से प्रकट होता है, कि समुद्र गुप्त ने इन गणशक्तियों को अपने माण्डलिक के रूप में वर्तमान रहने दिया। उदयगिरि के उपर्युक्त लेख से प्रमाणित होता है, कि

---

1. *उपाध्याय वासुदेव, प्रयाग प्रशस्ति, द्वितीय ,खण्ड श्लोक सं-22,पृ0 48.*

अधीनस्थ राज्यों के रूप में उनकी सत्ता समुद्रगुप्त उपरांत भी विद्यमान थी। ऐसा लगता है कि कालान्तर में हूण-आक्रमण के कारण इनका विलय हुआ था। सीमांत राज्यों के प्रति अपनाई हुई नीति में हम समुद्र गुप्त की सूक्ष्मदर्शिता का परिचय पाते हैं। उन्होनें गुप्त सम्राट के प्रति स्वामिभक्ति का प्रदर्शन किया था। अनुमान है, कि सनकानिकों ने शकसत्ता के उन्मूलन में गुप्तों को सहायता पहुंचाई थी।

मूल्यांकन :-

गुप्तकाल के राजनीतिक संगठन का सम्पूर्ण चित्र प्रस्तुत करने के लिए हमें इस बात का ध्यान रखना होगा कि इस युग में देश के एक छोर से दूसरे छोर तक अनेक छोटे-छोटे राजवंशो का अस्तित्व स्थापित था। अगर हम हरिषेण के विवरण को अतिशयोक्तिपूर्ण माने तो भी हमें यह मानना पड़ेगा कि इनमें से कुछ को समुद्रगुप्त ने अवश्य ही अपने अधिकार में किया होगा। इन दूरस्थ प्रदेशों की विजय के परिणामस्वरूप किसी ना किसी प्रकार की सामंतवादी व्यवस्था का विकास करना आवश्यक हो गया।

गुप्तकाल में यद्यपि विदेशी व्यापार में गिरावट हुई, तथापि मध्य भारत, दक्कन तथा दक्षिण भारत के दुर्गम तथा परती क्षेत्रों में उद्यमी ब्राह्मणों को दिए गए भूमि अनुदानों के फलस्वरूप इस युग में आर्थिक प्रवृत्तियों का अभूतपूर्व विस्तार हुआ। शासक वर्ग की आर्थिक समृद्धि का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि प्राचीन भारत में जितनी स्वर्णमुद्राएं गुप्त राजाओं की मिली है उतनी अन्य किसी राजवंश की नहीं। स्वर्ण मुद्राओं के चलन से व्यापारियों और सम्पन्न कारीगरों की आर्थिक स्थित में बढ़ोत्तरी हुई। स्वर्ण मुद्राओं में दिए गये अनुदान कभी-कभी तो इन संघो में ही जमा करवा दिए जाते थे। गुप्त काल की आर्थिक तथा प्रशासनिक व्यवस्था में ये संघ पूर्ववत महत्वपूर्ण भूमिका निभाते रहे।

मौर्य शासकों के विपरीत गुप्त शासकों ने परमेश्वर, महाराजधिराज, परमभट्टारक आदि आडंवर युक्त उपाधियां धारक की, जिससे उनके साम्राज्य में छोटे-छोटे राजाओं के अस्तित्व का संकेत

मिलता है। यद्यपि राजपद वंशानुगत था, किंतु ज्येष्ठ पुत्र के उत्तराधिकार की प्रथा की दृढ मान्यता न होने के कारण राजा के अधिकारों पर किसी हद तक मर्यादा लगी हुई थी।

समुद्रगुप्त की दिग्विजय के भव्य विवरणों के बावजूद हमें गुप्त राजाओं के सैन्य संगठन की विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है। वृत्तकारों ने नंदो तथा मौर्यो की सेनाओं के संख्या बल के सबंध में जानकारी दी है उस प्रकार फाहियान ने गुप्तों की सेना के सबंध में कुछ नहीं कहा है। लेकिन स्पष्ट ही गुप्तों की सेना में एक बहुत बड़ा अनुपात अधीनस्थ राजाओं द्वारा सुलभ कराये गये सैनिकों का था। रथों का महत्व अब समाप्त हो चुका था, परंतु अश्वारोहियों का महत्व बहुत बड़ा बढ़ गया था तथा अश्वधनुर्विधा ने सैन्य कौशल में प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया था। परंतु घोड़ो और हाथियों पर राज्य का एकाधिकार नहीं रह गया था। अब शक्तिशाली लोग स्वयं ही हाथी, घोडे रखने लगे थे।

मौर्य काल में जितनी करों की संख्या देखने को मिलती है, उतनी गुप्त काल में नही मिलती है। इस काल में भूमि करों की संख्या बढ़ी परंतु वाणिज्य-व्यापार सबंधी करों की संख्या में कमी आई। इस काल के दो प्रमुख कर उद्रंग और उपरिकर थे। परंतु इन करों में कृषकों को उपज का कितना हिस्सा देना पड़ता था इसकी जानकारी नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है, कि धनिक कृषक स्वर्ण-के रूप में नकद कर देते थे, जिसे हिरण्य कहा गया था। मध्य तथा पश्चिमी भारत में शासक विष्टि या बेगार भी लेते थे इसके अतरिक्त, मध्य भारत के जो क्षेत्र वाकाटकों तथा अन्य शासकों के अधीन थे उनमें किसानों को ग्रामीण इलाकों में काम करने वाले राजकीय अधिकारियों तथा परिचरों के खाने खर्चो तथा आवश्यक सुविधाओं की व्यवस्था करनी पड़ती थी, जिसके लिए वे उन्हें पशु, खाद्यान्न, उपस्कर आदि भी देते थे।

यद्यपि भूमि अनुदान पत्रों में कई अधिकारियों का उल्लेख देखने को मिलता है, किन्तु राजस्विक तथा आर्थिक प्रवृत्तियों से सबंधित अधिकारियों की संख्या निः संदेह उतनी नहीं थी जितनी मौर्य काल में थी। गुप्त नौकर शाही उतनी विशाल और सुसंगठित नहीं थी जितनी मौर्य नौकर शाही थी। जिस संवर्ग से बड़े-बड़े अधिकारी चुने जाते थे, वह कुमारामात्यों का संवर्ग था, जिसे मौर्यकालीन महामात्रों

तथा सातवाहन युगीन अमात्यों के संवर्गों का समांतर माना जा सकता है साम्राज्य के केंद्रीय प्रदेशों में अधिकांश अधिकारियों की नियुक्ति स्वयं राजा करता था और संभवतः उन्हें नगद वेतन दिया जाता था। चूंकि गुप्त शासक स्वयं वैश्य थे, इसलिए उच्चाधिकारियों का चयन ऊपर के दोनों वर्णो तक ही सीमित नही था। परंतु अब एक ही व्यक्ति अनेक पदों पर आसीन होने लगे और कई पद वंशानुगत हो गए। इससे स्वभावतः प्रशासन तंत्र पर राजा का नियंत्रण ढीला पड़ा। अभिलेखों से व्यवस्थित प्रांतीय तथा स्थानीय प्रशासन का कुछ बोध सबसे पहले गुप्तकाल में ही होता है। साम्राज्य भुक्तियों में बंधा हुआ था और प्रत्येक भुक्ति एक उपरिक के अधीन होती थी। बंगाल, बिहार उ0प्र0 तथा म0प्र0 में ऐसी कम से कम आधा दर्जन भुक्तियों की जानकारी हमें है। भुक्ति विषयों में विभक्त होती थी और विषय का शासन विषयपति संभालता था पूर्वी भारत में विषय वीथियों में तथा वीथि गांवों में विभक्त होती थी। लेकिन यह पद्धति मुख्यतः उन क्षेत्रों में लागू थी जिन पर गुप्त राजाओं का प्रत्यक्ष शासन था। अन्यत्र अन्य प्रकार की राजस्विक तथा प्रशासनिक इकाइयां थीं जैसे देश, मंडल, भोग आदि। ऐसी इकाइयां मुख्य रूप से मध्य तथा पश्चिमी भारत में थी।

गुप्तकाल में ग्राम प्रशासन में अनेक नए आयाम जुड़ गए। मौर्य काल में गोप नामक राज कर्मचारी गांव की व्यवस्था की देख रेख बड़ी सजगता से करता था। इस काल में राज्य की ओर से ऐसा कुछ नहीं किया जाता था और न ही गृहस्थियों का पंजीयन ही होता था। गॉव के मामलों का प्रबंध महत्तरों अर्थात बड़े बुजुर्गो की सहायता से ग्राम प्रधान करता था। कभी-कभी विषय के प्रशासन में भी महत्तरों का सहयोग लिया जाता था। गुप्त अभिलेखों में यह भी प्रकट होता है कि गॉव या वीथि कहे जाने वाले कस्बों के प्रशासन में प्रमुख स्थानीय लोगों का भी हाथ रहता था। उनकी अनुमति के बिना जमीन का कोई सौदा नहीं किया जा सकता था, और संभव है, कि अन्य महत्वपूर्ण मामलों में भी इसी रीति का अनुगमन किया जाता रहा हो। इस प्रकार जहॉ मौर्यकाल में गॉव की व्यवस्था ऊपर से की जाती थी, प्रतीत होता है, कि गुप्तकाल में नीचे से की जाती थी।

उत्तर भारत के नगरों का स्वयं का स्वतंत्र अस्तित्व स्थापित रखने की प्राचीन व्यवस्था समाप्त हो चुकी थी। परंतु पेशेवर लोगों के संगठित समूहों को काफी स्वायत्ता प्राप्त थी। परवर्ती मौर्य काल

में ऐसे-समूह अपने सिक्के निर्गत करते थे, किंतु अब अपनी सत्ता को लागू करने के लिए वे सिर्फ अपनी मुहरें जारी करते थे। वैशाली में प्राप्त मुहरों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि एक ही निगमित संस्था में कारीगर, व्यापारी और साहूकार तीनों काम करते थे, और निगम के रूप में स्पष्ट ही वे शहर के मामलों का प्रबंध भी करते थे। किंतु कारीगरों तथा साहूकारों के अलग-अलग निगम भी थे। इनके अतरिक्त भीटा तथा वैशाली में हमें कारीगरों, व्यापारियों आदि के और भी बहुत संघों का उल्लेख देखने को मिलता है मंदसौर के रेशम बुनकरों के संघ तथा इंदौर के तैलकों के संघ का उल्लेख गुप्त अभिलेखों में बार-बार हुआ है। पेशों के आधार पर बने संघ पारिवारिक संगठन से भिन्न होते थे, और जैसा कि मद सोर के रेशम बुनकरों के संघ से अनुमान लगाया जा सकता है, उनमें काफी गतिशीलता होती थी। ये संघ अपनी रीति-परंपराओं का पालन करते थे। राज्य इनके मामले में कोई दखल नहीं देता था। यद्यपि ऐसे संघों का उल्लेख प्राग्गुप्त कालीन विधिग्रन्थों में भी मिलता है, किंतु उनके कार्य व्यापार तथा व्यवसाय में साझेदारी से सबंधित सबसे विस्तृत नियमों का विधान गुप्त कालीन स्मृतियों ने किया है। वास्तव में अब निगमित संस्थाएं इतनी महत्वपूर्ण हो गई थीं कि उनकी ओर विधि वेत्ताओं का भी ध्यान बरबस आकृष्ट हुआ, और उन्होने ऐसा विधान किया कि राजा न केवल उनके कानूनों और रीति परम्पराओं को सम्मान करें, बल्कि उस पर अमल भी करवाये। यदि संघ के सदस्य ठीक आचरण न करें तो उसके प्रबंधक स्वभावतः राज्य की दंड शक्ति का सहारा ले सकते थे तरह-तरह की रियायतों का उपभोग करते और कारीगरों पर नियन्त्रण रखते थे। इसका एक ठोस उदाहरण 592 ई0 में जारी किए गए एक राजपत्र से मिलता है[1] इसलिए जान पड़ता है कि गुप्त काल में संघ अपने सदस्यों के मामलों की देख-रेख करने के साथ-साथ अपने-अपने शहरों की भी व्यवस्था करते थे। फलतः राज्य शहरों के प्रशासन के दायित्व से अंशतःमुक्त था, और अभिलेखों में ऐसे किसी राज्यपदाधिकारियों का उल्लेख नहीं मिलता जिसके बारे में कहा जा सके कि वह विशेष रूप से नगर प्रशासन के लिए नियुक्त था।

न्याय व्यवस्था में भी नियमित संस्थाएं महत्वपूर्ण भूमिका निभाती थी। विधि संहिताओं में एक ऊपर एक ऐसे तीन न्यायालयों की व्यवस्था है। इन तीनों के बाद ही किसी मामले में राजा के पास अपील की जा सकती थी। वे किन कानूनों के अनुसार न्याय करते थे, इसकी जानकारी हमें नहीं है

---

1. *इपिग्राफिक इंडिया, 30.163-181.*

किन्तु सामान्यतः प्रचलित न्याय प्रणाली उन ब्राह्मण विधि निर्माताओं की कृति थी, जिन्होंने गुप्तकाल में विधि ग्रन्थों का एक अच्छा खासा संग्रह प्रस्तुत किया। कई दृष्टियों से न्याय प्रणाली में उल्लेखनीय प्रगति हुई एक तो भूसंपत्ति के विभाजन का चलन आरंभ होने के कारण 'याज्ञल्क्य स्मृति में उत्तराधिकार कानून का विशद विवेचन किया गया। दूसरे नारद तथा बृहस्पति ने दो प्रकार के कानूनों के बीच भेद की रेखा खीची। उन्होने चौदह प्रकरणों में संपत्ति संबंधी कानूनों का विवेचना किया और चार में हिंसा मूलक विधियों का। तीसरे, नारद, वृहस्पति तथा कात्यायन की स्मृतियों में न्यायालयों के गठन, न्यायप्रक्रिया तथा साक्ष्य नियमों पर विस्तार से विचार किया गया। स्मृतिकारों का मत सामान्यतः यह है, कि न्यायधीश तथा परामर्शदाता की नियुक्ति में बाह्मणों को प्राथमिकता दी जानी चाहिए। यदि बाह्मणों में ऐसे व्यक्ति न मिलें तो उनसे नीचे के दो वर्णो के लोगो को नियुक्त किया गया जा सकता है, किंतु शूद्रो को न्याय व्यवस्था में भागीदार नही बनाया जा सकता था। स्मृतियों में जिन न्यायाधिकारियों या न्यायालयों का उल्लेख है, उनकी पुष्टि अभिलेखों से नही होती। दूसरी ओर वैशाली की एक मुहर से एकमात्र न्यायधिकारी विनय स्थिति स्थापक का उल्लेख मिलता है, उसका उल्लेख गुप्तकालीन स्मृतियों में नही मिलता है। इस काल की स्मृतियों में वर्णित न्याय प्रक्रिया में अभियुक्त का अपराध सिद्ध करने के लिए अनेक परीक्षाओं का विधान किया गया है। इस काल में उनकी सख्या लगभग दुगुनी हो गई है, जिससे दैवी विधान में बढ़ते हुए विश्वास का संकेत मिलता है। स्पष्ट ही लोगों में यह विश्वास ब्राह्मणों ने उत्पन्न किया होगा संभव है, इन कठिन परीक्षाओं के भय से अभियुक्त अपने अपराध स्वीकार कर लेता होगा, जिससे न्याय करने में सहायता मिलती होगी।

यद्यपि उत्तर बंगाल, बिहार और उत्तर प्रदेश का शासन सीधे गुप्त शासकों द्वारा नियुक्त अधिकारियों द्वारा चलता था। परंतु साम्राज्य के अधिकतर हिस्से पर परिव्राजक तथा उच्छकल्प राजाओं तथा समुद्रगुप्त द्वारा पराजित अन्य बहुत से सामंत राजाओं का शासन चलता था। इस सामंत राजाओं के राज्य स्पष्ट ही साम्राज्य के सीमावर्ती क्षेत्रों में पड़ते थे, और ये लोग तीन तरह से सम्राट के प्रति अपने कर्तव्य का निर्वाहन करते थे, वे स्वयं सम्राट के दरबार में उपस्थित होकर उसके प्रति अपनी श्रद्धाभक्ति प्रकट करते थे, उसे अधीनता सूचक कर देते थे, और विवाह में अपनी कन्याएं भेट करते थे। समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में इन तीनों प्रथाओं का उल्लेख है। किन्तु इसके अतिरिक्त सामंतगण स्पष्ट ही अपने स्वामी को सैनिक भी देते थे, और बदले में युद्ध के समय स्वामी इसकी रक्षा किया

करता था। वलभी के मैत्रक, थानेश्वर के वर्धन, कन्नौज के मौखरि, मगध के परवर्ती गुप्त शासक, बंगाल के चन्द्र आदि गुप्तों के प्रमुख सामंत थे और बाद में जब गुप्त साम्राज्य का विघटन हुआ तब इनका उदय स्वतंत्र शक्तिशाली राज्यों के रूप में हुआ।

गुप्त साम्राज्य की दूसरी महत्वपूर्ण सामंती प्रवृत्ति पुरोहितों तथा मंदिरों को दी गई राजस्विक और प्रशासनिक रियायतें थी। यह चलन दक्कन में सात वाहनों के राज्य से आरंभ हुआ और मध्य भारत में गुप्तों के सामंतो के अधीनस्थ क्षेत्रों तथा वाकाटकों के राज्य में इसने व्यापक रूप धारण कर लिया, यद्यपि स्वयं गुप्त शासकों ने बहुत कम भूमि अनुदान दिए। नई राजस्विक रियासतों में नमक तथा खानों का हस्तांतरण भी शामिल था, यद्यपि पहले इन दोनों चीजों पर राजा का एकाधिकार होता था और ये प्रभुसत्ता की स्पष्ट प्रतीक मानी जाती थी। धार्मिक ग्रहीताओं को ग्राम अनुदान सदा के लिए दिए गए, और उन्हे सभी करों की उगाही का अधिकार दिया गया जो पहले दाता वसूल करता था, साथ ही वे दाता को उन करों में से कुछ भी देने के दायित्व से मुक्त रखे गये। गुप्तकालीन भूमि अनुदानों की विशेषता यह थी कि ग्रहीताओं को अनेक प्रशासनिक विशेषाधिकार भी प्रदान किए गए। उनके क्षेत्रों में राजकीय चाटों, भटों आदि का प्रवेश वर्जित था। यह चीज हमें सातवाहन अनुदानों में भी देखने को मिलती है। लेकिन नई बात यह हुई कि अब उन्हें दशों अपराधों के लिए दोषी लोगों को दंडित करने का अधिकार भी प्रदान किया गया। दूसरे शब्दों में मजिस्ट्रेट तथा पुलिस के अधिकार भी उन्हें दे दिए गए। इसके अतिरिक्त, अनुदानों के फलस्वरूप जो ग्रामीण जन ग्रहीताओं के अधिकार क्षेत्र में आए उन्हें राजा ने ऐसा निर्देश दिया कि वे अपने नए स्वामियों की आज्ञा का अनुगमन करें और उनके आदेशों का पालन करें।

पुरोहितों तथा मंदिरों को प्रत्यक्षतः धार्मिक और आध्यात्मिक प्रयोजनों से भूमि अनुदान दिए गए। केवल एक ऐसा उदाहरण मिलता है जब ब्राह्मणों को इस शर्त के साथ भूमि अनुदान दिया गया कि वे राज्य का कोई उपकार न करें और सद्व्यवहार कायम रखें, किन्तु व्यवहारतः अनुदत्त क्षेत्रों के प्रशासन का दायित्व केवल ग्रहीताओं पर होता था। वे ग्रामीण समुदायों को वर्ण धर्म के पालन की शिक्षा देते थे, उनके लिए प्रायश्चित्तों का विधान करते थे और अपने राजकुलोत्पन्न दाताओं को उनके

समक्ष दौवी गुणों से सम्पन्न व्यक्तियों के रूप में प्रस्तुत करते थे। इस प्रकार उन्होने लोगों पर एक स्वस्थ प्रभाव डाला, जो समाज में स्थायित्व लाने की दृष्टि से बहुत फलप्रद सिद्ध हुआ।

यह स्पष्ट नहीं है, कि गुप्तकाल में राज्याधिकारियों को वेतन स्वरूप भूमि अनुदान दिए जाते थे या नहीं। स्वर्णमुद्राओं की प्रचुरता से इस बात का संकेत मिलता है कि उच्चाधिकारियों को नकद वेतन दिया जाता था। लेकिन इस काल के स्मृतिकारों ने स्पष्ट विधान किया है कि राजस्व अधिकारियों को वेतन स्वरूप भूमि अनुदान दिए जाएं और इसी प्रकार से राज्याधिकारियों को भी पुरस्कृत किया जाए। मध्य भारत में प्राप्त अभिलेखों से प्रकट होता है, कि मंदिरों को अनुदत्त भूमि की व्यवस्था का भार दिविरों और व्यापारियों को सौपा जाता था, और कभी-कभी आदि जनसमुदायों के सरदारों के भरण-पोषण के लिए भी भूमि अनुदान दिए जाते थे।

चूंकि साम्राज्य के बहुत से प्रशासनिक मामलों की व्यवस्था सामंत तथा अनुदान भोगी लोग करते थे, इसलिए गुप्त राजाओं को उतने अधिकारियों की आवश्यकता नहीं थी, जितनी मौर्यो की थी इसके अतिरिक्त राज्य आर्थिक मामलों में कोई विशेष दखल नहीं देता था। इससे भी उतने अधिक अधिकारियों की आवश्यकता नहीं रह गई थी। फिर, जितनी विशाल सेना मौर्यो की थी, उतनी बड़ी स्थायी सेना की आवश्यकता गुप्तों को नही थी। मौर्य काल के विपरीत हम कारीगरों, व्यापारियों और महत्तरों को ग्रामीण तथा शहरी प्रशासन में सहयोग करते हुए देखते है। इससे भी विशाल प्रशासनिक कर्मचारी वर्ग रखने की आवश्यकता बहुत कम हो गई। गॉवों ने बहुत अधिक सत्ता प्राप्त कर ली, जिससे केन्द्र के करने के लिए बहुत काम कम हो गया। इसलिए गुप्तों को मौर्यो जितनी बड़ी नौकरशाही की न तो आवश्यकता थी और न उन्होने ऐसी नौकरशाही खड़ी ही की, और गुप्त राजाओं की प्रबल सैन्यशक्ति के बावजूद गुप्तकाल में जो संस्थागत तत्त्व विकेंद्रीकरण की दिशा में कार्य कर रहे थे वे इस तरह के प्राग्गुप्तकालीन तत्त्वों से कही अधिक प्रबल थे। इस काल में कई दृष्टियों से सामंती व्यवस्था का सूत्रपात हुआ जो पूर्व मध्यकाल की राजनीति की सबसे प्रमुख विशेषता के रूप में सामने आई।

अध्याय-षष्ठम्

(क) प्रशासनिक व्यवस्था में सामंतवाद का उदय तथा विकास

(ख) राज्य कर सम्बन्धी सिद्धान्त तथा राजकीय आय-व्यय

(क)
प्रशासनिक व्यवस्था में सामंतवाद का उदय विकास

पूर्व मध्यकालीन समाज का बहुचर्चित विषय 'सामन्तवाद' रहा है जिसके उद्‌भव तथा विकास पर आधुनिक युग के अनेक सामाजिक आर्थिक इतिहासकारों ने अपने विचार प्रकट किये हैं। सामंत शब्द का उल्लेख कौटिल्य के अर्थशास्त्र में 'स्वतंत्र' पड़ोसी के अर्थ में किया गया है। सर्वप्रथम अश्वघोष (प्रथम शती) ने बुद्धचरित में इस शब्द का प्रयोग जागीरदार के लिये किया है। गुप्तकाल से सामंत शब्द का प्रयोग सामान्यतः इसी अर्थ में किया जाने लगा।

सामंतवाद का अंकुरण शक-कुषाण काल में हुआ तथा गुप्तकाल तक पहुँचते-पहुँचते समाज में इसकी स्थिति काफी सुदृढ़ हो गई। शक सम्राट 'षाहानुषाहि' कहे जाते थे तथा उसकी आधीनता में कई सामंत (षाहि) होते थे। कुषाण सम्राटों की 'राजधिराज' उपाधि भी सामंती व्यवस्था की सूचक है। पश्चिम भारत के शक शासकों को 'महाक्षत्रप' तथा क्षत्रप की उपाधियाँ प्रचलित थीं। कालांतर में गुप्त सम्राटों ने इन्हीं के अनुकरण पर महाराजाधिराज की उपाधि धारण की। इस प्रकार गुप्तकाल तथा इसके बाद राजनीतिक क्षेत्र में सामंतवाद पूर्णतया प्रतिष्ठित हो गया।

भारत में सामंतवाद के उद्‌भव तथा विकास के लिए राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक परिस्थितियों ने उपयुक्त आधार प्रदान किया। बाध्य आक्रमणों के कारण केंद्रीय सत्ता निर्बल पड़ गयी तथा चारों ओर अराजकता एवं अव्यवस्था फैल गयी। केंद्रीय शक्ति की निर्वलता ने समाज में प्रभावशाली व्यक्तियों का एक ऐसा वर्ग तैयार किया जिन पर स्थानीय सुरक्षा का भार आ गया। अव्यवस्था के युग में सामान्यजन अपनी जान-माल की सुरक्षा के लिए उनकी ओर उन्मुख हुआ।

गुप्तों के काल में सामंतवादी प्रथा होने के सबंध में सबसे सबल प्रमाण उनके अभिलेख ही है।

प्रयाग की प्रशस्ति स्पष्ट है, कि समुद्र गुप्त के काल से ही सामंत लोग वर्तमान थे। वे उसे सम्पूर्ण प्रकार के कर देते थे (सर्वकरदान) राजधानी में आकर उसे प्रमाण करते थे (प्रमाणागमन) तथा उसकी आज्ञाओं का पालन करते थे (आज्ञाकरण)।[1] चन्द्रगुप्त-द्वितीय कालीन उदयगिरि के शैव लेख से ज्ञात होता है, कि सनकानिक लोग पूर्वी मालवा में गुप्तों की आधीनता स्वीकार करते थे। गुप्तकालीन सामंत वर्ग विशेषधिकारों से युक्त वर्ग था। ये सामंत अपने-अपने शासन क्षेत्रों में परमपरागत आधार पर एक नरेश की ही भाँति राज्य करते थे। उन्हें सेना रखने का अधिकार प्राप्त था तथा निजी भू-भाग में वे कर आदि वसूल करते थे। इसके बदले में उन्हें गुप्त सम्राट को पूर्वी निर्धारित धन-राशि भेंट स्वरूप देनी पड़ती थी तथा युद्ध के अवसर पर सैनिक सहायता भी प्रदान करनी पड़ती थी।

गुप्तकालीन सुप्रसिद्ध सामंतों में सबसे पहले मौखरि एवं उत्तर गुप्त उल्लेखनीय हैं। नागार्जुनी एवं बराबर के लेखों के प्राप्ति स्थान से लगता है, कि सम्भवतः पहले मौखरि लोग बिहार प्रांत के गया जिले में शासन करते थे। बाद में वहाँ से हटकर कानकुब्ज चले आये थे। वहाँ पर हरिवर्मा आदित्य वर्मा एवं ईश्वर वर्मा आदि ने 500 ई० से लेकर 550 ई० तक राज्य किया था। जौनपुर एवं हरहा के लेखों में इन नरेशों के द्वारा किए गए जिन युद्धो का वर्णन हुआ है, उससे ऐसा प्रतीत होता है, कि इन्होनें गुप्तों के स्वामिभक्त सामंतों के रूप में भाग लिया था।[2] उक्त मौखरि-नरेश 'महाराज' एवं 'नृप' जैसी राजकीय उपाधियों को धारण करते थे। कृष्ण गुप्त, हर्षगुप्त एवं जीवित गुप्त प्रथम आदि इस राजघराने के नरेशों ने लगभग 550 ई० तक गुप्त- सामंत की हैसियत से राज्य किया था।[3] अफसढ़ के लेख के अनुसार कृष्ण गुप्त एवं हर्षगुप्त ने 'नृप' एवं जीवितगुप्त प्रथम ने 'क्षितीश चूड़ामणि' की उपाधि धारण की थी।[4]

---

1. *वासुदेव उपाध्याय, प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, प्रयाग प्रशस्ति, सर्वकरदाना ज्ञाकरण प्रणामागमन............*
2. *राय उदय नारायण, गुप्त सम्राट और उनका काल, पृ० 430.*
3. *वही, पृ० 428-29*
4. *राय उदय नारायण, गुप्त सम्राट और उनका काल, पृ० 454-55.*

रीवाँ एवं जवलपुर (डभाल) वाले भागों में परिव्राजक-महाराज गुप्तों की अधीनस्थता में राज्य करते थे। वे 'नृप परिव्राजक' सुशर्मा के वंशज थे, अतः वे परिव्राजक-महाराज के नाम से विख्यात हुए। इसी वंश में महाराज हस्तिन् एवं संक्षोभ उत्पन्न हुए थे जिनके लगभग आधे दर्जन लेख प्राप्त हुए हैं। से सभी लेख जो कि ताम्रपत्र पर उतकीर्ण हैं 475 ई0 से लेकर 528 ई0 के बीच के हैं। इसमें उन्होंने गुप्तों की अधीनस्थता का उल्लेख स्पष्ट शब्दों में किया है। (गुप्तनृपराज्य भुक्तौ)

मालवा में औलिकर वंश के लोग उनके अधीनस्थ शासक थे। मंदसोर के शिलालेख (मालवा संवत 493 एवं 529) में विश्ववर्मा एवं बंधुवर्मा नामक नरेशों के नाम आते हैं वे इसी राजवंश से संबंधित थे एवं कुमारगुप्त प्रथम के काल में मालवा-प्रदेश में गुप्तों की प्रभुता को स्वीकार करते थे। इस अभिलेख में इन दोनों नरेशों के लिए 'नृप' की उपाधि प्रयुक्त मिलती है एवं उनकी शक्ति एवं समृद्धि का वर्णन पूर्ण राजकीय सम्मान के साथ हुआ है। उल्लेखनीय है, कि इसमें विश्ववर्मा को राजाओं में अग्रणी कहा है (ललाम भूतो भ्वि पार्थिवानाम्)। इस लेख के शब्दों में वह बृहस्पति के समान बुद्धिमान , अनाथों का नाम, शरण में आये हुए व्यक्ति को अभय प्रदान करने वाला दीनों, के लिए कल्पद्रुम, आलंकित प्राणी के निमित्त बन्धु के तुल्य, आर्त्त पर अनुकम्पा करने वाला एवं युद्ध क्षेत्र में अर्जुन के सदृश पराक्रमी था।[1] इस अभिलेख में उसे 'गोप्ता' (रक्षक) की उपाधि प्रदान की गई है।[2]

विश्ववर्मा का पुत्र बंधुवर्मा था, जिसका वर्णन उक्त प्रशस्ति में एक प्रभाव-शाली नरेश के रूप में हुआ है। इस अभिलेख के अनुसार राजा होते हुए भी उसमे कोई गर्व नहीं था (राजापि सन्नुपसृतो

---

1. *सरकार, से0इं0, पृ0 293 "दीनानुकंपनपरः कृपणार्त्तवर्ग्ग सन्धाप्रदोऽधिकदयालुरनाथ-नाथः।*
कल्पद्रुमः प्रणयिनामभयं प्रदश्च, भीतस्य यो जनपदस्य च बन्धुरासीत्।।"

2. *सरकार, सेलेक्ट इन्स्क्रिप्शंस, पृ0 293. "रणेषुः यः पार्त्थ-समानकर्म्मा,*
बभूव गोप्ता नृप विश्वकर्मा

न मदैः स्मयाद्यैः)। वह रणविद्या में अत्यंत पटु, विविध गुणों से सम्पन्न होने पर भी विनय से अवनत, श्रंगार की मूर्ति एवं विना अलंकारों को धारण किए भी कामदेव के समान था।[1] उसके प्रभावशाली शत्रुओं की आयत लोचनों वाली स्त्रियाँ जब उसके रूप का स्मरण करती थी, उस समय वे भयाकुल हो जाती थीं एवं उनके स्तनों में कम्पन होने लगता था।[2] मन्दसोर की प्रशस्ति में जिस रूप में विश्ववर्मा एवं बंधुवर्मा की शक्ति का वर्णन हुआ है, उससे यह निष्कर्ष निकलता है, कि गुप्तकालीन सामंत विशेष राजनीतिक अधिकारों से विभूषित थे। परिणाम स्वरूप अनुकूल अवसर आने पर अपने चक्रवर्ती सम्राट के विरूद्ध वे उनका दुरूपयोग कर सकते थे। इन माण्डलिकों की स्वामिभक्ति का कोई ठिकाना नहीं था। मातृविष्णु के एरण लेख से ज्ञात होता है, कि वह और उसका अनुज धान्यविष्णु दोनों ही बुधगुप्त के भक्त सामंत थे। परंतुधन्य विष्णु के एरण लेख से प्रतीत होता है, कि वह बुधगुप्त के स्थान पर हूणराज तोरमाण का स्वामिभक्त माण्डलिक हो गया था। इस प्रमाण से स्पष्ट है, कि गुप्तकालीन सामंत पूर्णयता अवसरवादी थे।

सामंतवाद की प्रथा गुप्त साम्राज्य के अस्तित्व के निमित्त कालांतर में घातक सिद्ध हुई थी। स्कन्दगुप्त के समय तक उपर्युक्त माण्डलिक दबे रहे। परंतु उसकी मृत्यु के पश्चात् जैसे-जैसे गुप्त नरेशों की शक्ति छीड़ होती गई, वैसे-वैसे उनके सामंत शासकों ने सैन्य बल का विस्तार एवं राजनीतिक अधिकारों का दुरूपयोग प्रारंभ कर दिया। महाराज हस्तिन् के खोह ताम्रलेखों में उसे सैकड़ो युद्धों का विजेता (अनेक समरशतविजयी) कहा गया है। उसका यह दावा समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति के उस कथन का स्मरण दिलाता है जिसके अनुसार वह सैकड़ों युद्धों का विजेता था। एरण के लेखों में सामंत मातृविष्णु के विषय में 'लक्ष्मी वरण' चर्चा मिलती है। इसके पूर्व स्कंन्दगुप्त कालीन जूनागढ़ के शिलालेख में उसके संदर्भ में लक्ष्मीवरण का संदर्भ प्राप्त होता है। इन उल्लेखों से स्पष्ट है, कि अवनति काल में महात्वाकांक्षी सामंत कुलों ने स्वतंत्र शासकों जैसा व्यवहार करना प्रारंभ कर दिया

---

1. *वही, पृ0 294. ''कान्तो युवा रणपटुर्विनयान्वितश्च राजापि सन्नुपसृतो न मदैः स्मयाद्यैः।*
   शृङ्गरमूर्त्तिरभिभात्यनलंकृतोऽपि, रूपेण य कुसुमचाप इव द्वितीयः।।''
2. *वही, पृ0 295, ''वैधव्य-तीव्र-व्यसन क्षतानां, स्मृित्वा यमद्याप्यरि-सुन्दरीणाम्।*
   भयाद्भवत्यायत-लोचनानां, धनस्तनायास करः प्रकम्पः।''

था। इस प्रकार स्पष्ट है, कि गुप्त वंश के समान्तों की विरोधी कार्यवाहियों के कारण उनके साम्राज्य में विघटन की सवल प्रवृत्तियाँ क्रियाशील हो उठी। सामन्तों को दी गई विशेष सुविधाएँ एवं छूट-मुख्यतया स्थायी सेना रखने एवं परम्परागत आधार पर राज्य करने का विशेषाधिकार-गुप्त साम्राज्य के अस्तित्व के लिए घातक सिद्ध हुई थी। यदि सामंतवादी प्रथा को समाप्त कर सभी भुक्तियों एवं विषयों में उन्होनें प्रत्यक्ष नियंत्रण स्थापित करने की सूक्ष्मदर्शिता दिखाई होती तो यह तथ्य उनके साम्राज्य के स्थायित्व के पक्ष में हुआ होता।

भू-अनुदान द्वारा सामंतवाद का विकास :-

सामंतवाद के विकास में शासकों द्वारा दी गई भूमि तथा ग्राम अनुदानों ने महत्वपूर्ण भूमिका निर्वाहन किया। गुप्तकाल से ब्राह्मणों एवं अधिकारियों को प्राप्त होने वाले में बढ़ोत्तरी हुई। इसने भी सामंतवाद की प्रवृत्ति में बढ़ोत्तरी की। ब्राह्मणों को जो भूमि अनुदान स्वरूप प्राप्त होती थी उसे वहमदेय करते थे। भूमिदान से सवंधित सर्वप्रथम उल्लेख शक-सातवाहन लेखों से प्राप्त होता है। शक शासक के लेखों में ग्राम तथा भूमिदान की चर्चा की गई है। गौतमीपुत्र शातकर्णी द्वारा भी बौद्ध भिक्षुओं को ग्राम दान करने का उल्लेख उसके एक लेख से प्राप्त होता है।

भू-अनुदान प्रवृत्ति द्वारा प्रशासनिक परिवर्तन :-

गुप्त काल की प्रशासनिक पद्धति में अनेक परिवर्तन हुए,परंतु सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन राजस्विक तथा प्रशासनिक छूट प्राप्त करने वाले अनुदानभोगियों तथा सामंत कहलाने वाले विजित शासकों के साथ स्थापित सबंधों में हुए। प्रवरसेन द्वितीय (पांचवी सदी) से लेकर परवर्ती काल तक जो भी अनुदान दिये गए उन सबमें शासक चर्म, काष्ठकार, नमक की खान बेगार और सम्पूर्ण भूगर्भस्थ सम्पदा, अर्थात राजस्व प्राप्ति के सभी स्त्रोतों पर अपने अधिकार का परिहार कर देता था।[1] रघुवंश में भी इस विषय पर कहा गया है कि धरती की रक्षा करने के लिए राजा को दिए जाने वाले वेतन का एक साधन खानें भी हैं।[2] चौथी और पांचवी सदियों में कुछ अनुदान पत्रों से यह ज्ञात होती है,

---

1. *से0इ0, 3 संख्या 62 पं0 26-29.*
2. *रघुवंश, 17.66.*

कि ब्राह्मणों को यह अधिकार दिया गया था, कि वह ग्राम की भूगर्भस्थ निधियों का उपभोग करें।[1] इसका अर्थ खानों पर राजकीय स्वामित्व का परिहार था, और यह बात ध्यान देने वाली है, कि यह स्वामित्व राजा की प्रभुसत्ता का एक महत्वपूर्ण प्रतीक था।

यह भी अत्यंत महत्वपूर्ण बात है, कि अनुदानकर्ता ग्राम के निवासियों पर शासन संचालित करने के लिए अपने अधिकार भी त्याग देता था। गुप्त काल में ऐसे कई उदाहरण प्राप्त होते हैं, जिससे पता चलता है, कि मध्य भारत में सामंत शासकों ने ब्राह्मणों को सुव्यवस्थित ग्राम अनुदान रूप में दिए, तथा उन्हें यह अधिकार भी दिये कि वह गॉव के लोगों से कर प्राप्त करे। समस्त ग्रामवासियों को अनुदानभोगियों के आदेशों का पालन करने के भी स्पष्ट निर्देश दिए।[2]

चोरों को दण्ड देना (पांचवी शताब्दी तक) राजा के कर्तव्यों में सम्मलित था, परंतु परवर्ती काल में राजा ने यह अधिकार ब्राह्मणों को सौंप दिया। इससे विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया स्वयं की तर्कसंगत परिणित को प्राप्त हुई। भारत के कुछ हिस्सों में राजपरिवार के कुछ अनुदान कर्ताओं ने अनुदान भोगियों को प्राप्त ग्राम में मुकदमों की सुनवाई का अधिकार भी प्रदान किया। इसकी जानकारी उनके शासनपत्रों में प्राप्त अभ्यंतर सिद्धि शब्द के प्रयोग से होती है[3] इस अभ्यंतर सिद्धि शब्द के अलग-अलग अर्थ लगाये गये है।[4] परंतु इसे ग्राम के आतंरिक विवादों के निर्णय के अर्थ रूप में लेना अधिक उपयुक्त होगा।[5] ऐसा प्रतीत होता है कि यह अधिकार मिलने के बाद ग्राम आत्मनिर्भर हो जाते होंगे।

---

1. *से०इ०, 3 सख्या 62. पं० 29.*
2. *शर्मा रामशरण. ऐसपेक्ट्स ऑफ पोलिटिकल आईडियाज एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स इन एन्शियन्ट इंडिया. पृ 260.*
3. *का०इं०इं०, 40 संख्या 31, पं० 41.*
4. *वही, 154 पा०टि० 1.*
5. *वही*

परवर्तीमौर्य काल तथा गुप्तकाल में ब्राह्मणों को दिए गए अनुदानों के कारण विक्रेंदीकरण की प्रवृत्ति में बढ़ोत्तरी हुई। मौर्य प्रशासन की प्रमुख विशेषता जो केंद्रीभूत नियंत्रण के आधार पर स्थित थी, धीरे-धीरे समाप्त हो गई। पुरोहित वर्ग और तदुपरांत योद्धावर्ग के अधिकारो में वे कार्य आ गये, जो प्रांरभ में राज्य कर्मचारी करते थे।

मध्यभारत तथा बंगाल से मिल हुए गुप्तकालीन अनुदान पत्रों में सदैव के लिए भूराजस्व के उपभोग का अधिकार ग्रहीता को दिया गया है, परंतु उसे यह अधिकार नहीं था, कि वह प्राप्त भूमि का राजस्व या उस भूमि को किसी अन्य को नहीं सौंप सकता था। इस विषय में हमें प्राचीनतम उदाहरण भी प्राप्त होता है। इंदौर से प्राप्त एक अभिलेख में स्वामिदास नामक व्यक्ति ने किसी व्यापारी को अपना एक खेत दान करने की अनुमति दी है।[1] इससे यह ज्ञात होता है, कि सामंतों को भी राजकीय अनुमति के बिना धार्मिक अनुदान देने का अधिकार प्राप्त था गुप्त शासन काल में अन्य और सामंतो द्वारा भी अनुदान दिए जाने के उदाहरण प्राप्त होते हैं। परंतु ऐसा कहीं कोई उदाहरण नहीं मिलता जिससे यह ज्ञात हो सके कि सामंतो को भूमि अनुदान राजा द्वारा दिया जाता होगा। इंदौर अभिलेख में ग्रहीता को यह अधिकार दिया गया है, कि वह जब तक ब्रह्मदेय अनुदान की शर्तो का पालन करता रहेगा, तब तक वह उस भूमि का उपभोग कर सकता है, उस भूमि में या तो वह स्वयं कृषि कार्य कर सकता है या दूसरों से करवा सकता है।[2] इससे ज्ञात होता है, कि भोक्ता स्वयं की इच्छा से अनुदान में प्राप्त हुई भूमि को पट्टे पर अन्य व्यक्ति को दे सकता है। ऐसा प्रतीत होता है, कि यह भूमि के उपसामंतीकरण का प्रारंभिक पुरालेखीय साक्ष्य है।

यहाँ हमें इस बात पर भी ध्यान देना होगा कि भूमिदान अथवा ग्रामदान करने के उदाहरण हमें उन दूर के क्षेत्रों में मिलतें है, जहाँ सरदार सिर्फ नाम के लिए ही गुप्त शासकों के आधीन थे, जहाँ गुप्त शासकों का प्रत्यक्ष शासन था वहाँ किसी भी सामंत द्वारा इस तरह का उदाहरण नहीं प्राप्त होता है। महाराज नंदन ने जो कि कुमारामात्य के पद पर आसीन था, छठी शताब्दी के मध्य में गया जिले

---

1. *एo इंoसंo 16 पंक्तियाँ 1-9.*
2. *वही, पंo 6-7 'उचियता ब्रह्मदेय-भुक्त्याः कृषतः कृषापथतश्चः'*

में एक गांव दान किया था।[1] प्रारंभिक समय में गुप्त शासकों का यह विशेषाधिकार था, कि वह ऐसे अनुदान करें। परंतु हमें कुछ अग्रहारिकों का उल्लेख प्राप्त होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये अग्रहारिक धार्मिक अनुदानभोगी थे, जो राजस्विक ग्रामों का उपभोग करते थे। ऐसे अग्रहारिकों का उल्लेख गुप्त अनुदान पत्र में हुआ है, जो पांचवी सदी के अंतिम वर्षो का है मुंगेर जिले में छठी शताब्दी का एक अभिलेख मिला है। जिसमें कुछ भूमि एक ब्राह्मण अग्रहारिक को दिये जाने का उल्लेख है।[2] इससे स्पष्ट होता है अग्रहारिक अनुदान रूप में प्राप्त गॉवों के निवासियों से विभिन्न करों की उगाही के लिए कुछ कर्मचारियों की नियुक्ति करता था। समुद्रगुप्त के शासन काल से सबंधित जाली अनुदान पत्रों में जो संभवतः सातवीं सदी के हैं मगध भुक्ति के ग्रहीताओं को किसी भी प्रकार के प्रशासनिक कार्यो में लिप्त नहीं देखा गया है।

गुप्त काल में सैनिक और प्रशासनिक सेवाओं के लिए अधिकारियों को भू-अनुदान दिये जाते हो, ऐसा कोई पुरालेखीय साक्ष्य नहीं प्राप्त होता है। गुप्तकालीन स्मृतिकारों ने राजस्विक अधिकारियों को भूमि-अनुदान देने की मनु की व्यवस्था[3] को ही दुहराया है।

गुप्तकाल के प्रशासनिक अधिकारियों के पदनामों तथा प्रशासनिक इकाइयों की कुछ संज्ञाओं से भी प्रकट होता है, कि शासकीय कर्मचारियों को भू-राजस्व अनुदान के रूप में वेतन दिया जाता था। भोगिक और भोगपति नाम के इन दो पदनामों से प्रतीत होता है, कि इन अधिकारियों को ये पद राजस्व के उपभोग के लिए ही दिए गये थे। और प्रजा पर राजसत्ता का प्रयोग करना उसके कल्याण के लिए कार्य करना इनका गौण दायित्व था। कभी-कभी भोगिक अमात्य भी हुआ करता था।[4] इस बात की कोई जानकारी नहीं है, कि उस अवस्था में भोगिक का पद उसके अपने दूसरे पद से सबंधित कार्यो के लिए वेतन देने के उद्देश्य से न दिया जाता हो इसके अतिरिक्त भोगिक की कम

---

1. *ए०इ०, 10,12.*
2. *ए०इ०, 13.8.3.*
3. *मनु० 7. 155-20.*
4. *का०इं०इं०, संख्या 23, पंक्तियाँ 18.20. 26, पं० 22-23.*

से कम तीन पीढ़ियों का उल्लेख कई स्थानों पर प्राप्त होता है।[1] जिससे ज्ञात होता है, कि यह पद सामान्यता वंशानुगत हुआ करता था। इस बातों से ऐसा प्रतीत होता है, कि भोगिक शक्तिशाली ओवरलार्ड (सामंतप्रभु) हो गया होगा, तथा उस पर केन्द्रीय नियंत्रण बहुत कम हो गया होगा। भोगपतिक का उल्लेख वर्धमानभुक्ति में नियुक्त लगभग दर्जन भर अधिकारियों के साथ हुआ है। यह बात पांच सौ सात ई० की है, महाराज विजयसेन महाराजधिराज गोपचन्द्र के सामंत के रूप में कार्य करता था[2] इसके विषय में यह अनुमान लगाया गया है, कि यह अधिकारी संभवतः कोई जागीरदार था।[3]

राजा जब छोटे-छोटे सरदारों को विजित कर उन्हें इस शर्त के साथ पुनः उनका राज्य वापस कर देते थे, कि पराजित राजा विजित राजा को कर देते रहेंगे और उसके प्रति अपनी निष्ठा व्यक्त करेंगे, इससे सामंतवादी सवंधो के विकास में बड़ी सहायता मिली। समुद्रगुप्त के शासन काल में इस तरह की सामंतवादी प्रवृत्ति में काफी बढ़ोत्तरी हुई।

समुद्रगुप्त द्वारा विजित नरेशों और सरदारों के लिए सामंत शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। जब कि अर्थशास्त्र और अशोक के अभिलेखों में इस शब्द का अर्थ स्वतंत्र पड़ोसी के रूप में हुआ है[4] परवर्ती मौर्य विधि ग्रन्थों में इस शब्द का प्रयोग पड़ोसी भूस्वामी के रूप में हुआ है।[5]

गुप्त और मौर्य शासकों की प्रशासन पद्धति में हमें स्पष्ट अंतर प्रतीत होता है। गुप्त शासक को यद्यपि दैवीय गुणों से विभूषित माना जाता था, फिर भी वह मौर्य शासकों के समान शक्तिशाली

---

1. *वही, 3, सं० 26, पं० 22-23*
2. *से०इं०, 3 संख्या 46, पंक्तियाँ 3-4*
3. *वही पृष्ठ 360, पा०टि० 9*
4. *अर्थशास्त्र 1.6.*
5. *याज्ञवल्क्य, (चौखम्बा संस्कृत सिरीज,वाराणसी, 1930.) पं० 152-53.*

नहीं था। मौर्य शासन काल में सेना, नौकरशाही तथा कर व्यवस्था विस्तृत व संगठित रूप में थी उतनी गुप्त शासन काल में नहीं थी। समय-समय पर जो भू-अनुदान प्राप्त होते रहते थे, उससे इस काल में उनका पद वंशानुगत तथा शक्ति सम्पन्न होता चला गया गुप्त शासकों ने प्रथम बार ग्रामीण तथा नगरीय दोनों स्तरों पर ऐसे व्यवस्थित प्रांतीय तथा स्थानीय शासन की आरंभ किया, जिसमें भूस्वामियों, सैनिकों तथा पेशेवर लोगों के प्रतिनिधियों को स्थान दिए गए इस काल में ग्राम प्रशासन को आकस्मिक रूप से बहुत अधिक सत्ता प्राप्त हुई। राज्य कर्मचारियों की संख्या में जो भारी गिरावट आ गई थी उसका यह स्वाभाविक परिणाम था। स्थानीय तत्वों ने न्याय व्यवस्था में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाहन किया. ऐसा प्रतीत होता है, कि प्रशासन का यह अंग अब पहले की अपेक्षा बहुत अधिक सुसंगठित हो चुका था।

इस काल की दो सबसे महत्वपूर्ण प्रवृत्तियों में से एक तो यह थी, कि गुप्त शासकों के मध्य भारत स्थित सामंतो ने धार्मिक ग्रहीताओं को राजस्विक तथा प्रशासनिक छूटों के समेत पूरे के पूरे गाँव अनुदान में दिए और दूसरी यह कि गुप्त शासकों ने हारे हुऐ सरदारों के साथ एक पक्षीय अनुवंधात्मक सवंधो की स्थापना की। कुल मिलाकर सामंतवाद की स्पष्ट विशेषताएं गुप्त शासन प्रणाली में दिखाई पड़ती है। वस्तुतः गुप्त शासन प्रणाली ने परवर्ती काल के उस प्रशासनिक ढांचे की नीव का निर्माण किया जो पूर्णतः सामंतवादी था।

(ख)
राज्य कर सम्बन्धी सिद्धान्त तथा राजकीय आय-व्यय

वित्त का महत्व और सिद्धान्त :-

प्राचीन भारत में आय और व्यय का विषय अत्यंत महत्वपूर्ण और बहुत कठिन है। इसका प्रमुख कारण देश का विशाल आकार, उसमें विभिन्न प्रकार की प्रचलित प्रथाएं, तथा आय प्राप्ति के भिन्न स्रोत थे। प्राचीनकाल से ही राज्य को प्रदान किये जाने वाले कर निश्चित कर दिये गये थे। जिन्हें धर्मशास्त्रों में मान्यता प्रदान की गयी थी। मौर्य काल तथा उसके परवर्ती काल में इस देश में वड़े साम्राज्यों का उदय हुआ। प्रशासन के अन्य पक्षों की तरह वित्तीय प्रशासन का बहुत विकास हुआ। 'वैदिक साहित्य से तत्कालीन राज्यों की अर्थव्यवस्था के विषय में अधिक जानकारी नहीं प्राप्त हो पाती है, इसका प्रमुख कारण साहित्य का धर्म प्रधान होना है। प्रारंभिक समय में जब राज्यों का विकास हो रहा था, राजा अधिक शक्तिशाली नहीं था, राजा स्वयं की भूमि, चारागाहों और गोधन से प्राप्त आय से अपने कर्मचारियों का पालन-पोषण करता था। देवताओं की प्रसन्नता के लिये जो भेंट अर्पित की जाती थी, उसे 'बलि' कहा जाता था। यह शब्द राजा को स्वेच्छा से प्रदान करने वाले करों के लिये भी प्रयुक्त किया जाने लगा। इस स्थिति में धीरे-2 परिवर्तन हुआ। बाद के वैदिक साहित्य के एक मंत्र में राजा को विशामत्ता कहा गया है। इस संबोधन से ऐसा प्रतीत होता है, कि लोग शासक को नियमित रूप से कर प्रदान करने लगे थे। और इसी प्राप्त कर से राजा अपने कर्मचारियों सहित शान-बान से रहता था। हापकिन्स महोदय ने विशमत्ता शब्द से भ्रमित होकर ऐसा माना है कि वैदिक काल में करों की अधिकता थी, परन्तु उनका यह कहना ठीक नहीं है। ब्राह्मण ग्रन्थों में 'अत्ता' शब्द का प्रयोग 'भोक्ता' के रूप में हुआ है; जैसे एक स्थान में पति अत्ता और पत्नी को आद्य अर्थात भोक्ता और भोक्या कहा गया है, इसका यह अर्थ नहीं है कि पत्नी पति द्वारा खायी जाती थी या पति उसका पीड़क था'।[1]

---

1. *अ०स० अल्टेकर, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृष्ठ 230-32.*

शासन मे वार्ता :-

शासन शास्त्र में राजा को सर्वप्रथम यह सिखाया जाता था, कि अर्थनीति (वार्ता) पर ही देश शासन-निर्भर रहती है। 'कृषि, पशुपालन और व्यवसाय' को ही वार्ताशास्त्र कहते हैं। कोष और दण्ड के द्वारा शासक अपने राज्य तथा शत्रुओं के राज्य में सफलता प्राप्त करता है। कामंदकीय नीतिसार के अनुसार 'वार्ता ही समाज का आश्रय है।' अतैव शासकों के लिये यह आवश्यक था, कि वह अर्थनीति पर ध्यान दें।[1] वार्ताशास्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार शासक का प्रधान कर्तव्य शासन करना था और उससे राज्याभिषेक के समय यह कहा जाता था- तुम्हें सम्पन्नता, कृषि आदि के निमित्त यह राज्य प्रदान किया जाता है।[2]

वित्त के स्रोत :-

राज्य समृध्दि और स्थायित्व उसकी आर्थिक स्थिति की सुदृढ़ता पर ही निर्भर है। इस सिद्धांत को प्राचीन भारतीय विद्वान भली-भांति समझते थे। इसीलिए राज्य के सात अंगों में कोष की भी गणना की गयी है। कोष की दुर्बलता को राष्ट्र की महान विपत्ति माना गया है।

वैदिक साहित्य के धर्मप्रधान होने के कारण तत्कालीन राज्यों की आर्थिक व्यवस्था के विषय में अधिक ज्ञान नहीं मिलता है। राज्यों के विकास की प्रारम्भिक अवस्था में राजा बहुत शक्तिशाली नहीं था, और उसे लोगों की स्वेच्छा से ही कर प्राप्त होता था। इसलिये राजा अपनी सम्पत्तियों (भूमि, चारागाहों, गोधन) से प्राप्त आय से ही अपने कर्मचारियों का पालन-पोषण करता था। ऋगवैदिक काल में देवताओं को प्रसन्न करने के लिये चढ़ायी जाने वाली भेंट का नाम बलि[3] राजा को स्वेच्छा से दिये जाने वाले करों या अन्य उपहारों के लिये भी प्रयुक्त होने लगा था। राज्य भ्रष्ट राजा के पुनः राज्य प्राप्ति के समय प्रार्थना की जाती है, कि इंद्र भगवान उसे प्रजा से 'बलि' दिलवाने में सहायता दें [4] और उसे प्रजा से प्रचुर उपहार और 'बलि' प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त हो। [5] इन प्रार्थनाओं से भी यह ध्वनि निकलती है, कि जनता अभी राजा को नियमित कर देने में अभ्यस्त नहीं हो पाई थी।

1. *परमात्माशरण, प्रा०भा०रा०वि०सं०, पृ० 510.*
2. *वर्मा रामचन्द्र, हिन्दू राजतंत्र, द्वितीय खण्ड, पृ० 342-44*
3. *ऋगवेद, 5.1.10,*
4. *ऋगवेद, 10.173.6 अथा ते इन्द्रः केवलीः प्रजा बलिहृतस्करत्।*
5. *अथर्ववेद, 3.4.3*

धीरे-2 इस स्थिति में परिवर्तन हुआ। परवर्ती वैदिक साहित्य में राज्याभिषेक के एक मंत्र में राजा 'प्रजा का खानेवाला' (विशामत्ता) [1] कहा गया है। इस संबोधन में से यही प्रकट होता है, कि लोग राजा को नियमित रूप से कर देते थे, और इसी के बल पर राजा अपने कर्मचारियों सहित ठाट-बाट से रहता था।

वैदिक काल में ब्राह्मण लोग पुरोहिती का कार्य करते थे, जिसमें अधिक लाभ प्राप्त नहीं होता था, क्षत्रिय वर्ग नये प्रदेशों को विजित करने में लगे थे और शूद्रों के पास कोई सम्पत्ति नहीं थीं अतः कर का मुख्य भाग वैश्यों पर ही पड़ता था, और बहुत से स्थलों पर उनका वर्णन करदाताओं के रूप में हुआ था।[2] इससे हमें यह भी नहीं चाहिए कि अन्य लोगों को कर नहीं देना पड़ता था, क्यों कि कई वैदिक साहित्य से कई ऐसे श्लोक मिलते हैं, जिसमें राजा सबसे कर प्राप्त करने वाला बताया गया है।[3]

शतपथ ब्राह्मण में 'दुर्बलों को बहुधा बलवानों को कर देना पड़ता है।[4] ऐसा कथन प्राप्त होता है, जिससे यह अनुमान लगता है, कि प्रारंभ में राजा की स्थिति सरदार मंडल के प्रधान के समान थी। अतः यह भी संभव है कि राजा के अतिरिक्त अन्य सरदार लोग भी अपना अलग कर वसूल करते थे।

इस समय के रत्नियों में सम्मलित 'भागधुक' और समाहर्ता संभवतः कर विभाग के ही अधिकारी थे। ऐसा प्रतीत होता है, कि भागधुक का कार्य तथा अन्य उत्पादित सामग्रियों में से राजा के भाग का अंश एकत्र करना था और समाहर्ता का कार्य कोषों एवं भंडारों में संचित रखना था।

राज्य को कृषकों एवं पशुपालकों से आय की प्राप्ति होती थी। उस समय के काल में

---

1. *ऐत0 ब्राह्मणः 7.29. विशामत्ता समजनि*
2. *ऐत0 ब्राह्मण 7.29. अन्यस्य बलिकृत, शतपथ ब्राह्मण, 11.2.6.14.*
3. *अथर्ववेद. 4.22.7 विशोऽद्धि सर्वाः।*
4. *शतपथ ब्राह्मण, 11.2.6.14*

पशुपालकों को बहुत महत्व प्राप्त था, क्योंकि समाज को पशुपालन की दशा से कृषि में प्रवेश किये अधिक समय नहीं हुआ था। ये लोग कर के रूप में पशु प्रदान करते थे।[1] राज्य को इन सबमें एक निश्चित अंश प्राप्त होता था।

प्रजा के भाग के अलावा राजा युद्ध में विजित शत्रुओं या सरदारों से कर प्राप्त करता था।[2] वैदिक काल में वाणिज्य-व्यवसाय उन्नत अवस्था में नहीं थी, इसलिये वाणिज्य और व्यापार से शासन को विशेष आय नहीं प्राप्त होती थी। खानों पर राज्य का अधिकार था या नहीं और शासन द्वारा खानों की खुदाई की जाती थी या नहीं, इसका ठीक-ठीक पता नहीं चलता।

वैदिक युग के पश्चात पूर्व मौयकाल के समय की कर व्यवस्था की जानकारी अधिक नहीं प्राप्त होती है। इस काल की कर व्यवस्था का कुछ उल्लेख हमें जातकों से प्राप्त होता है। जातकों से मात्र इतनी ही जानकारी प्राप्त होती है, कि अच्छा शासक आवश्यकतानुसार ही कर प्राप्त करता था, और एक दुष्ट शासक अनेक प्रकार के करों द्वारा प्रजा को कष्ट पहुँचाता था। प्रजा को शासक के कर संग्रहण अधिकारियों के भय से जंगल में शरण लेनी पड़ती थी।[3] परंतु इन सब बातों से कर-व्यवस्था का सही रूप क्या था? इसकी जानकारी नहीं मिलती है।

मौर्य काल में हमें कर-व्यवस्था की निश्चित जानकारी प्राप्त होती है। अर्थशास्त्र, स्मृतियों और धर्मसूत्रों से पर्याप्त सामग्री मिलती है, जिनकी छानबीन तत्कालीन ताम्र और शिलालेखादि और यूनानी वृत्तलेखकों के विवरणों से भी की जा सकती है।

प्रारम्भ में ही कर-व्यवस्था के मूल सिद्धान्त पर विचार करना उचित होगा। कर व्यवस्था के संबंध में स्मृतियों ने जो सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं, उनसे श्रेष्ठ संभवतः ही हो सकते हैं।

कर न्यायोचित प्रकार से ही लिये जाने चाहिए और उन्हें सीमित होना चाहिए। अत्यधिक कर प्राप्त करने वाले शासक से प्रजा जितनी अप्रसन्न रहती है, उतनी अन्य किसी से नहीं।[4] जिस प्रकार माली, फूल और फल तो तोड़ लेता है, परंतु वह वृक्ष को हानि नहीं पहुंचाता,[5] इसी प्रकार राजा को

---

1. *अथर्ववेद, 4.22.2 एम भज ग्रामे अश्वेषु गोषु।*
2. *ऋगवेद, 7.18.19*
3. *जातक 4. पृ0 399,5.989, पृ0 101.*
4. *महा0भा0, 12-87.79 प्रद्विषंति परिख्यातं राजानमतिस्त्रादिनम्।*
5. *पंचतंत्र, 1.243. फलार्थी नृपतिर्लोकान्पालयेद्यत्नमास्थितः। दानामानादितोयेन मालाकारोंड कुरानिव।।*

प्रजा से कर प्राप्त करना चाहिए, जिससे उसे कष्ट न पहुंचे। बकरी को काट डालने पर अधिकतम एक दिन का आहार ही प्राप्त किया जा सकता है, परंतु उसे पालने में अनेक वर्षों तक दूध प्राप्त होता रहता है।[1] जिस प्रकार जोंक, बछड़ा और भौंरा थोड़ा-थोड़ा करके अपना भोजन प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार राजा को भी प्रजा से कर प्राप्त करना चाहिए।[2]

कौटिल्य का कथन है कि जिस राजा का कोष रिक्त हो जाता है वह नगरवासियों और ग्राम वासियों को चूसने लगता है।[3] कौटिल्य का कथन है कि राज्य के सारे व्यापार कोष पर निर्भर करते हैं, अतः राजा को सर्वप्रथम कोष पर ध्यान देना चाहिये।[4] शांति पर्व में भी कोष की महत्ता दर्शायी गयी है।[5] मनु का कथन है, कि राज्य का कोष एवं शासन राजा पर निर्भर करता है, अर्थात राजा को उन पर व्यक्तिगत ध्यान देना चाहिये।[6]

इतना तो हम अवश्य ही जान गये है, कि कोष संग्रहण का प्रमुख साधन कर ग्रहण करना था। अतः धर्मशास्त्रों द्वारा उपस्थित कर ग्रहण के सिद्धान्तों की व्याख्या कर लेना उचित है। प्रथम सिद्धान्त यह था, कि स्मृतियों द्वारा निर्धारित कर के अतिरिक्त अन्य कर राजा नहीं लगा सकता था; अर्थात् राजा अपनी ओर से मनमानी नहीं कर सकता था। कर की मात्रा वस्तुओं के मूल्य एवं समय पर निर्भर थी, क्योंकि आक्रमण, दुर्भिक्ष आदि विपत्तियां भी आ सकती थीं। कुछ ग्रंथों में कहा गया है, कि राजा उपज का छटा भाग प्राप्त करने का अधिकारी है।[7] किंतु कौटिल्य, शुक्र, मनु, तथा शांति पर्व [8] में कहा गया है, कि आपत्तियों के समय राजा को भारी कर लगाने के लिये प्रजा से स्नेहपूर्ण

---

1. वही, 242 अजामिव प्रजां हन्याद्यो मोहात्पृथ्वीपतिः।
   तस्यैका जायते प्रीतिर्न द्वितीया कदाचन।।
2. मनु., 7.129, यथाल्पाल्पमदन्त्याद्यं वार्योको वत्सषट्पदाः।
   तथाल्पाल्पोग्रहीतत्यो राष्ट्राद्राज्ञाब्दिकः करः।।
3. अर्थ, 2.1
4. वही, 2.8. कोषपूर्वाः सर्वारम्भाः। तस्मात् पूर्वं कोषमवेक्षेत।
5. महा0, शांतिपर्व, 119.16
6. मनु, 7.65
7. मनु, 7.130 पञ्चाशद्भाग आदेयो राजा पशुहिरण्ययोः। धान्यानामष्टमोत्भागः
   षष्ठो द्वादश एव वा।।130.,
8. वही, 10.118, चतुर्थमादशनोऽपि क्षत्रियो भागमापदि। प्रजा रक्षन्परं शक्त्या किल्विषात्प्रतिमुच्यते।।, अर्थशास्त्र, 5.2, शांतिपर्व अध्याय, 87, शुक्र 4.2.9.10

याचना करनी चाहिए, और अनुर्वर भूमि पर भारी कर नहीं लगाना चाहिये। कौटिल्य ने यह भी कहा है, कि आपत्ति काल में एक से अधिक बार कर नहीं लगाना चाहिये।[1] शांतिपर्व में कहा गया है, कि राजा को कर लगाने से पूर्व प्रजाजनों के समक्ष भाषण देना चाहिये, जिसमें उनके हित की बात कही गयी हो।[2] जूनागढ़ के अभिलेख में भी 'प्रणय' शब्द का प्रयोग हुआ है।[3] कर ग्रहण के सिलसिले में दूसरा सिद्धांत बड़े कवित्त पूर्ण एवं आलंकारिक रूप में लखा गया है।[4] कर ग्रहण का तीसरा सिद्धांत यह है कि कर वृद्धि क्रमशः और वह भी एक समय तथा कम ही होनी चाहिये।[5] करों को उचित समय एवं उचित स्थल पर उगाहना चाहिये।[6] व्यापारियों पर कर लगाते समय किन-किन बातों का ध्यान रखना चाहिये, यह बातें भी धर्मग्रंथों में दर्शायी गयी है।[7] शिल्पियों पर कर लगाने से पूर्व उनके परिश्रम, कुशलता आदि पर ध्यान देना चाहिये।[8] राज्य की कोष वृद्धि के लिये सभी को कुछ न कुछ सहयोग अवश्य प्रदान करना चाहिये। रसोई बनाने वालों, बढ़इयों, कुम्हारों आदि को भी महीने में एक दिन की आय राज्य को कर के रूप में देनी चाहिये।[9] शुक्र, गौतम, मनु आदि ने कर लगाने के उद्देश्यों पर प्रकाश डाला है।[10] प्रजाजनों की रक्षा करने के लिये मानो कर राजा का वेतन है। राजा

---

1. *अर्थशास्त्र 5.2. कोशमकोशः प्रत्युत्पन्नार्थकृच्छ्रः संगृह्यीयात्। जनपदं महान्तमल्प प्रमाणं वा देवमातृकं प्रभूतधान्यं धान्यस्यांशं तृतीयं चतुर्थ का याचेत।........इति कर्षकेषु प्रणयः।........ इति व्यवहारिपु प्रणयः। सकृदेव न द्विः प्रयोज्यः।*
2. *महा०शांतिपर्व. 87.26.33.*
3. *एपि० इं०, जिल्द 8, पृ० 36, जिल्द 2, पृ० 15-16.*
4. *महा०उद्योग पर्व 34.17-18, मनु० 7.129-140.*
5. *महा०शांतिपर्व, 88.7-8*
6. *वही, 88.12*
7. *मनु०, 7.127 क्रयविक्रयमध्वानं भक्तं च सपरिव्ययम्। योगक्षेमं च सप्रेक्ष्य वणिजो दापयेत्कारान्।*
8. *महा० शांतिपर्व, 88.15*
9. *मनु० 7.137-38*
10. *शुक्र० 4.2.3; गौतम, 10, 28-29; मनु. 7.128, 8.306-308*

सूर्य के समान है जो समुद्र से जल सोखकर पुनः वर्षा करता है।[1] कर लेकर राजा राज्य की रक्षा करता है, आपत्तियों से बचाता है, धर्म एवं अर्थ नामक उद्देश्यों की पूर्ति करता है। कौटिल्य का कथन है कि कोष खाली हो और कोई विपत्ति सामने आ जाये, तो राजा कृषकों, व्यापारियों मद्य-विक्रेताओं, वेश्याओं, सूअर बेचने वालों, अण्डा, पशु आदि रखने वालों से विशिष्ट याचना करने के पश्चात धनिकों से यथा सामर्थ्य सोना देने का अनुरोध कर सकता है, और उन्हें दरबार में कोई ऊंचा पद, छत्र या पगड़ी या कोई उचित सम्मान देकर बदला चुका सकता है।[2] कौटिल्य ने राजा को यह छूट दी है कि वह आपातकाल में देवनिन्दकों के संघों एवं मंदिरों का धन छीन सकता है अथवा किसी रात्रि में अचानक किसी देवमूर्ति या पूत वृक्ष का चैत्य (उच्चमण्डप) स्थापित करने के लिये या अलौकिक शक्तियों वाले किसी व्यक्ति के हेतु पवित्र स्थान की स्थापना के लिये या मेला या जनसमूह के आनंदोत्सव के लिये आवश्यक धन एकत्र कर सकता है।[3] उपर्युक्त उपायों के पीछे कौटिल्य का मंतव्य इतना ही है, कि आपातकाल में उपयुक्त सहायता प्राप्त हो सके। किंतु कौटिल्य ने इस विषय में इतनी सावधानी प्रदर्शित की है कि उचित धार्मिक स्थानों की सम्पत्ति न छीनी जा सके, केवल अधार्मिक एवं राजद्रोही लोगों की सम्पत्ति के ऐसा व्यवहार किया जाय।[4] शांतिपर्व में कहा गया है, कि राजा को चाहिये कि वह अपने राज्य के धनिकों को आदर सम्मान दे, क्योंकि वे राज्य के प्रधान तत्व होते हैं, इतना ही नहीं, उनसे प्रार्थना करनी चाहिये वे उसके साथ जनता पर अनुग्रह करें।[5]

राजा को कर देने के विषय में बहुत से कारण बताये गये हैं गौतम का कहना है, कि राजा रक्षा करता है अतः उसके लिये कर देना चाहिये[6] कहीं-कहीं तो ऐसा प्रकट हुआ है कि मानों कर राजा का वेतन है। राजा मनु ने प्रजा से इसी प्रकार का समझौता किया था।[7]

---

1. *रघुवंश, 10-18*
2. *अर्थ0, 5.2*
3. *महाभाष्य, पतंजलि, जिल्द 2, पृ0 429; पाणिनी, 5.3.99*
4. *अर्थशास्त्र, 5.2. एवं दूष्येष्वधार्मिकेषु च वर्तेत। नेतरेषु।*
5. *महा0शांतिपर्व, 88.29.30, धनिनः पूजयेन्नित्यं पानाच्छादनभोजनैः। वक्तव्याश्चानुगृहत्वीध्वं प्रजाः सह मयेति वै। अंगमेतन्महद् राज्ये धनिनो नाम भारत। ककुंद सर्वभूतानां धनस्थो नात्र संशयः।।*
6. *गौतमधर्म सूत्र 10.28*
7. *महा0शांतिपर्व, 67, 70.10.*

धर्मशास्त्रों, अर्थशास्त्रों एवं शिलालेखों में भांति-भांति के करों का उल्लेख हुआ है। राजा को जो कर दिया जाता था, उकसा प्राचीनतम नाम 'बलि' है। ऋगवेद में साधारण लोगों के लिए 'बलिहृत्' (राजा के लिये बलि, शुल्क या कर लाने वाले) शब्द का प्रयोग हुआ है।[1] तैत्तरीय ब्राह्मण में कहा गया है कि लोग राजा के लिये बलि लाते हैं।[2] ऐतरेय ब्राह्मण में वैश्य को "बलिकृत" (दूसरे को कर देने वाला) कहा गया है, क्योंकि ब्राह्मण एवं क्षत्रिय लोग अधिकांश में कर-मुक्त थे।[3] मनु, मत्स्य, रामायण में 'बलि' शब्द का प्रयोग (राजा द्वारा लगाये कर के रूप में) षष्ठ भाग के लिये हुआ है।[4] अशोक के रुमिन्देई-स्तम्भ लेख में आया है कि लुम्मिनि ग्राम बलि-मुक्त कर दिया गया, किंतु उसे उपज का 1/8 भाग देना पड़ता था।[5] यहां 'बलि एवं 'भाग' में अंतर दिखाया गया है, उपहार अर्थ में बलि व्यापक शब्द है, 'कर' शब्द लगान (टैक्स) का सामान्य अर्थ प्रकट करता है।[6] 'भाग' शब्द साधारण करों के लिये प्रयुक्त हुआ है और इसका अर्थ है राजा का भूमि खण्डों, वृक्षों, औषधियों, पशुओं, द्रव्यों आदि पर भाग का हिस्सा।[7] भाग का यह अर्थ प्राचीन है। भागदुध, राजा के रत्नियों में एक रत्नी था।

---

1. *ऋगवेद, 7.6.5 स निरुध्या नहुषो यह्वो अग्निर्विशश्चक्रे बलिहृतः सहोभिः।।*
2. *तैत्तरीय ब्राह्मण, 2.7.18.3. हरन्त्य स्मं विशो बलिम्।*
3. *ऐतरेय ब्राह्मण. 35.3*
4. *मनु, 7.80 सांवत्सरिक्रमाप्तैश्च राष्ट्रदाहारयेद्बलिम्। स्याच्चाम्नायपरो लोके वर्तेत पितृवन्नृषु।। 80; मत्स्य, 215.57.; रामायण, 3.6.11.*
5. *कॉर्पस इंस्क्रिप्शनम् इण्डिकेरम् जिल्द 1, पृ० 164, लुमिनी ग्राम उबलिक (उद्बलिकः) करे अभागिये (अष्टभागिकः) च।*
6. *मनु, 128, 129, 133. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 2.10.26.10; वशिष्ठ, 19.23; विष्णु धर्मसूत्र, 3. 26.27.*
7. *मनु0, 7.130-131, 8-304; पञ्चाशम्भादाग आदेयो राजा पशुहिरण्योः। धान्यानामष्टमोन्भागः षष्ठो द्वादश एव वा।।130 आददीताथ षड्भागं द्रुमांसमधुसर्पिषाम्। गन्धौषधिरसानां च पुष्पमूलफलस्य च।।131 सर्वतो धर्म षड्भागो राज्ञो भवति रक्षतः। अधर्मादपि षड्भागो भवत्यस्य ह्यरक्षतः।304; विष्णुधर्म सूत्र, 3.25*

शुल्क शब्द का अर्थ चुंगी है, जो क्रेताओं और विक्रेताओं के द्वारा राज्य के बाहर या भीतर ले जाने या लाने वाले सामानों पर लगायी जाती थी।[1]

राज्य की आय के प्रमुख एवं सतत चलने वाले साधन तीन थे, यथा- उपज पर राजा का भाग, चुंगी एवं दण्ड से प्राप्त धन (अपराधियों एवं हारे हुए मुकदमेंबाजों से प्राप्त धन, अर्थात उन पर लगाये गये आर्थिक दण्डों से प्राप्त धन)।[2] प्रमुख करदाता थे कृषक, व्यापारी, श्रमिक एवं शिल्पकार।[3] मनु के अनुसार वह राजा जो बिना रक्षा किये बलि, कर, शुल्क, प्रतिभोग एवं दण्ड लगाता है, वह सीध
े नरक को जाता है।[4]

मनु, गौतम, विष्णु धर्मसूत्र, ग्रंथों में राजा भूमि से प्राप्त अन्न के 1/6, 1/8, या 1/12 भाग का अधिकारी माना गया है।[5] कौटिल्य ने लिखा है कि राजा को चाहिए कि व कृषकों को बीज, पशु एवं धन अग्रिम दे दे, जिसे कृषक कई सरल भागों में लौटा सकते हैं। इस प्रकार की कृपा को अनुग्रह कहा जाता है। राजा को इस प्रकार अनुग्रह एवं परिहार करना चाहिये कि कोष बढ़े न कि खाली हो जाय।[6] मनुस्मृति में यह भी कहा गया है कि राजा को चरवाहों द्वारा पालित पशुओं तथा महाजनी पर कर लेने का अधिकार था।[7] इस बात से प्रकट होता है कि प्राचीन काल में आयकर (इनकम टैक्स) लेने की प्रथा भी हल्के ढंग से विद्यमान थी।

---

1. *शुक्र, 4.2.108.*
2. *शांतिपर्व, 71.10; शुक्र 3.2.13.*
3. *मनु, 10.119.120, धान्येष्टमं विशां शुल्कं विंश कर्षापणावरम्। कर्मोप करणाः शूद्राः कारवः शिल्पिनस्तथा।।120*
4. *मनु, 8.307 योऽरक्षन्बलि मादत्ते करं शुल्कं च पार्थिवः। प्रतिभागं च दण्डे च स सद्यो नरकं ब्रजेत।।307*
5. *मनु 7.130; गौतम 10.24; विष्णु धर्मसूत्र 3.22.*
6. *अर्थशास्त्र, 2.1 धान्यपशुहिरण्यैश्चैनाननुगृह्णीयात्ता न्यनुसुखेन दधुः।*

   अनुग्रह परिहारौ चैभ्यः कोशवृद्धिकरौ दद्यात्।।
7. *मनु, 7.130.*

वित्त विभाग :-

वैदिक ग्रन्थों में भूमिकर संग्रह करने वाले अधिकारियों की हमें जानकारी नहीं प्राप्त होती है। परंतु उत्तर वैदिक काल में कर संग्रहण के लिए कुछ नियमित अधिकारियों का उल्लेख मिलता है जिन्हें 'भागधुक' व 'समाहर्ता' नाम से संबोधित किया जाता था। 'भागधुक' का अर्थ है राजा का ग्रहण करने वाला, और समाहर्ता' का अर्थ है कर लाने वाला। रत्निनों की सूची में भागधुक व समाहर्ता सम्मलित थे। ऐसा प्रतीत होती है, कि ये दोनों अधिकारी कर विभाग से सवंधित थे। उत्तर वैदिक काल में लगभग छः अधिकारियों उल्लेख प्राप्त होता है, जो राजा के लिए कर संग्रह करते थे, इसके अतरिक्त ग्रामभोजक तथा कुछ अन्य अधिकारी राजा के अन्न भंडार में रखे हुअे अन्न की नाप-तोल करते थे। आर०एस० शर्मा के अनुसार ग्रामभोजक और अन्य कर वसूल करने वालों के ठीक-ठीक कार्यो और उनके पारस्परिक सवंधों का निधरिण नहीं किया जा सकता।[1] वित्त विभाग और उसके प्रमुख अधिकारियों का विस्तारपूर्वक विवेचन-सर्वप्रथम सर्वप्रथम कौटिल्य के अर्थशास्त्र में ही उपलब्ध है। दीक्षितार ने लिखा है, कि सन्निधाता सभी प्रकार की आय का सर्वोच्चय अधिकारी था। समाहर्ता कर वसूल करने वाले अधिकारी वर्ग में प्रमुख माना जाता था। कदाचित इसी अधिकारी को वैदिक काल में संग्र हीता के नाम से जाना जाता था।[2] कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में कहा है-'सन्निधाता को चाहिए कि वह कोषगृह, कुत्यगृह, शस्त्रा गार आदि का निर्माण करवाये। कोष्ठागार का अध्यक्ष जानकारों की मदद से विभिन्न उपयोगी वस्तुओं का संग्रह करे। सोने का संग्रह सिक्कों के जानकारों को करना चाहिए। धान्याधिकारी को अच्छा अन्न लेना चाहिए। कोषाध्यक्ष को धन संग्रह करना चाहिए। उसे इतनी जानकारी होनी चाहिए कि उससे बहुत पूर्व काल की आय पूँछी जाय तो वह बिना हिचकिचाहट पूरी आय बता सके। संक्षेप में, सन्निधाता के निम्नलिखित कर्तत्य ये थे- यह देखना कि जो आय संग्रहित की जाय वह उसके कार्यालय में ठीक प्रकार से प्राप्त की जाय और उसे सुरक्षित रखा जाय। उसी पर की मती पत्थरों, अनाज के भण्डारों, वन की पैदावार, स्वर्ण तथा अन्य वस्तुओं के कोष का भार था, और उसके नियंत्रण के आधीन शस्त्रागार, न्यायालय आदि के भवन भी थे।[3] इससे स्पष्ट ज्ञात होता है, कि वह केंद्रीय सरकार का उच्च अधिकारी था।

---

1. *शर्मा आर०एस०, एसपेक्ट्स ऑफ पोलिटिकल आईडियाज एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स इन एन्शियन्ट इंडिया, (1959), पृ० 133.*
2. *दीक्षितार, बी०आर०आर०, हिन्दू एडमिनिस्ट्रेटिव इंस्टीट्यूशन्स, (1929) पृ० 201.*
3. *अर्थ० 2.5.,*

समाहर्ता को चाहिए कि वह दुर्ग, राष्ट्र, सेतु, वन तथा व्यापार आदि कार्यो का निरीक्षण करे। दुर्ग का अर्थ यहाँ पर चुंगी, अर्थदण्ड, नाप-तोल, व्यक्तियों की देख भाल, नगराध्यक्ष, लक्षणाध्यक्ष, मुद्राध्यक्ष, सुराध्यक्ष, सूनाध्यक्ष, सूत्राध्यक्ष, तेल, नमक आदि के विक्रेता, स्वर्ण के अधिकारी, मंदिरों के निरीक्षक, नर्तक आदि से लिया जाने वाला धन है। राष्ट्र का अर्थ है- सीता, भाग बलि, कर वणिक, विवीत, वर्तनी, रज्जू इत्यादि। सेतु का अर्थ है- विभिन्नरत्न, नमक, पत्थर, फल-फूल, सुपारी से होने वाली आय। ब्रज का अर्थ है- विभिन्न पशु। वन का अर्थ है- मृग आदि पशु, लकड़ी आदि द्रत्य, और हाथियों के जंगल। वणिक पथ का अर्थ है- स्थल मार्ग और जल मार्ग।[1] इस प्रकार समाहर्ता का सीधा सबंध ग्रामीण क्षेत्रों से था। वह बहुत ही व्यस्त अधिकारी होता होगा, क्यों कि वह उस नगर के प्रशासन को भी देखता था जहाँ वह रहता था और साथ ही स्थानीय क्षेत्रों के प्रशासन का उत्तरदायित्व उसी पर था। उसके कार्यो में कुछ पुलिस जैसे कार्य सम्मलित थे।

उपर्युक्त से सबंधित अक्षपटल का विभाग था। कौटिल्य का कथन है, कि अक्षपटल आय-व्यय के हिसाब का कायलिय निर्मित कराये, जिसमें गण निक्यों के लिए अनेक कमरे हों। अक्षपटल के कार्य इस प्रकार थे- प्रत्यके जनपद का उत्पादन, आय, विभिन्न स्थानों के नाम सहित क्रम से रजिस्टर में दर्ज कराना, खदानों और- कारखानों की आय-व्यय, क्लर्को की नियुक्ति, कुव्य पदार्थो के मूल्य, उनके गुण, तोल नाम आदि रजिस्टरों में दर्ज करना, राजोपजीवों पुरुषों के निवास स्थान, भोग, कर क न लेना, सभी उत्पत्ति-केंद्रों और कार्यालयों द्वारा किये गये तथा शेष आय-व्यय, कार्यकर्ताओं की उपस्थिति आदि को रजिस्टर में दर्ज कराना है।[2]

---

1. *वही, 2.6.*
2. *अर्थशास्त्र, 2.7*

मौर्य कालीन साम्राज्य में उपर्युक्त व्यवस्था प्रचलित थी। भूमि कर विभाग का प्रशासन समाहर्ता नामक अधिकारी के नियंत्रण में था। उस विभाग में तीन स्तरों के अधिकारी थे- (1) समाहर्ता (विभाग का अध्यक्ष) (2) स्थानिक (3) गोप। प्रत्येक प्रांत चार विभागों में विभाजित था और प्रत्येक विभाग एक स्थानिक के अधीन था। ऐसा प्रत्येक विभाग कई उपविभागों में विभाजित था और प्रत्येक उपविभाग एक गोप के अधीन होता था। उसमें लिखित रेकार्ड तैयार किये जाते थे। भूमि कर विभाग का मंत्री साम्राज्य के सभी भागों में रेकार्ड व हिसाब की जाँच करने के लिए प्रदेष्टारः (इन्स्पेक्टर) नियुक्त किया करता था। इस सबंध में दीक्षितार ने लिखा है- यह कहा जा सकता है, कि मौर्य शासन के वित्त विभाग में कई गुण थे। किसी भी हिसाब के विभिन्न मद रखे जाते थे। हिसाब रखने तथा जाँच के लिए प्रस्तुत करने के लिए कई प्रकार के विहित फार्म थे।[1]

व्यय के मद :-

भारत के अति प्राचीन काल में व्यय के क्या मुख्य मद थे, इस विषय में बहुत कम जानकारी प्राप्त है। वैदिक साहित्य में इस प्रकार का कोई वर्णन नहीं है। रामायण, महाभारत व स्मृतियों में भी ऐसा कोई स्पष्ट वर्णन नहीं प्राप्त होता। किंतु यह अवश्य ही कहा जा सकता है कि राज्य की आय का कुछ अंश राजपरिवार, राजमहल और उनकी रक्षा, एक बड़ा भाग राज्य के अधिकारियों, कर्मचारियों व सेना पर व्यय और प्रजा के कल्याणार्थ खर्च किया जाता होगा। प्रजा के कल्याण हेतु क्या-क्या कार्य राज्य द्वारा किये जाते थे और उन पर किस मात्रा में आय का अंश व्यय होता था, इस प्रकार की जानकारी प्राचीन ग्रन्थों से नहीं मिली। प्रजा के कल्याण में कुछ भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति तथा उनके नैतिक अथवा आध्यात्मिक विकास जैसे मंदिरों को दान देना, यज्ञ कराना आदि सम्मिलित रहे होंगे। भौतिक आवश्यकताओं में साधारण रूप से शांति तथा व्यवस्था बनाये रखना, न्याय का प्रशासन, सड़के बनवाना आदि अवश्य ही सम्मलित रहे होंगे।

---

1. *दीक्षितवार बी०आर०आर०, हिंदू एडमिनिस्ट्रेटिव इंस्टीट्यूशन्स, (1929) पृ० 205-7*

कौटिल्य के अर्थ शास्त्र से यह ज्ञात होता है, कि राज्य के क्या-क्या कार्य थे, जिनको पूरा करने में राज्य व्यय करता होगा। अर्थशास्त्र के अध्ययन से राज्य के कार्यो की यह सूची बनाई जा सकती है- बाह्य आक्रमणों और आंतरिक अव्यवस्था से राज्य की रक्षा हेतु सेना, नाविक सेना तथा अन्य प्रकार से प्रतिरक्षा, पुलिस, न्याय और न्यायालय, सफाई, चिकित्सा सहायता, सार्वजनिक उपयोग व निर्माण के कार्य- सड़के सिंचाई आदि धार्मिक कार्य और विद्या, नाप और तोल के मानक निर्धारित कर उन्हें लागू करना, जनगणना कराना, उद्योगों और कारखानों को सहायता देना, तथा विकास के अन्य कार्य। अतैव राज्य द्वारा व्यय के मुख्य मद निम्नलिखित रहे होगें, यद्यपि उनका विशिष्ट रूप से वर्णन नहीं किया गया है। राधा कुमुद मुकर्जी ने लिखा है कि मौर्यकाल में साम्राज्य का अधिकांश आर्थिक जीवन राज्य द्वारा संचालित था। विशाल क्षेत्रों में राज्य द्वारा कृषि कार्य संपादित होता था, तथा उत्पादन को संगठित तथा विस्तृत बनाने का हर संभव प्रयत्न भी राज्य द्वारा किया जाता था। कृषि कार्य में कार्यरत श्रमिकों, ग्रामों, पशु आदि के समुचित विकास पर सम्पूर्ण रूप से ध्यान रहता था। राज्य का अन्य महत्वपूर्ण कार्य सिंचाई का प्रवंध करना भी था। गोंबों में सार्व जनिक निर्माण कार्य, ग्राम अधिकारियों की नियुक्ति, प्रजा के मनोरंजन एवं ग्रामीणों के कल्याण हेतु अनेक कार्य राज्य द्वारा संपादित किए जाते थे। बंजर भूमि एवं वन्य प्रदेशों का उपयोग राज्य द्वारा किया जाता था, और उसके लिए अधिकारियों की नियुक्ति भी की जाती थी। अनेक औद्योगिक संस्थाओं पर राज्य का एकाधिकारी था। तथा अनेक उद्योगों को वह विनियमित करता था। राज मार्गो का निर्माण करवाना भी राज्य का कार्य था, तथा राज्य ही व्यापार को भी विनियमित करता था। राज्य का हर संभवप्रयत्न होता था, कि वह नगरों के निवासियों के जीवन को सम्पन्न व सुखपूर्वक बनाये। राज्य द्वारा अन्य कलाओं को भी प्रोत्साहन दिया जाता था।[1] इस विवरण से राज्य के विस्तृत कार्य क्षेत्र का पता चलता है और इस बात का भी कि राज्य द्वारा व्यय के क्या-क्या मद रहे होगें। बी० के० सरकार ने भी इस विषय में अपने विचार अभिव्यक्त किये हैं।[2] शुक्रनीति से इस प्रकार का विवरण प्राप्त होता है, कि राज्य की

---

1. *मुकर्जी आर०के०, चन्द्रगुप्त मौर्य एण्ड हिज टाइम्स, (1952), पृ० 197-98*
2. *बी०के० सरकार, द पोलिटिकल इंस्टीट्यूशन्स एण्ड थ्योरीज ऑफ द हिंदूज, (1922) पृ० 118-20*

आय का अंश कि मद पर व्यय किया जाता था। उसके अनुसार व्यय विवरण निम्न प्रकार है-[1]

	व्यय की मद		कुल व्यय का प्रतिशत
1.	सेना	1.	50
2.	दान धर्म	2.	8 1/3
3.	उच्च अधिकारी वर्ग	3.	,,
4.	शासन व्यय	4.	,,
5.	राजपरिवार पर व्यय	5.	,,
6.	स्थायी कोष	6.	6 2/3

---

1. परमात्माशरण, प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ, पृ० 523.

अध्याय-सप्तम्

निष्कर्ष

निष्कर्ष

प्राचीन भारतीय विचारकों की राजनीति के क्षेत्र में राज्य व शासन सम्बन्धी सिद्धान्त महत्वपूर्ण देन है। जहां तक 'राज्य' का सबंध है प्राचीन भारतीय विचारों ने राज्य की उत्पत्ति के विषय में आधुनिक काल के चारों मान्य सिद्धान्तों शक्ति, दैवी, अनुबंध और विकास-का उल्लेख किया है, यद्यपि उन्होंने उनमें से किसी एक को भी विस्तारपूर्वक प्रतिपादित नहीं किया। परन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि पाश्चात्य जगत में भी इन सिद्धान्तों का विकास और प्रतिपादन बहुत समय बाद हुआ। राज्य के स्वरूप के विषय में प्राचीन भारत के विचारकों ने सप्तांग राज्य का सिद्धान्त दिया। इसके साथ ही उन्होंने राज्य के विधिक अंगों की आंगिक एकता का विचार भी दिया। जबकि आजकल राज्य के चार प्रमुख तत्व अथवा अंग माने जाते हैं, प्राचीन भारतीय विचारकों ने राज्य के सात अंग बताये-स्वामी (राजा), अमात्य (मंत्री), दुर्ग (राजधानी), कोष, दण्ड, बल और सुहृद (मित्र)। राज्य के स्वरूप के विषय में दूसरी उल्लेखनीय बात यह है, कि यद्यपि प्राचीन भारत में राजनीति और धर्म का अत्यन्त निकट संबंध था, फिर भी प्राचीन भारत के राज्यों को धर्मतन्त्रात्मक नहीं कहा जा सकता। राज सत्ता का प्रयोग सम्राट व राजा करते थे न कि पुरोहित, वे तो राजा के परामर्शदाता होते थे।

जहाँ तक राज्य के ध्येय और शासन के कार्य क्षेत्र का सम्बन्ध है, निष्कर्षतः हम यह कह सकते हैं कि राज्य प्रजा की समृद्धि और सभी क्षेत्रों में कल्याण के लिए आवश्यक और उपयोगी कार्य करता था। राजनीति (दण्डनीति) को मनुष्य के सभी लौकिक ध्येयों-धर्म, अर्थ और काम-की प्राप्ति का प्रमुख साधन समझा जाता था। इसलिए राज्य जनता के लिए विभिन्न प्रकार के लोक-हितकारी कार्य करता

था। प्राचीन हिन्दू राज्यों ने अपने कार्य क्षेत्र पर किसी प्रकार की सीमाओं को नहीं माना। राजा प्रजा पालक था और प्रजा का पिता के समान पालन करता था। अतः प्राचीन भारत के राज्यों को केवल कर वसूल करने वाले तथा शांति और व्यवस्था रखने वाले पुलिस-राज्य की संज्ञा नहीं दी जा सकती।

वास्तव में राज्य का स्वरूप सकारात्मक था, नकारात्मक नहीं अर्थात् प्राचीन भारतीय राज्य को अनावश्यक व अनुपयोगी नहीं वरन् अति आवश्यक और लोकहितकारी मानते थे। यदि यह कहा जाय कि महाभारत, स्मृतियों तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र में वर्णित राज्य आज के कल्याणकारी राज्य से कम न थे, तो अनुचित नहीं होगा।

राज्य के कार्यो के सम्बन्ध में कहा गया है कि 'जो प्राप्त नहीं है उसकी राजा इच्छा करे (विजय), जो प्राप्त है उसकी प्रयत्न पूर्वक रक्षा करे (संरक्षण), जो है उसकी वृद्धि करे (आर्थिक जीवन की उन्नति के कार्य) और जो बढ़ा हुआ है, उसे योग्य पात्रों में वितरण करे (प्रजापालन के कार्य)। इस कथन में राज्य के प्रायः सभी कार्य आ जाते हैं। संक्षेप में यह कहा जा सकता है, कि समाज की आध्यात्मिक और भौतिक उन्नति में सहायता देना व ऐसी उन्नति ठीक प्रकार से हो, इसकी चिंता करना तथा इसके लिए प्रयत्न करना राज्य का कार्यक्षेत्र बताया गया है। राज्य के इन कार्यो में वे सब कार्य सम्मिलित है, जिन्हें वर्तमान काल में राज्य का अनिवार्य कार्य बताया जाता है। परन्तु इनमें वर्तमान काल में बहुत से वैकल्पिक (ऐच्छिक) कहे जाने वाले कार्य भी सम्मिलित हैं। प्राचीन भारत के विचारकों ने राज्यों के कार्यो के विषय में इस प्रकार का भेद नहीं माना। यद्यपि प्राचीन भारत में राज्य का कार्य क्षेत्र बहुत व्यापक था, किन्तु राज्य बहुत से महत्वपूर्ण कार्य नहीं करता था। सामाजिक व्यवस्था सम्बन्धी नियम (कानून) बनाने का अधिकार राज्य को प्राप्त नहीं था, क्योंकि सामाजिक व्यवस्था पूर्व-निर्मित थी।

राज्य के उपर्युक्त कार्यो के आधार पर व्यक्ति और राज्य का भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के अंतर्गत क्या सम्बन्ध था, यह समझा जा सकता है। व्यक्ति को अपना आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने की पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त थी। उसमें राज्य का कोई हस्तक्षेप नहीं था। इसी प्रकार व्यक्ति को अपना निर्धारित व्यवसाय करने की पूरी स्वतन्त्रता थी, जब तक वह कोई समाज-विरोधी कार्य न करता था। व्यक्ति को संगठन (संघ) निर्माण करने की भी स्वतन्त्रता प्राप्त थी, श्रेणी, पूग, गण व संघ आदि समुदायों का उल्लेख स्थान-स्थान पर आता है। शिक्षा के ऊपर भी राज्य का कोई नियंत्रण नहीं था, अर्थात् व्यक्ति के विचार, मत रखने व उसे व्यक्त की स्वतन्त्रता थी। करों की संख्या व मात्रा भी निश्चित थी। अतः प्राचीन भारत में सब प्रकार से ध्यान रखा गया था कि व्यक्ति विभिन्न प्रकार की उचित और आवश्यक स्वतन्त्रताओं का उपयोग कर सकता था।

यद्यपि प्राचीन भारत के राजनीतिक विचाराकों ने शासन के विभिन्न रूपों का कम या अधिक वर्णन एवं विवेचन किया है, फिर भी यह कहा जा सकता है कि प्राचीन भारत में नृपतंत्र सबसे अधिक काल तक प्रचलित रूप में रहा, उत्तर-वैदिक काल में उत्तरी भारत में अनेक गणराज्यों का उदय और विकास भी हुआ। वैदिक-कालीन राजतंत्र की एक विशेषता तो सभा और समिति जैसी जनप्रिय संस्थाओं का शासन में महत्व था दूसरे, प्राचीन राजा व सम्राट, किसी प्रकार की सांविधानिक सीमाओं से न बंधे रहकर भी धर्म के आधीन थे। वे वैदिक काल में जनप्रिय संस्थाओं से सहायता व परामर्श पाते थे। बाद में इन संस्थाओं का स्थान मंत्रि-परिषद ने ले लिया। आधुनिक दृष्टि से प्राचीन भारत में राजा निरंकुश थे, परन्तु व्यवहार में वे धर्म का पालन करते थे, उन्हें नरक का भय रहता था और वे प्रजा की इच्छाओं अथवा जनमत का भी आदर करते थे।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचना के आधार पर हम यह कह सकते हैं, कि सप्तांग राज्य सिद्धान्त की स्थापना में प्राचीन भारतीय विचारकों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। राज्य की उत्पत्ति संबंधी सिद्धान्तों में, प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में वर्णित अनुबंध (समझौता) सिद्धान्त पाश्चात्य दृष्टिकोंण से बड़ा आकर्षक दिखाई पड़ता है। इस सिद्धान्त का विकास क्रम हजार वर्षो से अधिक काल तक चलता रहा। इस दौरान यह अनेक अवस्थाओं से गुजरा और हर अवस्था के साथ अनुबंधित दोनों पक्षों के दायित्वों का विस्तार होता गया, किन्तु इसमें संदेह नहीं कि विशेष रूप से शासितों को ही विभिन्न कर देने के दायित्वों की वृद्धि हुई। प्राचीन भारतीय अनुबंध-सिद्धान्त से राजा की शक्ति और अधिकारों पर जोर दिया गया। भारतीय राजनीतिक विचारों के अनुसार परिवार, सम्पत्ति तथा वर्ण व्यवस्था की रक्षा के विचार ने राज्य की उत्पत्ति में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाहन किया।

'ऋगवेद' में राज्य के विषय में सैद्धान्तिक विवेचन नहीं है। उत्तरवैदिक ग्रन्थों में कुछ क्षत्रियों राजाओं ने आत्मा-परमात्मा के संबंधों के स्वरूप पर चिंतन प्रस्तुत किया है। परन्तु उनका राजनीतिक विचारों के क्षेत्र में कोई योगदान नहीं है। वैदिक काल का पूर्व भाग, ऐसी सामुदायिक संस्थाओं का काल था, जिन्हें आधुनिक अर्थ में राजनीतिक नहीं माना जा सकता। गण, विदथ, सभा, समिति और परिषद जैसी संस्थाओं का स्वरूप मुख्यतः जनजातीय था। इनमें विदथ भारतीय आर्यो के मध्य सर्वाधिक प्राचीन संस्था प्रतीत होती है, जिसमें प्राक्-ऋग्वैदिक काल की स्मृतियां भी शेष दिखाई देती हैं। इसमें महिलाओं की उपस्थिति इस प्रचलित विचारधारा को खंडित करती है, कि आर्यो का समाज प्रारम्भ से पितृतंत्रात्मक था। किन्तु परिषद में महिलाओं की सदस्यता संभवतः आर्य पूर्व विशेषता थी। वैदिक गणों में यह बात स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर नहीं है, यद्यपि महाभारत और पुराणों के कुछ उल्लेखों से ऐसा

प्रतीत होता है, कि इसमें महिलाएं संबद्ध थी। गण विदथ के समान प्राचीन संस्था नहीं थी, परन्तु विदथ की ही तरह गण में युद्ध में लूटी गई वस्तुओं और अन्य प्रकार की सम्पत्ति पर सम्पूर्ण समुदाय का हक माना जाता था और गण के सदस्य ऐसी सम्पत्ति का बटवारा आपस में कर लेते थे। गण का महत्व इस बात में निहित है इसने बुद्धकाल में यत्र-तत्र राजतांत्रिक शासन व्यवस्था को समाप्त करके अपना वर्चस्व स्थापित करने वोल अल्पतांत्रिक राज्यों के समक्ष गणतांत्रिक शासन पद्धति का आदर्श प्रस्तुत किया। इन वैदिक सभाओं के अन्य कार्यो में से, जिनमें कि उनका आदिम सामुदायिक स्वरूप प्रकट होता है, शुद्ध राजनीतिक कार्यो को अलग करना अत्यन्त दुष्कर है। सभा और समिति में राजनीतिक कार्यो का अधिक निखार है, यद्यपि इन संस्थाओं को किसी काल और क्षेत्र विशेष से जोड़ना कठिन है। वैदिक सभाएं मुख्यतः स्थानीय संस्थाएं थीं, जिनमें स्थानीय समस्याओं का निर्णय होता था। इन्हें सभी वैदिक लोगों को अपने में समाविष्ट कर लेने वाली किसी राष्ट्रीय सभा के रूप में देखना दूर की कौड़ी जोड़ने जैसा होगा।

पूर्व वैदिक सभाओं से अत्यंत प्रारम्भिक और अपरिष्कृत प्रशासनिक संगठन का संकेत मिलता है। परन्तु उत्तरवैदिक काल के रत्नहवींषि संस्कार से काफी विकसित प्रशासनिक तंत्र का आभास होता है। इसकी सबसे महत्वपूर्ण विशेषता करों का संग्रह करनें वाले अधिकारी की नियुक्ति है। उस समय की जनजातीय अवस्था में ये कर शायद स्वैच्छिक रहे होंगे। ब्राह्मण और राजा का महत्व बढ़ने से जनजातीय अवस्था को और भी आघात पहुँचा। इन्हें रत्नियों सूची में उच्चतर स्थान दिया गया है। किन्तु चूंकि रत्नियों के समूह का स्वरूप मुख्यतः सैनिक था और वह प्रारम्भिक भारोपीय समुदायों में प्रचलित बारह सदस्यीय परिषद से मेल खाता था, इसलिए माना जाएगा कि उसमें आदिम समाज की

कुछ विशेषताएं कायम रही। गोहरण, अक्षक्रीड़ा, रथदौड़ आदि कर्मकांड उत्तर वैदिक राज्य व्यवस्था में उपस्थित जनजातीय विशेषताओं को प्रतिबिंबित करते है। विभिन्न अभिषेक समारोह मूलतः या तो जनजाति के सरदार पद के प्रत्याशी व्यक्ति की योग्यता को परखने के अलग-अलग तरीके थे या याजक के जीवन की एक नवीन अवस्था का संकेत देने वाले दीक्षा संस्कार थे। परन्तु अब इनके सारे तत्व नष्ट हो गए थे, और मात्र इनका रूप ही शेष रह गया था। व्यवहारतः उत्तरवैदिक राज्य व्यवस्था ने काफी हद तक प्रादेशिक और वर्ग प्रधान रूप ले लिया था।

वैदिकोत्तर काल में छठी सदी ई०पू० के आसपास से जनजातीय तत्वों पर वर्ण या सामाजिक वर्ण व्यवस्था हावी होने लगी और यह कानून तथा राजनीति के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण शक्ति के रूप में सामने आई। राजा, मंत्री या उच्चाधिकारी, परिषद, पौर, जानपद, सेना आदि राज्य के विभिन्न अंग स्पष्ट ही वर्ण-भावना से प्रभावित होने लगे। धर्मशास्त्र विधियों के उद्भव तथा विकास को भी वर्णव्यवस्था ने काफी प्रभावित किया और दीवानी तथा फौजदारी कानूनों में वर्णभेद का पूरा ध्यान रखा गया है। दोनों उच्चतर वर्णो के बीच सहयोग तथा एकता की आवश्यकता पर जोर दिया गया है, यद्यपि वास्तविक राजनीति में कभी क्षत्रियों की प्रमुखता रही तो कभी ब्राह्मणों की प्रधानता। सामाजिक वर्ग के रूप में वैश्यों या शूद्रों को राजनीति में कभी प्रमुख स्थान प्राप्त नहीं हुआ।

प्राचीन भारतीय राज्य व्यवस्था के इतिहास की प्रमुख अवस्थाओं को पहचाना जा सकता है। प्रथम अवस्था जनजातीय सैनिक प्रजातंत्र की अवस्था थी, जिसमें जनजातीय सभाएं प्रमुख रूप से युद्ध कर्मो में व्यस्त रहती थी। इन सभाओं में महिलाओं को भी स्थान प्राप्त था। 'ऋग्वेद का काल प्रधानतः सभाओं का काल था।

दूसरी अवस्था वर्ण नामक समाज व्यवस्था के उदय के फलस्वरूप जनजातीय राज्य व्यवस्था के विघटन का काल है। इसमें किसी समय की यायावर जनजातियों ने निश्चित भूभाग में रहना शुरु किया, जिससे राजतंत्र, कर प्रणाली और अधिकारी तंत्र विकसित हुए।

तीसरी अवस्था में कोशल और मगध के विशाल प्रादेशिक राजतंत्रों तथा पश्चिमोत्तर भारत और हिमालय की तलहटी में जनजातीय अल्पतंत्रों का उदय हुआ। इस काल में हमें पहली बार विशाल स्थायी सेना और भू-राजस्व की पहली वसूली करने वाला सुसंगठित तंत्र दृष्टिगोचर होता है। लेकिन अभी शासक तथा प्रजा के मध्य आने वाला मध्यवर्ती भू-स्वामी वर्ग बहुत छोटा था, और उसे प्रशासनिक छूट भी नहीं मिली थी।

चौथी अवस्था मौर्यकाल में आती है। यह राज्य की बढ़ती हुई आर्थिक प्रवृत्तियों पर आधारित केन्द्रीकृत शासन का युग था, और इस केन्द्रीकरण को संभव बनाया था एक विशाल और चुस्त नौकरशाही ने। राजा को प्रायः सर्वसत्तासंपन्न मानने के सिद्धान्त के आधार पर जीवन के सभी क्षेत्रों पर राज्य के नियंत्रण का औचित्य ठहराया गया। इस काल में बड़ी कुशलता से धर्म का उपयोग राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया गया। कोटिल्य ब्राह्मण समाज व्यवस्था का समर्थन करते हैं और उस व्यवस्था से अलग खड़े होने वाले संप्रदायों का विरोध करते है। इसलिए उनके द्वारा अनुशंसित राजनीति को धर्म निरपेक्ष नहीं कहा जा सकता। परन्तु जहां कहीं वियेच्छु राजा से

ब्राह्मणवादी विचारों का विरोध होता है। वहां उनकी अवहेलना करने में कौटिल्य कोई संकोच नहीं करते। हम कौटिल्य को बड़े साहस के साथ विचारपूर्वक प्रजा के अंधविश्वासों का उपयोग उसे राज्य के प्रति निष्ठावान बनाने के लिए करते देखते है। परन्तु राजा को वास्तव में दैवीय रूप प्रदान करने का कोई प्रयत्न उनके ग्रन्थ में दिखाई नहीं देता।

पाँचवी अवस्था की विशेषता विकेन्द्रित प्रशासन की स्थापना की क्रमिक प्रक्रिया है। इस काल में उत्तर भारत में नगरों, सामंतों तथा सैनिक तत्वों का जोर खूब बढ़ा। विकेन्द्रीकरण की यह प्रवृत्ति राजा के देवत्व पर जोर दिए जाने से किसी हद तक प्रतिसंतुलित हुई। कुषाण-राजाओं ने विधिवत देवपुत्र की उपाधि धारण की और मृत राजा की पूजा का चलन प्रारम्भ किया। सातवाहन राजाओं की तुलना महाकाव्यों में वर्णित उन वीर चरितों से की गई है, जो देवताओं के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे।

अंतिम अवस्था, अर्थात गुप्त शासन काल को आद्य-सामंती राजव्यवस्था कहा जा सकता है। अब भूमि अनुदान प्राप्तकर्ता-राजनीतिक ढ़ाँचे की रचना में एक महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाहन कर रहे थे। गुप्तों के सामंतों द्वारा दिए गए भूमि-अनुदानों में पुरोहित वर्ग के अनुदान भोगियों को राजस्विक तथा प्रशासनिक अधिकारी भी प्रदान किए गए। गैर सैनिक अधिकारियों को राज्य की सेवा के प्रतिदान स्वरूप भूमि अनुदान देना था, परन्तु भारत में गुप्तकाल तथा गुप्तोत्तरकाल में ऐसे अनुदान का कोई उदाहरण नहीं मिलता।

इसके विपरीत, ईस्वी सन् की पहली सदी में प्रशासन के विकेन्द्रीकरण को किस चीज ने बढ़ावा दिया वह थी वर्ण, पेशों पर आधारित संघों तथा गांवों के प्रधानों और महत्तरों की शक्ति।

प्रस्तुत शोध से यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारत में राज्य व्यवस्था तथा राजनीतिक विचारों को जो भी स्वरूप मिला वह किसी एक तत्व के कारण नहीं था। वैदिक काल में जनजातीय व्यवस्था एक महत्वपूर्ण तत्व जान पड़ती है, परन्तु वैदिकोत्तर काल में मुख्य प्रेरणा सामाजिक वर्गो तथा क्षेत्रीय राज्यों की रही। मौर्यो ने जिस प्रशासनतंत्र की रचना की वह राज्य की आर्थिक प्रवृत्तियों तथा एक विशाल साम्राज्य की आवश्यकताओं से उद्भूत हुआ था। यदि राज्य व्यवस्था पर व्यापार का प्रभाव मौर्योत्तर काल में पड़ा तो भूमि अनुदानों ने गुप्तकालीन संगठन को प्रभावित किया। मौर्योत्तर राज्य व्यवस्था में कुछ विदेशी तत्व भी प्रकट हुए, परन्तु कुल मिलाकर विकास क्रम का रूप विशुद्ध भारतीय था। धर्म का प्रभाव तो पूरे विवेच्य में दिखाई देता है, लेकिन धार्मिक ग्रन्थों से भी जिन विचारों और संस्थाओं की जानकारी मिलती है वे वदलती हुई सामाजिक तथा आर्थिक पृष्ठभूमि को प्रतिविम्बित करते हैं।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

संदर्भ ग्रन्थ सूची-(मूल ग्रन्थ)

अर्थशास्त्र, कौटिल्य - अनु० शामशास्त्री, आर०, मैसूर, 1960

- गैरोला वाचस्पति, वाराणसी, 1984, 1991

अष्टाध्यायी, पाणिनी - ऐडी०, जी०जनासु, बी०, अमृतसर, 1957.

- इंग्लि० ट्रान्स० बसु, एस०सी०, 7 पार्टस०, इलाहाबाद, 1891-98

अथर्ववेद - अनु० ग्रीफफिथ, टी०एच०, वाराणसी, 1916-17

अशोक इन्स्क्रिप्शन्स - बसाक, आर०जी०, कलकत्ता, 1959.

अवदानशतकम् - ऐडी० वैद्य, पी०एल०, दरभंगा, 1955.

अभिज्ञान शाकंतलम - सम्पा० शारदा रंजन रे, कलकत्ता, 1908.

आपस्तम्ब श्रौत सूत्र - अनु० कालैन्ड, डब्लू०, एम्स्टर्डम, 1921-28

आपस्तम्ब धर्म सूत्र - ऐडी० बाम वहुलर, जी० बम्बई, 1932.

एतरेय ब्राह्मण - ऐडी० पानसीकार, बी०एल०एस०, बम्बई, 1934.

- ऐडी० पानसीकार, वी०एल०एस०, बम्बई, 1934.

- एडी० अनंत कृष्ण शास्त्री, आर०एण्ड नारायण पिल्लई, पी०के०, 2 वाल्यु०, त्रावणकोर, 1942, 1952.

छांदोग्य उपनिषद - ट्रां० सेनार्ट ई०, पेरिस, 1930.

बोधायन धर्म सूत्र - ऐडी० ई० 1984

बोधायन ग्रह सूत्र - एडी० शामशस्त्री, आर०, मैसूर, 1927.

ब्रह्माण्ड पुराण - वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, 1913.

वृहदाण्यक उपनिषद - अनु० माधवानंद, स्वामी, अल्मोड़ा, 1950.

वृहस्पति स्मृति - ऐडी० रंगास्वामी, आयंगर, के०बी०, बड़ौदा, 1941

छांदोग्य उपनिषद - अनु० सेनार्ट ई०, पेरिस, 1930.

कापर्स इन्स्क्रिप्शन इण्डिकेरम वाल्यू० 1 - हल्टसेज ई०, वाराणसी, 1969.

कार्पस इन्स्क्रिप्शन इण्डिकेरम, वाल्यु0, 3 – फ्लीट जे0एफ0, वाराणसी, 1963.

दिव्यावदान – ऐडी0 कोवेल, ई0बी0 एण्ड नील, आर0ए0, कैंब्रिज, 1886.

दशकुमार चरित (दण्डी) – सम्पा0काले0 बम्बई, 1917

गौतम धर्मसूत्र – अनंदश्रमा, पूना, 1910.

ग्रह सूत्र – अनु0. ओल्डेन वर्ग, एच0 एण्ड मैक्समूलर, एफ0, एस0बी0ई0, **XXIX, XXX,** दिल्ली, 1988.

जातक – फुसवाल, जे0, 6 वाल्यु0 लंदन, 1877-97

कामंदकीय नीतिसार – अनु0 मिश्रा जे0पी0 बम्बई, 1826.

ल्यूडर्स लिस्ट आफ इंस्क्रिप्शन्स – इपि इं0, 10.

महाभारत (व्यास) – वी0ओ0आर0आई0, ऐडी0, पूना.

मैत्रायणी संहिता – ऐडी0 बाइ स्रोइडर, **LOV0,** लीपजिंग, 1923.

मनु – ट्रां. बाय बुहलर, जी0,एस0बी0ई0, 25, दिल्ली, 1988

मालविकाग्निमित्रं – पं गणेशदत्त पाठक, कैलाशनाथ बुक्सेलर, राजा दरवाजा, वाराणसी-1.

– सम्पा0-एस0 कृष्णराव, मद्रास, 1930.

मृच्छकटिक – सम्पा0-आर0डी0 करमारकर, द्वितीय संस्क0 1950.

नारद स्मृति – सम्पा0- यौली, कलकत्ता, 1885.

पंचविंश ब्राह्मण – ट्रां0 कालैन्ड डब्लू, कलकत्ता, 1937.

रामायण (वाल्मीकि) – प्रका0 गोविंद भवन कार्यालय-गीता प्रेस, गोरखपुर

– ऐडी0 शास्त्री श्रीनिवास, 7 पार्टस; बम्बई

रघुवंश – सम्पा0 शंकर पण्डित, प्रकाशक-गवर्नमेन्ट सेंट्रल बुक डिपो, 1897.

शतपथ ब्राह्मण – ट्रां एगिलिंग, जे0एस0ई0, **XII, XXVI. XXXXI, XXXXIII-XXXXIV, LIII,** दिल्ली, 1988.

सिलेक्ट इंस्क्रिप्शन्स (बियरिंग आन इंडियन हिस्ट्री एण्ड सिवलाईजेशन, 1) – सरकार डी0सी0, कलकत्ता, 1965, 1942.

शुक्रनीतिसार – वेंकटश्वर प्रेस, बम्बई, 1934., प्रकाशक दि पाणिनी आफिस, भुवनेश्वरी आश्रम, बहादुरगंज, प्रयाग 19914

तैत्तरेय ब्राह्मण – आनंदश्रम ऐडी0, पूना 1938.

याज्ञवल्क्य स्मृति – ऐडी0 गणपति शास्त्री, टी0, त्रिवेंद्रम, ऐडी0 हिस्ट्री एन0एस0, वारायणी, 1930., सम्पा0 नारायण शास्त्री, चौखंबा संस्कृत सीरीज, बनारस

सहायक ग्रन्थ (हिंदी)

ओझा श्री कृष्ण – प्राचीन भारत, रिसर्च पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली.

उपाध्याय वासुदेव – प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, मोतीलाल बनारसी दास, 1961

काणे पी0वी0 – धर्मशास्त्र का इतिहास, (अर्जुन चौबे काश्यप) भाग 1-3 लखनऊ 1972-73.

गुप्त परमेश्वरी लाल – गुप्त साम्राज्य, विश्वविद्यालय प्रकाशन, द्वितीय संस्क0 1991 वाराणसी

पाठक वी0एन0 – उत्तर भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ, मीनाक्षी प्रकाशन, बेगम ब्रिज, मेरठ।

विद्यालंकार सत्यकेतु – प्राचीन भारत सरस्वती सदन, नई दिल्ली, पाँचवा संस्क0, 1991.

भट्ट जे0 – अशोक के धर्मलेख, दिल्ली, 1957.

मजूमदार पी0के0 – भारत के प्राचीन अभिलेख रिसर्च, दिल्ली, वाराणसी.

महाजन वी0डी0 – प्राचीन भारत का इतिहास, एस0 चन्द एण्ड कं0, दिल्ली, 1993.

राय उदय नारायण – गुप्त सम्राट और उनका काल, लोक भारती प्रकाशन, तृतीय संस्क0, 1982.

सहायक ग्रन्थ (अंग्रेजी)

अल्टेकर अनंत सदाशिव – स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एन्शियन्ट इंडिया, वाराणसी, 1957.

एलन जे० – कैटलाग आफ द क्वाइन्स आफ एन्शियन्ट इंडिया, लंदन 1936.

काणे पी०वी० – हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, वाल्यु० 1-4, पूना, 1929-53

गोल्डेन वाइजर,ए०, – एन्थ्रोलजी, न्यूयार्क, 1946.

जायसवाल के०पी० – हिंदू पोलिटी, बंगलौर, 1955.

त्रिपाठी आर०एस० – हिस्ट्री आफ एन्शियन्ट इंडिया,, दिल्ली, 1981.

दास, ए०सी० – ऋगवैदिक कल्चर, आर० कैम्ब्रे एण्ड कं०, 1925.

बंदोपाध्याय एन०सी० – डिवलपमेंट आफ हिंदू पोलिटी एण्ड पोलिटिकल थ्योरीज, 2 वाल्यु०, कलकत्ता, 1927-38.

बेनी प्रसाद – द थ्योरी आफ गवर्नमेन्ट इन एन्शियन्ट इंडिया, इलाहाबाद, 1927

बील सैमुएल – ट्रैवेल्स आफ फाहियान ऐडं सुंड० युन' (अनु०) लंदन, 1869

भण्डारकर डी०आर० – अशोक, कलकत्ता, 1955.

मैकडोनल, ए०ए० एण्ड – वैदिक इण्डेक्स आफ नेम्स एण्ड सब्जेक्ट्स, 2 वाल्यु०, लंदन 1912.

मजूमदार आर०सी० – कोर्पोरेट लाइफ इन एन्शियन्ट इंडिया, पूना, 1922.

मजूमदार आर०सी० (ऐडी०) – द वैदिक एज, बम्बई 1965.

– द एज आफ इम्पीरियल यूनिटी, बम्बई, 1960.

– द क्लासिक एज, बम्बई, 1962.

मजूमदार आर०सी० एण्ड अल्टेकर अं०स० – द वकाटक गुप्त एज, बनारस 1954, दिल्ली 1960

मौक्रिंडल, जे०डब्लू० – द इन्वेशन आफ इंडिया बाय एलेक्जेंडर द ग्रेट, वेस्टमिन्स्टर, 1892

मुकर्जी राधा कुमुद — द गुप्त इम्पायर, वम्बई, 1948

— अशोक, दिल्ली, 1955

— चन्द्रगुप्त मौर्य एण्ड हिज टाइम्स, दिल्ली, 1952.

— हिंदू सिविलाईजेशन, (2 पाट०पेपर बैक) वम्बई, 1963-64.

रेप्सन ई०जे० — द कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ एन्शियन्ट इंडिया, कलकत्ता, 1953, 1972.

रीज डेविड्स.1 — डायलाग्स आफ द बुद्ध, उपार्ट; ओक्सफोर्ड, 1899-1921.

रीज डेविड्स.टी०डब्लू० — बुद्धिस्ट इंडिया, कलकत्ता, 1957.

लेग्गे — फाहियान, आक्सफोर्ड, 1886,

लेग जेम्स — एरेकार्ड आफ बुद्धिष्ट किंगडम्स, (अनू०), आक्सफोर्ड, 1886

लॉ बी०सी० — इंडिया एड डिसक्राइव्ड इन अर्ली टेक्ट्स आफ बुद्धिस्म एण्ड जैनिस्म, लंदन, 1941

व्हाइट हेड, आर०बी० — कैटलाग आफ क्वाइन्स इन द पंजाब म्यूजियम, वाल्यु० 1,

शर्मा आर०एस०, — इंडियन फ्यूडेलिज्म, कलकत्ता विश्वविद्यालय, 1965

— एसपेक्ट्स आफ पोलिटिकल आईडियाज एण्ड इन्स्टीट्शन्स इन एन्शियन्ट इंडिया, दिल्ली, 1977

शास्त्री के०ए०एन० — एज आफ द नंराज एण्ड मौर्याज, दिल्ली 1967.

सरकार डी०सी० — पोलिटीकल एण्ड एडमिनिस्ट्रेटिव सिस्टम आफ एन्शियन्ट एण्ड मेडिवल इंडिया, दिल्ली, 1974.

— द लेन्डलोर्डिज्म एण्ड टेनेन्सी इन एन्शियन्ट एण्ड मेडिवल इंडिया, लखनऊ 1969.

— सिलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स, कलकत्ता, 1942.

स्मिथ, वी०ए० — द अर्ली हिस्ट्री आफ इंडिया, आक्सफोर्ड, 1924.

हो चांग चुन — फाहियान्स पिलग्रीमेज टु बुद्धिस्ट कंट्रीज, चाइनीज लिटरेचर सं0 3, 1956.